तर्क-संग्रह

[दीपिका]

लेखक
आचार्य आनंद झा



उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी
लखनऊ

उ० प्र० हिं० ग्रं० अ० प्रकाशन-172

तर्क-संग्रह

[दीपिका]



लेखक

आचार्य आनंद झा



उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ

प्रकाशक :
ब्रह्मदत्त दीक्षित
उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी
लखनऊ

●

शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय,
भारत सरकार की विश्वविद्यालयस्तरीय
ग्रंथ योजना के अन्तर्गत प्रकाशित ।

●

पुनरीक्षक
को. अ. सुब्रह्मण्य अय्यर

प्रतियां : 1100

पहली बार 1976
मूल्य : 12·50

●

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस,
भेलूपुर, वा[illegible]सी-1

प्रस्तावना

शिक्षा आयोग (1964-66) की संस्तुतियों के आधार पर भारत सरकार ने 1968 में शिक्षा संबंधी अपनी राष्ट्रीय नीति घोषित की और 18 जनवरी 1968 को संसद् के दोनों सदनों द्वारा इस संबंध में एक संकल्प पारित किया गया। उस संकल्प के अनुपालन में भारत सरकार के शिक्षा एवं युवक सेवा मंत्रालय ने भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षण की व्यवस्था करने के लिए विश्वविद्यालयस्तरीय पाठ्य पुस्तकों के निर्माण का एक व्यवस्थित कार्यक्रम निश्चित किया। उस कार्यक्रम के अंतर्गत भारत सरकार की शत प्रतिशत सहायता से प्रत्येक राज्य में एक ग्रंथ अकादमी की स्थापना की गयी। इस राज्य में भी विश्वविद्यालयस्तर की प्रामाणिक पाठ्य पुस्तकें तैयार करने के लिए हिंदी ग्रंथ अकादमी की स्थापना 7 जनवरी, 1970 को की गयी।

प्रामाणिक ग्रंथ निर्माण की योजना के अंतर्गत यह अकादमी विश्वविद्यालय-स्तरीय विदेशी भाषाओं की पाठ्य पुस्तकों को हिंदी में अनूदित करा रही है और अनेक विषयों में मौलिक पुस्तकों को भी रचना करा रही है। प्रकाशन ग्रंथों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है।

उपर्युक्त योजना के अंतर्गत वे पांडुलिपियाँ भी अकादमी द्वारा मुद्रित करायी जा रही हैं जो भारत सरकार की मानक ग्रंथ योजना के अंतर्गत इस राज्य में स्थापित विभिन्न अभिकरणों द्वारा तैयार की गयी थीं।

प्रस्तुत ग्रंथ विद्वद्वर में आचार्य आनंद झा ने दीपिका सहित तर्कसंग्रह का अपने ही विवरण सहित अनुवाद किया है। मूल और व्याख्या का अनुवाद और विवरण दोनों ही विद्वत्तापूर्ण हैं। पुस्तक की पाण्डुलिपि का पुनरीक्षण प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० एस० अय्यर ने किया है। इस बहुमूल्य सहयोग के लिए हिंदी ग्रंथ अकादमी इन महानुभावों के प्रति आभारी है।

मुझे आशा है कि यह पुस्तक विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी और इस विषय के विद्यार्थियों तथा शिक्षकों द्वारा इसका स्वागत अखिल भारतीय स्तर पर किया जायगा। उच्चस्तरीय अध्ययन के लिए हिंदी में मानक ग्रंथों के अभाव की बात कही जाती रही है। आशा है कि इस योजना से इस अभाव की पूर्ति होगी और शिक्षा का माध्यम हिंदी में परिवर्तित हो सकेगा।

हजारीप्रसाद द्विवेदी
अध्यक्ष,
शासी मंडल
उ० प्र० हिंदी ग्रंथ अकादमी

भूमिका

अन्नंभट्ट विरचित 'तर्कसंग्रह' तर्कशास्त्र का सबसे उत्तम प्रारम्भिक ग्रंथ समझा जाता है। उसके ग्रंथकार की स्वयंलिखित 'दीपिका' नामक व्याख्या 'बालगादाधरी' कही जाती है। यही उसकी प्रामाणिकता का सबसे अच्छा चिह्न है, क्योंकि गदाधर भट्टाचार्य विरचित गादाधरी तर्कशास्त्र के प्रामाणिक ग्रंथों में उच्चतम स्थान प्राप्त कर चुकी है। तर्कशास्त्र का अध्ययन सब जगह तर्कसंग्रह से प्राप्त होता है और मूल के पाठ के बाद ग्रंथकार की स्वयं विरचित दीपिका के साथ पढ़ा जाता है। दीपिका को जिसने ध्यान से पढ़ लिया है वह न्यायशास्त्र के ऊपर के ग्रंथों के अध्ययन में प्रवेश करने के योग्य समझा जाता है। प्रस्तुत ग्रंथ में आचार्य आनंद झा ने दीपिका सहित तर्कसंग्रह का अपने ही विवरण सहित अनुवाद किया है। मूल और व्याख्या का अनुवाद और विवरण दोनों विद्वत्तापूर्ण हैं। विवरण को पढ़ने से न्यायशास्त्र की गूढ़ बातें जो दीपिका में वर्णित हैं समझ में आ जाती हैं। न्यायशास्त्र का सबसे अच्छा प्राथमिक ग्रंथ होने के कारण तर्क संग्रह का सन्निवेश संस्कृत के पाठ्यक्रम में सभी विद्या संस्थाओं में हो जाता है। प्राचीन पद्धति से संस्कृत पढ़नेवालों का प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर ही इस ग्रंथ का परिचय हो जाता है। नवीन पद्धति से संस्कृत पढ़नेवालों के लिए भी इस ग्रंथ का अध्ययन करना आवश्यक समझा जाता है। वे तो परिस्थिति के अनुसार कहीं कहीं बी. ए. कक्षा ही में इसका अध्ययन कर लेते हैं, अन्यत्र एम. ए. कक्षा में। जब एम. ए. कक्षा में इसे पढ़ते हैं तब प्रायः दीपिका के साथ पढ़ते हैं क्योंकि असली तर्क तो दीपिका ही में बाहुल्य से आते हैं, जिससे उसे पढ़नेवालों की न्यायशास्त्र में वास्तविक व्युत्पत्ति हो जाती है। आचार्य आनंद झा के विवरण की विशेषता यह है कि वह सभी प्रकार के विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त है। कालेज और विश्वविद्यालयों में सभी विषयों के पढ़ाने का माध्यम धीरे-धीरे हिंदी ही हो रही है, संस्कृत में तो हमेशा से हिंदी ही रही है। इसलिये बी. ए. और एम. ए. के विद्यार्थी हिंदी में लिखे विवरण का स्वागत करेंगे और उससे लाभ उठावेंगे, क्योंकि वह एक ऐसे विद्वान् ने लिखा है जो न्यायशास्त्र के ऊपर के ग्रंथों से अच्छी तरह से परिचित और जो परंपरागत पारिभाषिक शब्दों में परंपरागत तत्त्वों को समझाने में अत्यंत कुशल हैं। आचार्य जी की विद्वत्ता की छाप प्रतिपृष्ठ और प्रतिपंक्ति विद्यार्थिगण पहचान सकेगा और

उससे लाभ उठा सकेगा । मैं अत्यंत प्रसन्न हूँ कि उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी ने विवरणसहित तर्कसंग्रह–दीपिका का प्रकाशन करना निश्चित किया है । इस शुभ काम से विद्या की अभिवृद्धि होगी और शास्त्र का प्रचार भी होगा ।

शुभमस्तु ।

को. अ. सुब्रह्मण्य अय्यर्

लखनऊ
६–५–७५

विषयक्रम

●

तर्क संग्रह

निधाय हृदि विश्वेशं विधाय गुरु वन्दनम् ।
बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसंग्रहः ॥

हृदय में परमेश्वर को रखकर और गुरु की वंदना करके यह 'तर्कसंग्रह' इस लिए लिखा जा रहा है कि अल्पज्ञों को भी अनायास न्याय सिद्धांत का बोध प्राप्त हो ।

दीपिका टीका

विश्वेश्वरं साम्बमूर्ति प्रणिपत्य गिरां गुरुम् ।
टीकां शिशु हितां कुर्वे तर्कसंग्रह दीपिकाम् ॥

अनुवाद—समग्र विद्याओं के उपदेष्टा साम्बमूर्ति विश्वेश्वर को प्रणाम करके अति अल्पज्ञों के हितार्थ मैं (स्वरचित) तर्कसंग्रह की दीपिका टीका करता हूँ ।

विवरण

कर्तव्य दीपिका टीका की निर्विघ्न समाप्ति के लिए किये गये परमेश्वर नमस्कारात्मक मंगल को, टीकाकार अन्नभट्ट ने इसलिए प्रकृत टीकात्मक ग्रंथ के आरंभ में लिखा है कि परवर्ती मेरे शिष्यगण भी इस मंगलाचरण को देखकर ग्रंथ प्रणयन के समय आरम्भ में मंगलाचरण अवश्य किया करें । इस प्रथम पद्य के द्वारा नामकरण पूर्वक टीका-प्रणयन की प्रतिज्ञा की है । 'गिरां गुरुम्' इस कथन के द्वारा इष्टदेव शिव को 'ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानाम्' इत्यादि मुनिवाक्य के अनुसार सारी विद्याओं का उपदेष्टा बतलाया गया है । कहीं-कहीं 'गिरांगुरुम्' इसके स्थान में 'गिरंगुरुम्' ऐसा पाठ पाया जाता है । तदनुसार 'वाणी' और गुरु की वंदना करके' यह अर्थ लब्ध होता है । प्रकृत पद्य के अंदर अपनी दीपिका टीका को 'शिशुहिता' कहकर टीकाकार ने यह व्यक्त किया है कि अन्य मूल या टीका ग्रंथों के अध्ययन से अल्पज्ञों को ऐसा ज्ञान-लाभ अनायास नहीं हो सकता है, जैसा कि इस दीपिका टीका के अध्ययन से । 'तर्कसंग्रहदीपिका' इसका अर्थ 'तर्क संग्रह में प्रतिपादित पदार्थों की प्रकाशिका' यह ज्ञातव्य है ।

तर्क संग्रहकार ने 'निधाय हृदि' इत्यादि पद्य क्यों रचा ? ग्रंथ के आरंभ में इसका उल्लेख क्यों किया ? इस प्रश्न के निवृत्यर्थ दीपिकाकार कहते हैं—

दीपिका

चिकीर्भितस्य ग्रन्थस्य निर्विघ्न परिसमाप्त्यर्थं शिष्टाचारानुमित-श्रुतिबोधितकर्तव्यनाकमिष्टदेवतानमस्कारात्मकं मंगलं शिष्यशिक्षार्थं निर्विघ्नंश्चिकीर्षितं ग्रन्थादौ प्रतिजानीते निधायेति। ननु मंगलस्य समाप्तिसाधनत्वमेव नास्ति। मंगले कृतेऽपि कादम्बर्मादौ समाप्त्यदर्शनात्। मंगलाभावेऽपि किरणावल्यादौ समाप्तिदर्शनात्, अन्वयव्यतिरेकव्यभिचारात्, इतिचेन्न। कादम्बर्यादौ विघ्नबाहुल्यात् समाप्त्यभावः। किरणावल्यादौ ग्रन्थाद्वहिरेव मंगलं कृतमतो न व्यभिचारः।

अनुवाद

करने की इच्छा के विषय मूल ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति है प्रयोजन जिसका, एवं शिष्टाचार के द्वारा अनुमित होती है वेद बोधितकर्तव्यता जिसमें, ऐसे मंगलाचरण को शिष्यशिक्षार्थ निवद्ध करते हुए ग्रंथ आदि में चिकीर्षित ग्रंथ प्रणयन की प्रतिज्ञा करते हैं 'निधाय' इत्यादि प्रथम पद्य के द्वारा। मंगलाचरण किये जाने पर भी कादम्बरी ग्रंथ की समाप्ति हुई नहीं और मंगल के न होते हुए भी किरणावली आदि ग्रंथों की समाप्ति हुई—ऐसा पाये जाने के कारण कारणता के निश्चायक अन्वय और व्यतिरेक दोनों का व्यभिचार पाया जाता है, इसलिए मंगलाचरण में समाप्ति के प्रति कारणता नहीं है, यह बात नहीं कही जा सकती। क्योंकि कादम्बरी प्रभृति ग्रंथों में विघ्न की अधिकता के कारण समाप्ति का अभाव है, और किरणावली आदि में ग्रंथ बाह्य रूप में मंगलाचरण किया गया, इसलिए व्यभिचार नहीं है।

विवरण

करने की इच्छा कहलाती है 'चिकीर्ष' और उसका विषय कहलाता है 'चिकीर्षित'। न्याय सिद्धांतों में ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न ये तीन होते हैं 'सविषयक'। ज्ञान जिस वस्तु का होता है वह वस्तु होती है ज्ञान का विषय। इसी प्रकार जिस वस्तु की इच्छा होती है वह वस्तु होती है इच्छा का विषय, और जिसके लिये प्रयत्न किया जाता है वह कहलाता है प्रयत्न का विषय। 'परिसमाप्त्यर्थं' यहां पर 'अर्थ' पद से प्रयोजन ज्ञातव्य है। वेद के द्वारा बोधित अर्थात् ज्ञापित हो कर्तव्यता जिसमें वह होता है 'वेदबोधितकर्तव्यताक'। ग्रंथ के आरंभ में मंगल का आचरण करना चाहिए यह यद्यपि वेद के किसी भाग में आज नहीं पाया जाता है फिर भी शिष्ट व्यक्तियों के आचरण स्वरूप ज्ञापक हेतु से यह अनुमान किया जाता है कि मंगल की कर्तव्यता का बोधक वेदवाक्य अवश्य रहा होगा। अनुमान का आकार दीपिकाकार स्वयं बतलाने वाले हैं। 'नमस्कार

लक्षणं' यहां पर 'लक्षण' शब्द का अर्थ 'स्वरूप' ज्ञातव्य है। ग्रंथादौप्रतिजानीते 'यहां पर प्रतिजानीते' इसके पहले 'शिष्यावधानाय' इसकी योजना करके 'शिष्यों को सावधान हो जाने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं' ऐसा अर्थ ज्ञातव्य है। अन्यथा क्यों प्रतिज्ञा कर रहे हैं ? यह प्रश्न बना रह जायेगा। समाप्ति के प्रति जबतक मंगलाचरण में कारणता निश्चित नहीं तब तक मंगलाचरण का औचित्य कैसे स्थिर हो सकता ? यह आशंका उपस्थित की जा रही है 'ननु मंगलस्य' इत्यादि ग्रंथ के द्वारा। 'अन्वयव्यतिरेकव्यभिचारात्' इसके द्वारा मंगलात्मक पक्ष में समाप्ति साधनत्वाभावस्वरूप साध्य का साधक हेतु उपस्थित किया गया है। 'मंगलेकृतेऽपि कादम्ब्यर्यादौ' इत्यादि कथन के द्वारा उक्त व्यभिचार स्पष्ट किया गया है। यहां प्रश्न ग्रंथ का आशय यह है कि जिस कार्य के प्रति जिसमें अन्वय और व्यतिरेक ये दोनों पाये जाते हैं उस कार्य के प्रति वही कारण मान्य होता होता है। अन्वय है—'तत्सत्त्वेतत्सत्त्वम्' अर्थात् कारण रूप से अभिमत वस्तु के रहने पर कार्य का होना, और व्यतिरेक है 'तद्भावे तदभावः' अर्थात् कारण रूप से अभिमत वस्तु के न होने पर कार्य रूप से अभिमत का नियमतः न होना। इस अन्वय और व्यतिरेक को देखकर ही कोई भी व्यक्ति किसी के प्रति किसी को कारण मानता है। जैसे धूम के प्रति अग्नि इसीलिए कारण माना जाता है कि अग्नि के होने पर ही धूम होता है, अग्नि के न होने पर धूम कभी होता नहीं। प्रकृत में इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक दोनों पाये जाते नहीं, अतः अन्वय और व्यतिरेक दोनों का व्यभिचार अर्थात् अभाव पाया जा रहा है। क्योंकि मंगलाचरण किये जाने पर भी कादम्बरी प्रभृति ग्रंथों की समाप्ति हुई नहीं, अतः उक्त प्रकार अन्वय का व्यभिचार पाया जाता है और मंगलाचरण न होने पर भी गुणकिरणावली आदि ग्रंथों की समाप्ति हुई पायी जाती है, इसलिए 'व्यतिरेक' का भी व्यभिचार पाया जाता है। ऐसी परिस्थिति में मंगलाचरण को समाप्ति के प्रति कारण कैसे माना जा सकता ? 'न, कादम्बर्यादौ' इत्यादि ग्रंथ के द्वारा इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है। इस उत्तर ग्रंथ का अभिप्राय यह है कि—मंगलाचरण समाप्ति के प्रति कारण होता है समाप्ति के लिए अपेक्षित होने वाले विघ्न ध्वंस का कारण होने के कारण। अतः मंगलाचरण और विघ्न ध्वंस इन दोनों के बीच कार्यकारणभाव स्थिर हो जाने पर समाप्ति के प्रति भी मंगलाचरण कारण हो जाता है। मंगलाचरण और विघ्न ध्वंस इन दोनों के बीच मान्य होने वाला कार्यकारणभाव भी इस प्रकार मान्य नहीं है कि 'विघ्न ध्वंस के प्रति सभी मंगलाचरण कारण हैं' किन्तु इस प्रकार कार्यकारणभाव मान्य है कि 'विजातीय विघ्न ध्वंस के प्रति विजातीय मंगलाचरण कारण हैं'। ऐसी परिस्थिति में कादम्बरी असमाप्त ग्रंथों में विजातीय मंगलाचरण न होने के कारण कारणा-

भावप्रयुक्त विघ्न ध्वंसात्मक कार्य का अभाव और इसीलिए समाप्ति का अभाव भी उचित ही है अतः प्रकृत में अन्वय व्यभिचार नहीं है। 'किरणावल्यादौ तु' इत्यादि ग्रंथ के द्वारा, प्रदर्शित व्यतिरेक व्यभिचार का कारण किया गया है। 'ग्रंथाद्वाहिरैव' यहां पर 'वहिः' पद से वर्तमान जन्म तथा पूर्व जन्म दोनों का संग्रह विवक्षित है। तदनुसार आशय यह प्राप्त होता है कि या तो गुणकिरणावली आदि ग्रंथों के निर्माता उदयन आदि ने इस जन्म में मंगलाचरण किया होगा किंतु अपने ग्रंथ के आरंभ में उनका उल्लेख नहीं किया होगा। और यदि इस जन्म में मंगलाचरण नहीं किया होगा तो पूर्वजन्म में ही मंगलाचरण किया होगा और उस मंगलाचरण के बल से ही विघ्न ध्वंस तथा उसके द्वारा समाप्ति ये दोनों हुए होंगे अतः उक्त प्रकार व्यतिरेक व्यभिचार नहीं दिखलाया जा सकता। फलितार्थ यह हुआ कि 'समाप्तित्वावच्छिन्नं प्रति स्वजन्य-विघ्नध्वंसवत्त्व सम्बन्धेन मंगलं कारणम्' अर्थात् समाप्ति के प्रति 'स्वोत्पन्न-विघ्नध्वंस' संबंध से मंगल कारण है 'ऐसा कार्य कारणभाव स्थिर होता है। 'अतो न व्यभिचारः' इसका अर्थ यह है कि ऐसा कार्यकारणभाव को मान्यता देने पर व्यभिचार होता नहीं। यहां के इस कथन को प्राचीन नैयायिक मत का अनुयायी समझना चाहिए। क्योंकि नवीन नैयायिक तत्त्व-चिन्तामणिकार गंगेशोपाध्याय आदि ने इस कार्यकारण भाव को नहीं मान्यता दी है। उन लोगों ने मंगलाचरण की समाप्ति के प्रति कारण नहीं माना है। उनका अभिप्राय यह था कि मंगलाचरण को विघ्न ध्वंस के द्वारा जो समाप्ति के प्रति कारण मानेंगे तदपेक्षया-लाघववश विघ्न ध्वंस के प्रति मंगलाचरण को कारण मानना उचित होगा। अतः मंगलाचरण समाप्ति के प्रति कारण नहीं है। रहा प्रश्न यह कि, तो समाप्ति किस कारण से होती है ? तो इसके उत्तर में वे लोग कहते हैं कि बुद्धि प्रतिभा तथा विघ्न ध्वंस आदि कारणों से समाप्ति होती है।

दीपिका

ननु मंगलस्य कर्तव्यत्वे किं प्रमाणमिति चेन्न। शिष्टाचारानुमित-श्रुतेरेव प्रमाणत्वात्। समाप्तिकामो मंगलमाचरेत् इति श्रुतेः। तथाहि मंगलं वेदबोधितकर्तव्यताकम् अलौकिकाविगीत-शिष्टाचारविषयत्वात् दर्शादिवत्। भोजनादौ व्यभिचारकाणालौकिकेति। रात्रिश्चाद्धादौ व्यभिचारकारणायाविगीतेति। शिष्टपदं स्पष्टार्थम्। न कूर्यान्निःफलं कर्म इति जलताड़नादेरपि निषिद्धत्वादिति।

अनुवाद

यह नहीं कहा जा सकता है कि 'मंगल की कर्तव्यता में क्या प्रमाण है ?' क्योंकि शिष्ट व्यक्तियों के आचरण से अनुमित होने वाली श्रुति प्रमाण रूप से

उपन्यस्त हो ही सकती है। इस अनुमित श्रुति का आकार यह होगा कि 'समाप्ति-कामोमंगलमाचरेत्' अर्थात् समाप्ति का इच्छुक व्यक्ति मंगलाचरण करे। प्रकृत अनुमान का आकार यह ज्ञातव्य है कि मंगल, वेद के द्वारा बोधित होने वाली कर्तव्यता का आश्रय है। क्योंकि वह अलौकिक एवं अविगीत शिष्टाचार का विषय उसी प्रकार है जिस प्रकार दर्श आदि वैदिक याग। भोजन आदि में व्यभिचार-वारणार्थ उक्त हेतु वाक्य के अन्दर 'अलौकिक' पद निविष्ट हुआ है। रात्रिश्राद्ध आदि में व्यभिचारकारणार्थ 'अविगीत' समाविष्ट किया गया है। 'शिष्ट' यह पद केवल स्पष्टीकरणार्थ प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि जलताड़न आदि कर्म भी 'न कुर्यान्निःफलं कर्म' अर्थात् कोई भी निःफल काम नहीं करना चाहिए 'इत्यादि शास्त्र-वाक्यों के द्वारा निषिद्ध है।

विवरण

ननुमंगलस्य कर्तव्यत्वे' इत्यादि द्वारा पहले शंका इसलिए उठाई गई है कि मंगल की कर्तव्य वेदोपदिष्ट है यह बात सिद्ध की जाय। 'समाप्तिकामो मंगलमा-चरेत्' अर्थात् समाप्ति का इच्छुक व्यक्ति मंगलाचरण करे, इस कथन के द्वारा अनुमित श्रुति का आकार बतलाया गया है और मंगलं वेदवोधितकर्तव्यताकम्' इत्यादि द्वारा अनुमान का आकार। यद्यपि इस अनुमान से शिष्टाचार हेतु के द्वारा श्रुति अनुमित नहीं हो पाती है क्योंकि उसे तो यहां साध्यता प्राप्त होती नहीं। किन्तु 'शिष्टाचारानुमिताश्रुतिः' यहां पर अनुमित शब्द का अर्थ है 'अनु-मितीयविषयता का आश्रय। ऐसा होने के कारण 'अनुमितीय विधेयतावच्छेदकता स्वरूप अनुमितीयविषयता श्रुति में आ जाती है। इसलिए असंगति उद्‌भाषित नहीं हो सकती। यहां प्रासंगिक रूप से ज्ञातव्य यह है कि प्रत्येक अनुमान स्थल में एक पक्ष, एक साध्य और एक हेतु ये तीनों नितान्त अपेक्षित होते हैं। यों तो इनका विवेचन ग्रंथकार स्वयं आगे करेंगे, फिर भी यहां सामान्यतः इनके संबंध में दिग्दर्शन करा देना आवश्यक है। पक्ष वह कहलाता है जहां अनुमानकर्ता व्यक्ति किसी भी साध्य की सिद्धि करता है अर्थात् अनुमित करता है। जैसे 'पर्वतोवह्नि-मान् घूमान्' अर्थात् पर्वत अग्नियुक्त है क्योंकि घूमयुक्त है इस अनुमान स्थल में पवर्त होता है 'पक्ष'। क्योंकि पर्वत में ही अग्न्यात्मक साध्य की सिद्धि की जाती है। इस प्रकार पक्ष में साध्य की सिद्धि, जिसका वहां अस्तित्व देखकर की जाती है वह कहलाता है 'हेतु' जिसे 'साधन' 'लिंग' आदि अन्य नामों से भी जगह-जगह पर कहा जाता है। जैसे उक्त अनुमानस्थल में घूम कहलाता है हेतु 'क्योंकि उसे देखकर ही पर्वत में आग समझी जाती है। 'साध्य' वह कहलाता है जिसकी उक्त प्रकार पक्ष में उक्त प्रकार हेतु के द्वारा सिद्धि की जाती है। जैसे उक्त 'पर्वतो-वह्निमान् घूमात्' इस अनुमान स्थल में आग होती है साध्य। क्योंकि उक्त प्रकार

पर्वतात्मक पक्ष में उक्त प्रकार धूमात्मक हेतु से आग की ही सिद्धि की जाती है। अनुमान के लिए नितान्त उपेक्षित रूप में वर्णित उक्त पक्ष साध्य और हेतु इनके अतिरिक्त दृष्टांत भी अपेक्षित होता है सदनुमान के लिए। दृष्टान्त कहलाता है वह जिसमें अनुमाता व्यक्ति उक्त प्रकार साध्य एवं उक्त प्रकार हेतु दोनों को देखता है। जैसे उक्त 'पर्वतोवह्निमान् धूमात्' इस अनुमान स्थल में महानस (रसोईघर) आदि होते हैं दृष्टान्त। क्योंकि अनुमानता व्यक्ति अनुमान के पूर्व महानस में धूम और अग्नि इन दोनों को देखता है। प्रकृत अनुमानस्थल में मंगल है पक्ष, 'वेदबोधितकर्तव्यताकत्व' अर्थात् वेद के द्वारा करणीय रूप में स्थापित होना यह है साध्य और 'अलौकिकाविगीत शिष्टाचारविषयत्व' अर्थात् शिष्ट व्यक्तियों के अलौकिक एवं अविगीत आचरण विषय होना है हेतु। 'दर्श' नामक वैदिक यज्ञ इसलिए दृष्टांत रूप में यहां उपस्थित किया गया है कि वह शिष्ट वैदिक-व्यक्ति के द्वारा आचरित भी होता है और उसकी करणीयता वेदबोध्य भी होती है। शिष्ट वैदिक व्यक्तिकर्तृक दर्श का आचरण अलौकिक इसलिए होता है कि भोजन आदि सर्वप्राणिसाधारण क्रियाओं के तृप्ति आदि साधारण फल के समान उस दर्शयज्ञ का कोई साधारण लौकिक फल होना नहीं, और 'अविगीत' इसलिए कहलाता है कि चोरी आदि बुरे आचरणों की जिस प्रकार लोक निंदा होती है उस दर्शयज्ञ के आचरण की उस प्रकार लोकनिंदा होती नहीं। यहां एक ध्यान रखने की बात यह भी है कि उक्त प्रकार के हेतु दो तरह के होते हैं। एक होता है 'सद्धेतु' और दूसरा होता है व्यभिचारी हेतु अर्थात् असद्धेतु। जहां-जहां हेतु रहे वहां वहां हेतु यदि नियमतः साध्य रहे तो वह हेतु कहलाता है सद्धेतु और जहां ऐसी परिस्थिति नहीं, अर्थात् प्रकृत हेतु का कोई आधार ऐसा भी पाया जाय कि वहां साध्य नहीं रहता हो तो वह हेतु कहलाता है व्यभिचारी हेतु अर्थात् असद्धेतु। इन दो प्रकार के हेतुओं से होने वाली अनुमितियों के अन्दर सद्धेतु से होने वाली अनुमिति यथार्थ होती है, अन्य नहीं। प्रकृत अनुमानस्थल में उपस्थापित 'अविगीत शिष्टाचारविष्यत्व हेतु है सद्धेतु। वह हेतु घटक विशेषण जो कि व्यभिचार का धारक नहीं होता, सार्थक नहीं माना जाता है अतः 'भोजनादौ व्यभिचार-वारणाय' इत्यादि कथन के द्वारा हेतु घटक प्रत्येक विशेषण की सार्थकता बतलायी गयी है। 'साध्य जहां न रहता हो वहां हेतु का रह जाना' है व्यभिचार दो। वेदबोधितकर्तव्यताकत्व स्वरूप साध्य का अभाव भोजन आदि लौकिक कृत्यों में भी रहता है। क्योंकि वेद में भोजन का उल्लेख यदि पाया भी जाय तो उस वेद वाक्य को भोजनगत कर्तव्यताबोधक नहीं माना जाता है। यतः रागतः प्राप्त होने के कारण भोजन आदि क्रियाओं में वेदविहितकर्तव्यता का विधान नहीं माना जा सकता। किंतु उक्त भोजन आदि कृत्यों में 'अविगीतशिष्टाचारविषयत्व' हेतु रह

ज़ाता है अतः व्यभिचार दोष आपन्न होता है । और व्यभिचारी होने के कारण असद्धेतु हो जाने से उसके द्वारा मंगलात्मक पक्ष में उक्त वेद्बोधिकर्तव्यताकत्व' स्वरूप साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती अतः हेतु घटक शिष्टाचार को 'अलौकिक' इसके द्वारा विशेषित किया गया है । इस विशेषण के द्वारा उक्त व्यभिचार का वारण इसलिए हो जाता है कि भोजन आदि लौकिक कृत्य रागप्राप्त होने के कारण अलौकिक नहीं हो पाते । अतः 'अलौकिकाविगीतशिष्टाचार विषयत्व' हेतु भोजन में जा नहीं पाता जहां कि 'वेदबोधितकर्तव्यताकत्व' साध्य जाता नहीं उसका अभाव जाता है । यदि 'अलौकिक शिष्टाचार विषयत्व' मात्र को हेतु बनाया जाय, अर्थात् हेतु घटक शिष्टाचार में अविगीतत्व' विशेषण नहीं दिया जाय तो 'अलौकिकशिष्टाचार विषयत्व' हेतु 'रात्रिश्राद्ध' आदि निन्दित अलौकिक कृत्यों में व्यभिचारी हो जाता है क्योंकि विवक्षित 'अलौकिक शिष्टाचारविषयत्व' हेतु उस रात्रि श्राद्ध में रहता है जहां उसके वेद निन्दित होने के कारण 'वेद-बोधित कर्तव्यताकत्व' स्वरूप साध्य जाता नहीं । अतः हेतु घटक शिष्टाचार को 'अविगीत' इसके द्वारा भी विशेषित किया गया है । इस प्रकार अलौकिकाविगीत शिष्टाचार विषयत्व' को हेतु किये जाने पर उक्त व्यभिचार दोष इसलिए वारित हो जाता है कि रात्रि श्राद्ध-वेद के द्वारा निन्दित होने के कारण विगीत होता है, अविगीत नहीं अतः शिष्टाचारविषयत्व हेतु भी वहां जाता नहीं जहां कि 'वेद-बोधितकर्तव्यताकत्व' साध्य नहीं जाता । हेतु घटक 'शिष्ट' वद किंतु व्यभिचार-वारणार्थ नहीं उपन्यस्त हुआ है किन्तु 'अविगीत अर्थात् अनिन्दित आचरण शिष्ट-जन के ही हुआ करते हैं' इस वस्तुस्थिति के स्फुटीकरण मात्र के लिए हेतु वाक्य के अन्दर उपन्यस्त हुआ है । 'जलताड़न' आदि निरर्थक क्रियाएं भी 'न कुर्यान्निःफलं कर्म' इत्यादि शास्त्र वाक्यों के द्वारा निषिद्ध ही है अतः अविगीत नहीं हो पातीं, इसलिए 'अलौकिकाविगीताचारविषयत्व' हेतु भी वहां जा पाता नहीं, कि वहां 'वेदबोधित कर्तव्यताकत्व' स्वरूप साध्य न जाने के कारण व्यभि-चार हो पाये, और उसके निवारणार्थ हेतु के अन्दर 'शिष्ट' विशेषण दिया जाय । इसी के व्यक्तीकरणार्थ दीपिका में 'शिष्टपदं स्पष्टार्थं' इत्यादि कहा गया है । 'शिष्ट' पद के दो अर्थ पाये जाते हैं, एक 'वेदको प्रमाण मानने वाला' यह और दूसरा 'वैदिक क्रियाओं के संबंध में सर्वथा भ्रान्ति रहित' । प्रकृत हेतु-घटक 'आचार' पद का अर्थ है प्रयत्न । यद्यपि उक्त 'शिष्टाचार विषयत्व' को हेतु न मानकर विषयता संबंध से अलौकिकाविगीतशिष्टाचार को ही हेतु किया जा सकता था । किंतु ऐसा किया इस अभिप्राय से नहीं गया कि 'विषता' संबंध निर्विवाद रूप से वृत्तिता का अर्थात् अस्तित्व का नियामक नहीं माना जा सकता है । ऐसी स्थिति में विषयता संबंध से उक्त प्रकार शिष्टाचार को कहीं भी नहीं

रखा जा सकता । सुतरां मंगलात्मक पक्ष में भी नहीं रखा जा सकता, अतः उससे पक्ष में साध्य की सिद्धि नहीं की जा पायेगी । किंतु यहां का 'विषयत्व' विधेयत्व' स्वरूप ग्राह्य है । अन्यथा अलौकिकाविगीत शिष्टाचार का 'उद्देश्यात्व' स्वरूप विषयत्व याग यज्ञ आदि वैदिक क्रियाओं के फलीभूत स्वर्ग आदि में भी रह जायेगा जहां साध्य भूत 'वेदबोधितकर्तव्यताकत्व' रहता नहीं । अतः हेतु फिर भी व्यभिचार-ग्रस्त हो उठेगा । विधेयत्व स्वरूप विषयत्व का ग्रहण करने पर व्यभिचार इसलिए नहीं हो पाता है कि फल कभी विधेय होता ही नहीं । अतः स्वर्ग आदि फल में साध्य और हेतु दोनों के ही न रह जाने के कारण हेतु साध्याभावयुक्त आधार में रहने वाल हो पाता नहीं ।

दीपिका

तर्क्यनो प्रमितिविषयीक्रियन्ते इति तर्काः, द्रव्यादिसप्तपदार्थाः, तेषं संग्रहः—संक्षेपेण स्वरूपकथनं क्रियते इति । कस्मै प्रयोजनामेत्यत आह—सुखबोधायेति । सुखेन अनायासेन बोधः—पदार्थतत्त्वज्ञानं तस्या इत्यर्थः । ननु बहुषु तर्कग्रन्थेषु सात्सु किमर्थमपूर्वग्रंथः कियते इत्यतः आह बालानामिति । तेषामतिविस्तृतत्वाद्बालानां ततो बौधोनभवतीत्यर्थमित्यर्थः । ग्रहणधारणपटुर्वालः न तु स्तनन्धयः । किं कृत्वा क्रियत इत्यत आह निधायेति । विश्वेशं-जगन्नयन्तारं शिवं हृदि निधाय-नितरां धारयित्वा सर्वदा सद्ध्यानपरोभूत्वेत्येर्थः । गुरुणां-विद्यागुरुणाम्, वन्दनं-नमस्कारं विधायेत्यर्थः ।

अनुवाद

जो तर्कित हो अर्थात् यथार्थ ज्ञान का विषय बनाया जा सके वह कहलाता है तर्क, फलतः द्रव्य आदि सात पदार्थ हैं तर्क । उनका संग्रह अर्थात् संक्षेप से स्वरूप कथन किया जा रहा है । द्रव्य आदि पदार्थों का यह संक्षिप्त स्वरूप कथन क्यों किया जाता है ? इस जिज्ञासा के निवृत्यर्थ कहा गया है 'सुखबोधाय' । सुख से अर्थात् अनायास जो बोध अर्थात् पदार्थतत्व का ज्ञान, उसके लिये । जब कि प्राचीन आचार्यों के बहुत से तर्क-ग्रंथ विद्यमान हैं, तब यह नवीन ग्रंथ क्यों रचा जा रहा है ? इस जिज्ञासा के निवृत्यर्थ कहा गया है 'बालानां' अभिप्राय यह है कि प्राचीन तर्क ग्रंथ अति विस्तृत होने के कारण, उनसे अल्पज्ञों को अनायास पदार्थ-तत्व का बोध नहीं हो सकता अतः इस ग्रंथ की रचना अपेक्षित है । 'बालानां' यहां पर 'बाल' पद से वे विवक्षित हैं जो उपदिष्ट तत्त्वों को समझकर उसे रखने की क्षमता रखते हों । वक्तव्य यह कि प्रकृत 'बाल' पद का अर्थ स्तनपानकर्ता विवक्षित नहीं है । किस कृत्य का सम्पादनपूर्वक इस ग्रंथ का प्रणयन

किया जा रहा है ? इस जिज्ञासा के निवृत्यर्थ कहा गया है 'निधाय हृदि इत्यादि'। जगन्नियन्ता परमेश्वर भगवान् शंकर को अपने हृदय में अच्छी तरह स्थापित करके, अर्थात् सर्वदा उनके ध्यान में संलग्न होकर। और गुरुओं अर्थात् विद्यादाताओं की वन्दना करके।

विवरण

न्याय शास्त्र में व्याप्य के आरोप से किया जाने वाला व्यापक का आरोप कहलाता है तर्क, जो कि एक प्रकार आपत्ति-स्वरूप होता है। अतः उन आपत्तियों को न यहां 'तर्कसंग्रह' शब्द से समझ लिया जाय, इसलिए दीपिकाकार 'तर्कसंग्रह' शब्द की व्याख्या करते हैं—तर्कयन्ते प्रमितिविषयी क्रियन्ते इत्यादि ग्रंथ से। प्रमिति है प्रभा अर्थात् यथार्थज्ञान। अभिप्राय यह है कि न्याय शास्त्र के अध्ययन से द्रव्य गुण आदि सात पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है, इसलिए पदार्थ ज्ञान के विषय होने वाले द्रव्य आदि सात पदार्थ कहे जाते हैं तर्क। 'संग्रह' शब्द का अर्थ अधिकतर लेना, एकत्र करना यह हुआ करता है जो कि प्रकृत में संभव नहीं है इसलिए 'संग्रह' शब्द की व्याख्या की गयी है 'संक्षेपेण स्वरूपकथनम्'। स्वरूप कथन का अर्थ स्वरूप ज्ञान के अनुकूल वाक्य प्रयोग यह ज्ञातव्य है। ग्रंथकार ने अपने प्रकृत ग्रंथ का 'तर्कसंग्रह' यह नाम रखकर यह सूचित किया है कि इस ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय हैं—द्रव्य, गुण आदि सात पदार्थ, उन सात पदार्थों का तत्त्व निश्चय है इस ग्रंथ के प्रणयन का प्रयोजन, द्रव्यगुण आदि तत्त्व अर्थात् प्रतिपाद्य पदार्थ, और इस तर्क-संग्रह ग्रंथ के बीच प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव है संबंध, तथा उक्त पदार्थ-तत्त्व-निश्चय के इच्छुक व्यक्ति होगा इस ग्रंथ के अध्ययन का अधिकारी। सारांश यह कि ग्रंथकर्ता ने प्रथम पद्य के द्वारा उस अनुबंध-चतुष्टय का भी द्योतन किया है, जो कि अध्येता की ग्रंथ-अध्ययन-प्रवृत्ति का अंग हुआ करता है।

तर्क-संग्रह

द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाया भावाः सप्त पदार्थाः।

अनुवाद

(1) द्रव्य (2) गुण (3) कर्म (4) सामान्य (5) विशेष (6) समवाय और (7) अभाव—ये सात पदार्थ हैं।

विवरण

पदार्थ हैं, अर्थात् द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, सामान्यत्व, विशेषत्व, समवायत्व, और अभावत्व। इन सात प्रदार्थ विभाजधर्मों के अन्दर एक-एक धर्म से युक्त

हैं। 'सप्तपदार्थाः' यहां पर 'सप्तत्व' 'यह है एक, यह है एक' इस प्रकार होने वाली अपेक्षा बुद्धि की विषयता स्वरूप ज्ञातव्य है। क्योंकि प्रकृत सप्तत्व को संख्या स्वरूप मानने पर वह गुण क्रिया आदि के अन्दर रह नहीं सकता है अतः द्रव्य के अतिरिक्त गुण आदि पदार्थों में गुण रहता नहीं। और यदि प्रकृत 'सप्तत्व' को भी संख्या स्वरूप ही मानना हो तो गुण आदि में भी गुणात्मक सप्तत्व को रखने का उपाय यह हो सकता है कि सप्तत्व का अस्तित्व-नियामक संबंध समवाय को न समझ कर 'पर्याप्ति' नामक स्वरूप संबंध को समझा जाय। क्योंकि गुण आदि में गुण का अस्तित्व केवल समवाय संबंध से मान्य होता नहीं। पर्याप्ति-संबंध से गुण आदि में भी गुण का अस्तित्व इसलिए मान्य होता है कि ऐसा न मानने पर 'एकं रूपम्' यह एक रूप है, इत्यादि प्रतीतियां नहीं बन सकतीं, जो कि हुआ ही करती हैं। क्योंकि एकत्व संख्या और रूप दोनों ही गुण हैं, और गुण में गुण का अस्तित्व बिल्कुल माना नहीं जायगा ?

दीपिका

पदार्थान् विभजते द्रव्येति। पदस्यार्थः पदार्थ इति व्युत्पत्या, अभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम् इति लभ्यते। नन्वत्र विभागादेव सप्तत्वे लब्धे सप्त-ग्रहणं किमर्थमितिचेन्न। अधिकसंख्याव्यवच्छेदार्थत्वात्। नन्वतिरिक्तः पदार्थः प्रमितो न वा। नाद्यः प्रमितस्य निषेधायोगात्। नान्त्यः प्रतियोगिप्रमितिं बिना निषेधानुपपत्तेः इतिचेन्न। पदार्थत्वं द्रव्यादिसप्तान्यतमत्वव्याप्यमिति व्यवच्छेदार्थत्वात्। ननु सप्तान्यत मत्वं सप्तभिन्नभिन्नत्वम्, एवं च सप्तभिन्नस्याप्रसिद्धतया सप्तान्यतमत्वं कथमितिचेत् न। द्रव्यादिसप्तान्यतभात्वं द्रव्यादिभेदसप्तकाभाववात्वमिति तदर्थत्वात्। एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम्।

अनुवाद

द्रव्य गुण कर्म इत्यादि ग्रंथ से पदार्थों का विभाजन का किया जा रहा है। 'पद का अर्थ है पदार्थ' पदार्थ शब्द की इस व्याख्या के अनुसार 'अभिधेयत्व' सामान्यतः पदार्थ मात्र का लक्षण है यह प्राप्त हो जाता है। इससे फलितार्थ रूप में लब्ध यह होता है कि अभिधेय ही पदार्थ है। 'पदार्थ साप्त हैं' यह जब कि द्रव्य गुण आदि रूप में किये गये विभक्त निर्देश से ही लब्ध हो जाता है, तब 'सप्त पदार्थाः' यहां पर 'सप्त' कहने की कोई आवश्यकता नहीं यह बात इस लिए कही जा सकती कि सप्तत्व के कथन से अधिक एवं न्यून संख्या का निराकरण होता है अतः वही उसका प्रयोजन है। सात से अतिरिक्त पदार्थ प्रमित अर्थात् यथार्थ रूप से ज्ञात हैं या नहीं ? ज्ञात हैं यह कहना इसलिए कठिन है कि यथार्थ रूप से ज्ञात होने वाली वस्तु सत्य होती है अतः उसका फिर निषेध

नहीं हो पायेगा । और सात से अतिरिक्त पदार्थ यथार्थ रूप से मुझे ज्ञात नहीं यह भी कहना संभव नहीं । क्योंकि प्रतियोगी को बिना जाने उसका निषेध नहीं किया जा सकता 'इस प्रकार प्रश्न नहीं उपस्थित हो सकता । क्योंकि पदार्थ द्रव्यादि सप्तान्यतमत्व का व्याप्य है' अर्थात् पदार्थत्व जहां कहीं भी है वहां द्रव्यादि-सप्तान्यमतत्व अवश्य रहता है इस प्रकार अधिक संख्या के व्यवच्छेदार्थ 'सप्त' पद कहा गया है जबकि सात पदार्थों से अतिरिक्त कोई पदार्थ मान्य ही नहीं है तब 'सप्त भिन्नभिन्नत्व' स्वरूप सप्तान्यतमभाव कैसे बन सकता ? यह प्रश्न उपस्थित करना इसलिए उचित नहीं है कि यहां 'द्रव्यादिसप्तान्यतमत्व' पद से विवक्षित है 'द्रव्यादिभेदसप्तकाभाववत्व' न कि उक्त सप्तभिन्नभिन्नत्व । इसी प्रकार आगे भी ज्ञातव्य है ।

विवरण

'पदस्यार्थः पदार्थः' इत्यादि कथन के द्वारा इस प्रश्न का निराकरण किया गया है कि सामान्य ज्ञान के बिना कभी किसी को विशेष के संबंध में जिज्ञासा होती नहीं, यह सवर्था व्यवहार-सिद्ध है । तदनुसार ग्रंथकार ने विशेष जिज्ञासा के निवृत्यर्थ अपेक्षित होने वाले पदार्थ-विभाग से पहले पदार्थ-सामान्य-ज्ञापक लक्षण क्यों नहीं बतलाया ? टीकाकार ने 'पदस्यार्थः पदार्थः' इस प्रकार पदार्थ पद की व्याख्या करके इस प्रश्न का उत्तर यह दिया है कि पदार्थ शब्द स्वयं अपने यौगिक अर्थ को उपस्थित करते हुए यह बतला रहा है कि 'अभिधेयत्व' पदार्थ सामान्य का अर्थात् वस्तु मात्र का लक्षण है इसलिए अतिरिक्त लक्षण-प्रदर्शन ग्रंथकार के द्वारा नहीं किया गया । 'पदस्यार्थः' यहां पर 'अर्थ' शब्द का अर्थ है 'अभिधेय' । अभिधेय का अर्थ होता है अभिधा का विषय । अभिधा कहते हैं संकेत को । तदनुसार फलतः लब्ध यह होता है कि 'जिस अर्थ में किसी पद का संकेत हो वह कहलाता है अभिधेय' । संसार में ऐसी एक भी वस्तु नहीं पायी जा सकती, जिसमें किसी पद का संकेत न हो, जिसका कोई नाम न हो । दीपिकाकार 'ननुविभागादेव' इत्यादि ग्रंथ से ऐसा प्रश्न उपस्थित कर रहे हैं जिसके उत्तर में सप्त-ग्रहण का फल बताया जा सके । प्रकृत में विभाग का अर्थ विभाग गुण न होकर अवान्तरधर्मयुक्तरूप में कथन यह है। अवान्तर-धर्म कहलाता है व्याप्य-धर्म । 'द्रव्यगुण कर्म सामान्य' इत्यादि मूल-ग्रंथ के द्वारा द्रव्य गुण कर्म आदि पदार्थों का पदार्थत्व के प्रति व्याप्त होने वाले द्रव्यत्व गुणत्व आदि प्रत्येक धर्म युक्त रूप में कथन किया गया है अतः उक्त 'द्रव्यगुणकर्म-सामान्य' इत्यादि मूलवाक्य विभागवाक्य कहलाता है । 'पदार्थत्वं द्रव्यादि सप्तान्यतमत्व व्याप्यम् इति व्यवच्छेदार्थत्वात्' यहां पर 'व्यवच्छेद' शब्द का अर्थ ज्ञातव्य है निर्णय । 'प्रतियोगिप्रमितिंविना' इत्यादि ग्रंथ का आशय है कि अभाव

के ज्ञानार्थ उस अभाव के प्रतियोगी का ज्ञान नितान्त अपेक्षित होता है। कोई भी व्यक्ति घड़े को बिना समझे उसके अभाव को कभी नहीं समझ सकता। इस वस्तु-स्थिति के अनुसार 'सात पदार्थों से अतिरिक्त पदार्थ नहीं हैं' इस प्रकार सप्तपदार्थातिरिक्त का अभाव तब तक नहीं समझा जा सकता, जब तक कि सप्तपदार्थ से अतिरिक्त का अस्तित्व न मान लिया जाय और उस अस्तित्व को समझ न लिया जाय। क्योंकि अप्रसिद्ध वस्तु का अभाव कभी मान्य होता नहीं। और जब सात ही पदार्थ वास्तव रूप से मान्य हैं तब उनसे अतिरिक्त और कोई कैसे पदार्थ रूप में अस्तित्वशील हो सकता ? 'ननु सप्तान्यतमत्वं इत्यादि ग्रंथ के द्वारा सप्तान्यतमत्व की अप्रसिद्धि की शंका की गयी है। और उत्तर दिया गया है 'द्रव्यादिसप्तान्यतमत्वं द्रवादि-भेदसप्तकाभाववत्म्' इसके द्वारा। प्रश्न ग्रंथ का आशय यह है कि सात से भिन्न अप्रसिद्ध होने के कारण 'सप्तभिन्न भिन्नत्व' स्वरूप सप्तान्यतमत्व कैसे प्रसिद्ध हो सकता ? और सप्तान्यतमत्व के प्रसिद्ध हो जाने पर पदार्थत्वं द्रव्यादिसप्तान्यतमत्वव्याप्यमितिव्यवच्छेदार्थत्वात्' यह कथन कैसे संगत हो सकता ? उत्तर ग्रंथ का आशय यह है कि गुणों में 'द्रव्यं न' अर्थात् गुण द्रव्य नहीं है इस प्रकार भेद, और द्रव्यों में 'गुणो न' अर्थात् द्रव्य गुण नहीं है इस प्रकार द्रव्य आदि छः पदार्थों के छः भेद परस्पर में प्रसिद्ध होंगे किंतु सात भेद किसी में जा नहीं पायेगा। इसलिए 'द्रव्यादिभेदसप्तकाभाव' द्रव्यादिसप्तान्यतमत्व हो पायेगा और वह सर्वत्र रहेगा। अप्रसिद्ध नहीं कहा जा पायेगा।

तर्क-संग्रह

तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाटवाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव।

अनुवाद

उन सात पदार्थों के अंदर पृथ्वी जल तेज वायु आकाश काल दिक् आत्मा और मन ये नौ ही प्रकार के द्रव्य हैं।

विवरण

'पृथिवी, जल आदि द्रव्य नौ प्रकार के हैं, यह बात जबकि पृथिवी जल आदि रूप में किये जाने वाले विभाजन से ही प्राप्त हो जाती है तब उक्त संख्या बतलाने के लिए 'नवैव' यह क्यों कहा गया', यह प्रश्न उसी प्रकार यहां उपस्थित होगा, जिस प्रकार 'सप्तपदार्थाः' यहां पर प्रश्न उठाया गया था, और उत्तर भी उसी प्रकार यहां भी ज्ञातव्य होगा। प्रश्न का आकार यह होगा कि— 'नवैव' यह द्रव्यगत अधिक संख्या के निराकरणार्थ कहा गया है यह बात नहीं

कही जा सकती । क्योंकि पृथिवी आदि नौ द्रव्यों के अतिरिक्त कोई द्रव्य यथार्थ रूप से ज्ञात है या नहीं ? यदि हां, तो फिर उसका निषेध कैसे संगत हो सकता है ? और यदि उक्त द्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्य का ज्ञान नहीं तब भी निषेध नहीं बन सकता । क्योंकि अभाव बुद्धि के लिए प्रतियोगी का ज्ञान नितांत आवश्यक होता है । अतः 'नवैव' यह कथन संगत कैसे कहा जा सकता ? उत्तर इसका इस प्रकार होगा कि 'नवैव' यह कथन 'द्रव्यात्व पृथिव्याद्यन्यतभात्व का व्याप्य है' अर्थात् जो भी कोई द्रव्य रूप से उपस्थापित होगा वह उक्त पृथिवी जल आदि नौ द्रव्यों के अंदर ही गतार्थ हो जायेगा, इस नियम के लाभार्थ 'नवैव' यह कहा गया है । इसी प्रश्नोत्तर का व्यक्तीकरण दीपिकाकार ने 'एवमग्रेपि द्रष्टव्यम्' इसके द्वारा पहले किया है । यहां यह ध्यान रखने की बात है कि 'सप्तपदार्थाः' यहां पर जिस प्रकार दीपिका में सप्तभिन्न-भिन्नत्व स्वरूप सप्तान्यतभात्व की असिद्धि की शंका उपस्थित की गयी थी उस प्रकार कहां पर पृथिवादि नवभिन्न-भिन्नत्व स्वरूप नवान्यतभात्व की अप्रसिद्धि की शंका नहीं उपस्थापित हो सकती । क्योंकि यहां गुण कर्म आदि पदार्थ पृथिव्यादि नव भिन्न मिल जाते हैं, जिनकी भिन्नता उलट कर पृथिवी आदि नौ द्रव्यों पर अनायास आ जाती है, पृथिव्याद्यन्यतमत्व बन जाता है । अतः जिस प्रकार वहां 'द्रव्यादिभेदसप्तकाभाव' स्वरूप सप्तान्यतमत्व उत्तर रूप में वर्णित हुआ है, उस प्रकार यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं प्राप्त होती है ।

दीपिका

द्रव्यं विभजते तत्रेति । तत्र—द्रव्यादिमध्ये, द्रव्याणि नवैवेत्यन्वयः । कानि तानीत्यत आह पृथिवीत्यादि । ननु तमसो दशमद्रव्यस्य विद्यमानत्वात् कथं नवैव द्रव्याणि ? तथाहि—

तमः खलु चलं नीलं परापरविभागवत् ।
प्रसिद्ध-द्रव्य-वैधर्म्या न्नवभ्यो भेत्तुमर्हति ॥

नीलं तमश्चलतीत्यवाधितप्रतीतिवलान्नीलरूपाधारतया, क्रियाधारतया च द्रव्यत्वं तावत्सिद्धम् । तत्र तमसोनाकाशादि पंचकेऽन्तर्भावः, रूपवत्वात् । अतएव नवायौ, स्पर्शाभावात् सदागति मत्वाभावाच्च । नाऽपि तेजसि भास्वररूपाभावात् उष्णस्पर्शाभावाच्च । नापि जले शीतस्पर्शाभावात् नीलपारूपाश्रयत्वाच्च । नापि पृथिव्यां गन्धवत्वाभावात् स्पर्शरहितत्वाच्च । तस्मात्तमो दशमद्रव्यमितिचेन्न । तमसस्तेजोभावरूपत्वात् । तथाहि तमोहि न रूपिद्रव्यं आलोकासहकृत चक्षुर्ग्राह्यत्वात् । आलोकाभाववत् । रूपिद्रव्यचाक्षुषप्रभायामालोकस्य कारणत्वात् । तस्मात्प्रौढ़

प्रकाशकतेजस्सामान्याभावस्तमः। तत्र नीलं तमश्चलतीति प्रत्ययो भ्रमः। अतो नवद्रव्याणिति सिद्धम्।

अनुवाद

'तत्र' इत्यादि के द्वारा ग्रंथकार द्रव्य का विभाजन करते हैं। 'तत्र' अर्थात् द्रव्यगुण आदि सात पदार्थों के अंदर। द्रव्य नौ ही हैं ऐसा अन्वय समझना चाहिए। वे कौन-कौन हैं यह बतलाते हैं 'पृथिव्य' इत्यादि ग्रंथ के द्वारा। जब अन्धकार दशवां द्रव्य विद्यमान है तब 'द्रव्य नौ ही हैं' यह कैसे कहा जा सकता ? क्योंकि' तम अर्थात् अंधकार चलनशील है, नीला है, परत्व अपरत्व विभाग आदि गुणों से युक्त है, साथ ही पृथिवी आदि प्रसिद्ध द्रव्यों से तम में वैधर्म्य भी पाया जाता है, अतः वह पृथिवी आदि स्वीकृत द्रव्यों से भिन्न रूप से ही मान्य हैं' एतदर्थक—'तमः खलु चलं नीलं परापरविभागवत्। प्रसिद्धद्रव्यवैधर्म्यान्नवभ्यो भेदमर्हति' यह तर्क पूर्ण कथन पाया जाता है। और 'यह नीला अंधकार चल रहा है' इत्यादि प्रतीतियां बाधित भी नहीं होती हैं इसलिए अंधकार में नील रूप आदि वास्तविक सिद्ध होते हैं। अतः गुण और क्रिया का आश्रय होने के कारण अंधकार में द्रव्यत्व सिद्ध होता है। नील रूप युक्त होने के कारण अंधकार का आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन इन पांच द्रव्यों के अन्दर अन्तर्भाव सम्भावित नहीं है। अंधकार में स्पर्श और सदागति न होने के कारण वायु में भी उसका अंतर्भाव नहीं हो सकता। इसी प्रकार भास्वर रूप और उष्ण स्पर्श न होने के कारण अंधकार का तेज में भी अंतर्भाव मान्य नहीं हो सकता। जल में भी अंधकार का अंतर्भाव इसलिए नहीं हो सकता कि अंधकार में शीतल स्पर्श नहीं है और नीलरूप है। गंध और स्पर्श न होने के कारण पृथिवी में भी अन्धकार अंतर्मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए अंधकार को पृथिवी आदि मान्य द्रव्यों के अतिरिक्त एक स्वतंत्र द्रव्य मानना आवश्यक है, यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि अंधकार को तेज का अभाव स्वरूप माना जा सकता है। अंधकार आलोकाभाव की तरह रूपवान् द्रव्य इसलिए नहीं माना जा सकता कि अंधकार बाह्य आलोक की सहायता के बिना आंख से गृहीत होता है, अर्थात् आंख से समझा जाता है। क्योंकि किसी भी रूपवान् द्रव्य को आंख से देखने में बाह्य आलोक की सहायता नितांत अपेक्षित होती है। इसलिए अत्यन्त प्रकाशक तेज का सामान्याभाव ही अंधकार है। 'यह नील है' 'यह चलनशील है' इस प्रकार अंधकार के संबंध में होने वाली प्रतीतियां भ्रम ही हैं। इसलिए अंधकार द्रव्य नहीं है, यह बात सिद्ध होती है।

विवरण

'ननु तमसो' इत्यादि कथन के द्वारा मीमांसक मत खण्डनार्थ उपस्थित

किया गया है। प्रतीति के बल से, अर्थात् प्रत्यक्ष प्रतीति के बल पर। अंधकार द्रव्य है इसके सिद्यार्थ अनुमान प्रमाण की सूचना 'नील रूपाधारतया' इत्यादि के द्वारा दी गयी है। अनुमान का आकार 'तमः द्रव्यं नीलरूपाधारत्वात्', 'क्रिया-धारत्वात्' अर्थात् अंधकार द्रव्य है क्योंकि वह नील रूप का आधार है एवं क्रिया का आधार है, यह ज्ञातव्य है। 'नमः खलुचलम्' इत्यादि पद्य का अर्थ यह है कि तम अर्थात् अंधकार चल है अर्थात् क्रियाशील है। इसके द्वारा अंध-कारात्मक पक्ष में द्रव्यत्व का साधक क्रियाधारत्व हेतु बतलाया गया है। 'एवं नील है' अर्थात् नीलरूपयुक्त है यह कहकर पक्षभूत अन्धकार में गुणाधारत्व अर्थात् गुण का आश्रय होना यह हेतु बतलाया गया है। 'परापरविभागवत्' इसका अर्थ यह है कि अंधकार दूरत्व निकटत्व स्वरूप दैशिक परत्वापरत्व और ज्येष्ठत्व कनिष्ठत्व स्वरूप कालिक परत्व अपरत्व गुणों का आधार है, तथा विभाग गुण का भी आश्रय है। अथवा 'परापर विभागवत्' इसका दूसरा अर्थ यह है कि पर और अपर का यों विभाग अर्थात् 'यह इससे पर है और यह उससे अपर है' इस प्रकार जो विभिन्न व्यवहार, तम उनका विषय हुआ करता है। प्रसिद्ध द्रव्यवैधर्म्यात्' इत्यादि पद्यांश का अर्थ यह है कि प्रसिद्ध पृथिवी आदि द्रव्यों का वैधर्म्य अर्थात् पृथिवी आदि द्रव्यों से स्वभाववैलक्षण्य जबकि अंधकार में पाया जाता है तब पृथिवी आदि द्रव्यों से अंधकार की अन्यता ही उचित रूप में मान्य है। वैधर्म्य का अर्थ है—तद्गतधर्म का अभाव। 'तमसोनाकाशादिपंचकेऽन्तर्भावः' इत्यादि के द्वारा 'प्रसिद्ध द्रव्य वैधर्म्यात्' इत्यादि अंश का स्पष्टीकरण विशेष रूप से इसलिए किया गया है कि गुण और क्रिया का आश्रय होने के कारण अंधकार में द्रव्यत्व सिद्ध होने पर भी अतिरिक्त द्रव्यता अर्थात् दशमद्रव्यता तब तक सिद्ध नहीं हो सकती, जबतक कि विशेष रूप से यह नहीं सिद्ध कर दिखलाया जाय कि अन्धकार को पृथिवी आदि सिद्ध नौ द्रव्य के अंदर किसी भी एक में अन्तर्मुक्त नहीं माना जा सकता। 'अतएव' का अर्थ है 'रूपवत्वादेव' अर्थात् रूपयुक्त होने के कारण अंधकार वायु में अन्तर्मुक्त नहीं माना जा सकता। क्योंकि जो जिसके अन्तर्गत अन्तर्मुक्त होता है वह किसी भी उसके स्वभाव का उल्लंघन नहीं करता। वायु से लेकर मन तक सभी द्रव्य का यह स्वभाव पाया जाता है कि उनके अंदर एक भी कोई रूपवान् नहीं है, अतः अंधकार यदि उनके अंदर किसी द्रव्य में अन्तर्मुक्त होता तो वह भी रूपवान् नहीं होता। किंतु परिस्थिति ऐसी नहीं है, अंधकार नील रूपवान् है अतः वायु आदि द्रव्यों में उसका अन्तर्भाव संभव नहीं। 'स्पर्शाभावात्' इसके द्वारा वायुवनन्तर्भाव में हेत्वन्तर उपस्थित किया गया है। इसलिए कि रूप हेतुक अनुमानस्थल में हेतुता का अवच्छेदक अर्थात् नियामक संबंध 'समवाय' होता है स्वरूप नहीं। किंतु स्पर्शाभाव को

अनुमापक हेतु बनाने पर हेतुता का नियामक संबंध 'समवायं न होकर 'स्वरूप' संबंध होता है। यद्यपि यहां पर प्रश्न अनायास उठ खड़ा होता है कि 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियंऽच तिष्ठति' अर्थात् प्रत्येक जन्य द्रव्य अपनी उत्पत्ति के क्षण में निर्गुण और निष्क्रिय ही रहता है इस यौक्तिक नियम के अनुसार जन्य वायु में भी प्रथम क्षणावच्छेदेन स्पर्शाभावात्मक हेतु रह जाता है जहां कि वायु भेदात्मक साध्य रहता नहीं। इस प्रकार अंधकार में वायुभेदात्मक, साध्य के साधक रूप में उपन्यस्त 'स्पर्शाभाव' हेतु व्यभिचारी हो जाता है। अतः स्पर्शाभाव हेतु के द्वारा अंधकार में वायुभेद की सिद्धि नहीं कही जा सकती। फिर कैसे स्पर्शाभाव का हेतु करण संगत बतलाया जा सकता? परंतु इस प्रश्न का एक समाधान यह ज्ञातव्य है कि जो प्राचीन नैयायिक लोग ध्वंस और प्रागभाव के अधिकरण में अत्यन्ताभाव मानते नहीं उनके मत से इस स्पर्शाभाव हेतुक अनुमान को अव्यभिचारी ठहराया जा सकता है। क्योंकि उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न वायु में भी स्पर्श का प्रागभाव अवश्य रहेगा। अन्यथा उसमें उस क्षण के अनंतर क्षणमें भी स्पर्श उत्पन्न नहीं हो पायेगा। क्योंकि किसी भी वस्तु की उत्पत्ति के लिए उसके समवायिकारणात्मक आधारों में उस वस्तु का प्रागभाव अवश्य मान्य होता है। इस प्रकार स्पर्श का प्रागभाव उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न वायु में अवस्थित होने के कारण स्पर्श का अत्यन्ताभावात्मक हेतु प्रथम क्षणावच्छिन्न वायु में नहीं रह पायेगा। जिन वाय्वतिरिक्त वस्तुओं में वह हेतुक्त स्पर्शाभाव रहेगा वहां वायुभेदात्मक साध्य भी रहता ही है अतः प्रकृत स्पर्शाभाव हेतु व्यभिचारी नहीं हो पाता। उक्त प्रश्न का दूसरा समाधान यह है कि प्रकृत अनुमान स्थल में हेतुता का नियामक संबंध शुद्ध स्वरूप संबंध को न मानकर निरवच्छिन्न स्वरूप संबंध को माना जाय। उत्पत्तिकालावच्छिन्न वायु में स्पर्शाभाव निरवच्छिन्न स्वरूप संबंध से इसलिए नहीं रह सकता कि परक्षण में ही वायु में स्पर्श होने के कारण स्पर्शाभाव उसमें नहीं हो सकता। अतः यहां यही मानना होगा कि वायु में स्पर्श का अभाव उत्पत्तिकालावच्छिन्न स्वरूप संबंध से रहता है, निरवच्छिन्न-स्वरूपात्मक प्रकृत हेतुता-नियामक संबंध से नहीं। फलतः निरवच्छिन्न स्वरूपात्मक स्वरूप संबंध से स्पर्शाभाव हेतु वायु से अतिरिक्त आकाश आदि सर्वथा निःस्पर्श द्रव्य में ही जायेगा, जहां वायुभेदात्मक साध्य भी नियमतः रहेगा साध्याभाव नहीं जा पायेगा, हेतु साध्याभाव के आधार में रहने वाला नहीं हो पायेगा, व्यभिचारी नहीं होगा। 'सदागतिमत्वाभावाच्च' यह अन्य हेतु इस आशय से उपस्थापित हुआ है कि पूर्व प्रदर्शित हेतु, विषम व्याप्त थे समव्याप्त नहीं, किंतु यह सदागतिमत्वाभाव हेतु विषम-व्याप्त नहीं, समव्याप्त है। विषम-व्याप्त वह हेतु कहलाता है जिसमें साध्य की व्याप्ति तो आती है किंतु साध्य में उस हेतु की व्याप्ति जा पाती नहीं।

और समव्याप्त वह हेतु कहलाता है जहां कि हेतु में जिस प्रकार साध्य की व्याप्ति होती है, साध्य में भी उसी प्रकार हेतु की व्याप्ति हो जाती है। सारांश यह कि जिस अनुमान स्थल में साध्य और हेतु दोनों ही परस्पर व्याप्यव्यापकभावात्मक होते हैं वहां का हेतु होता है समव्याप्त। और जहां यह परिस्थिति हो पाती नहीं, केवल साध्य की ही व्याप्ति हेतु में जा पाती है वहां का हेतु होता है विषम व्याप्त। 'पर्वतोवह्निमान् धूमात्' अर्थात् पर्वत अग्नियुक्त है, क्योंकि धूमयुक्त है इस अनुमान स्थल में धूम हेतु होता है विषमव्याप्त। क्योंकि यहाँ धूम हेतु में साध्य अग्नि की व्याप्ति ही केवल बन पाती है अग्न्यात्मक साध्य में धूमात्मक हेतु की व्याप्ति बन नहीं पाती। तप्त लौह आदि में आग तो रहती है किंतु धूम रहता नहीं, अतः हेतु धूम की व्याप्ति साध्य भूत आग में बनती नहीं। 'घटो द्रव्यं समवापिकारणत्वात्' अर्थात् घड़ा द्रव्य है क्योंकि गुण क्रिया आदि कार्यों का समवायिकारण है, इस अनुमानस्थल में हेतूक्त समवायिकारणत्व है समव्याप्त हेतु। क्योंकि जहां-जहां समवायिकारण भाव है वहां-वहां सर्वत्र द्रव्यत्व भी रहता है और जहां-जहां द्रव्यत्व है समवायिकारणत्व भी तहां-तहां रहता ही है। क्योंकि ऐसा कोई द्रव्य नहीं बतलाया जा सकता, जिसमें स्वरूपयोग्यतात्मक समवायिकारणता भी न रह पाये। उत्पन्न-विनष्ट जन्य द्रव्य मान्य होने पर भी स्वरूपयोग्यतात्मक समवायिकारणता तो उसमें भी रहती ही है। यहां प्रदर्शित सदागतिमत्वाभाव हेतु भी इस प्रकार समव्याप्त है। क्योंकि जहां-जहां वायुभेदात्मक साध्य रहता है वहां-वहां सर्वत्र सदागतिमत्व का अभाव भी रहता ही है। आकाश आदि व्यापक द्रव्यों में गति है ही नहीं इसलिए वहां सदागतिमत्व नहीं, उसका अभाव रहता है और पृथिवी आदि अव्यापक द्रव्यों में गति होने पर भी वह उनकी गति सदा वर्तमान होती नहीं, इसलिए सदा गतिमत्व का अभाव है।

'प्रौढ़प्रकाशकतेजस्सामान्याभाव स्तमः' यहां पर 'तेजस्सामान्याभावस्तमः' अर्थात् पूर्णरूप से होने वाला तेज का अभाव तम, अर्थात् अंधकार है यह इसलिए नहीं कहा जा सकता कि अंधकार के अंदर भी तैजस परमाणु बिखरे रहते हैं। अतः पूर्णरूप से तेज का अभाव वहां नहीं कहा जा सकता। इसलिए अंधकारात्मक अभाव के प्रतियोगी होने वाले तेज को 'प्रकाशक' इस विशेषण से विशेषित किया गया है। अंधकारस्थ तेजस परमाणु प्रकाशक होना नहीं अतः प्रकाशकतेजस्सामान्याभाव वहां रह जाता है। किंतु इतना कहने पर भी कठिनता यह आ जाती है कि अंधकार में तैजस त्रसरेणु की विद्यमानता के कारण फिर भी प्रकाशक-तेजस्सामान्याभाव का अंधकार स्थल में दुर्घट हो जाता है अतः प्रकाश को 'प्रौढ़' कहकर पूर्णत्व से विशेषित करके 'प्रौढ़-प्रकाशकतेजस्सामान्या-

भावस्तमः' ऐसा कहा गया है। तैजस त्रसरेणु प्रकाशक होने पर भी प्रौढ़ प्रकाशक होता नहीं, अतः अंधकार में उसके रहते हुए भी प्रौढ़ प्रकाशक अर्थात् पूर्ण-प्रकाशक तेज का सामान्याभाव रहता ही है।

'तमोहि न रुपिद्रव्यम्' इत्यादि लेख द्वारा यह बतलाया गया है कि अंधकार रूपवान् द्रव्य नहीं है इसके संबंध में उपस्थाप्य अनुमान का स्वरूप इस प्रकार है। चक्षुग्राह्यत्व मात्र को हेतु कहने पर—घट पट आदि आंख से गृहीत होने वाले द्रव्यों में रुपिद्रव्यभेदात्मक साध्य न होने के कारण व्यभिचार दोष अनिवार्य हो उठता है इसलिए चक्षु में 'आलोकासहकृतत्व' विशेषण दिया गया है। अंधकार में आंख के द्वारा घट का ग्रहण न होने के कारण घट में आलोकसहकृतचक्षुग्राह्यता ही रहती है आलोकासहकृतचक्षुग्राह्यता नहीं इसलिए रूपिद्रव्यभेदात्मक साध्य के वहां न होने पर भी व्यभिचार दोष होता नहीं। रूपिद्रव्य का भ्रमात्मक ज्ञान आलोक के बिना भी हो सकता है, इसलिए 'प्रमायाम्' यह कहा गया है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि अंधकार तेज का अभाव है तो उसमें रूप की प्रतीति एवं कर्म की प्रतीति कैसे होती है? इसी प्रश्न के उत्तर में 'तत्र नीलं तमश्चलति' इत्यादि कहा गया है। कथन का सारांश यह है कि अंधकार में तत्वतः गुण और क्रिया इन दोनों का अस्तित्व है नहीं, अतः उसके आधार पर अंधकार को द्रव्य नहीं सिद्ध किया जा सकता है।

दीपिका

द्रव्यत्वजातिमत्वं गुणवत्वं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम्। लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः। यथा गोः कपिलत्म्। अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः, यथा गोः शृंगित्वम्। लक्ष्मात्रावर्त्तनमसम्भवः। यथा गोरेकशफवत्वम्। एतद्दूषणत्रयरहितो धर्मोलक्षणम्। यथा गौः सास्नादिमत्त्वम्। सएवासाधारण धर्म इत्युच्यते। लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वमसाधारणत्वम्। व्यावर्त्तकस्यैव लक्षणत्वे व्यावृत्तावभिधेयत्वादौचातिव्याप्तिवारणाय तद्भिन्न त्वं, धर्मविशेषणं देयम्। व्यवहारस्यापि लक्षणप्रयोजनत्वे तु न देयम्। व्यावृत्तेरपि व्यवहारसाधनत्वात्।

अनुवाद

द्रव्यजातिमत्व अथवा गुणवत्व द्रव्यसामान्य का लक्षण है। अर्थात् जिसमें द्रव्यत्व जाति रहती है, अथवा समवाय संबंध से गुण रहता है वह होता है द्रव्य। लक्ष्यैकदेश में अर्थात् एक या अनेक कुछ लक्ष्य में लक्षण का न रहना है अव्याप्ति। यथा-गाय का कपिलरूपवत्व लक्षण करने पर वह लक्षण अव्याप्ति-दोषग्रस्त होता है। अलक्ष्य में लक्षण का चला जाना है—लक्षणगत अतिव्याप्ति

दोष। जैसे गाय का लक्षण शृंगित्व करने पर वह लक्षण होता है अतिव्याप्ति-दोषग्रस्त। किसी भी एक लक्ष्य में लक्षण का न जाना है लक्षणगत असंभाव दोष। जैसे गोजातीय गाय बैल आदि पशुओं का यदि 'एकखुरयुक्तता' लक्षण की जाय तो वह लक्षण होता है असंभव दोषग्रस्त। इन तीनों दोषों से रहित धर्म कहलाता है लक्षण। जैसे-गोजातीय पशुओं का 'सास्तावत्व' है लक्षण। ही लक्षण असाधारण धर्म शब्द से भी कहा जाता है। लक्ष्यतावच्छेदकसमनियत अर्थात् लक्ष्य-तावच्छेदक का व्याप्य होता हुआ लक्ष्यतावच्छेदक का व्यापक भी होने वाला धर्म कहलाता है असाधारण-धर्म। लक्ष्य में तदितर पदार्थों से होने वाली भिन्नता को समझाने वाला धर्म ही यदि लक्षण माना जाय तो सभी लक्ष्यलक्षणभाव स्थलों में लक्ष्यनिष्ठ लक्ष्येतर-भेदात्मक व्यावृत्ति में लक्ष्यतावच्छेदक समनियतत्व स्वरूप लक्षण-लक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न हो उठती है। एवं पदार्थ-लक्षण स्थल में लक्ष्यतावच्छेदकभूत पदार्थत्व का समनियतत्व अभिधेयत्व प्रमेयत्व आदि में भी चले जाने के कारण अभिधेयत्व प्रमेयत्व आदि में भी अतिव्याप्ति आपन्न हो उठती है तद्वारणार्थ-'असाधारण धर्मोलक्षणम्' इस लक्षण-लक्षण में व्यावृत्तिभिन्नत्त्व और अभिधेयत्वादि भिन्नत्व विशेषण देय ज्ञातव्य है। किंतु व्यवहार को भी लक्षण का प्रयोजन मानने पर उक्त लक्षण-लक्षण में उक्त व्यावृत्तिभिन्नत्व एवं अभिधेयत्वादिभिन्नत्व विशेषण देय नहीं होता। क्योंकि व्यवहार-साधक तो लक्षण भिन्नाभिन्नता स्वरूप व्यावृत्ति भी होती ही है।

विवरण

किसी भी वस्तु का पूर्ण परिचय उसके लक्षण के द्वारा ही प्राप्त होता है। अतः लक्षण संबंधी विचार यहां उपस्थित किया गया है 'द्रव्यत्वजातिमत्वम्' इत्यादि कथन के द्वारा। 'यल्लक्ष्यते तल्लक्ष्यम्' इस व्याख्या के अनुसार लक्षित होने वाली वस्तु अर्थात् लक्षण के द्वारा समझी जाने वाली वस्तु होती है लक्ष्य'। भाव अर्थ में त्व और तल् प्रत्यय विहित होने के कारण लक्ष्यों में एक 'लक्ष्यता' नामक धर्म रहता है। उस लक्ष्यता से अतिरिक्त किंतु लक्ष्य में ही रहने वाला धर्म होता है 'लक्ष्यतावच्छेदक'। जो धर्म जिसका अवच्छेदक होता है उस धर्म से वह अवच्छिन्न कहलाता है। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझना चाहिए कि 'गंधवत्व' को यदि पृथिवी के लक्षण के रूप में उपस्थित किया जाता है तो पृथिवी होती है लक्ष्य, इसलिए लक्ष्यता आती है पृथिवी पर, और लक्ष्यतावच्छेदक होता है पृथिवीत्व, और तदनुसार लक्ष्यता होती है पृथिवी-त्वावच्छिन्ना। लक्ष्य में रहने वाला, लक्ष्यता से अतिरिक्त धर्म लक्ष्यता का अवच्छेदक इसलिए होता है कि एक आधार में रहने वाले किंहीं दो वस्तुओं

के बीच अवच्छेद्यावच्छेदकभाव संबंध हुआ करता है। किंतु इसके संबंध में विशेष रूप से ध्यान में रखने की बात यह है कि उक्त प्रकार एकाधिकरण स्थित दो पदार्थों के बीच अवच्छेद वही होता है जो कि स्थिर पदार्थ होता है। और कल्पित पदार्थ उससे अवच्छिन्न ही होता है। और दोनों के स्थिर अथवा कल्पित होने पर परस्पर अवच्छेद्यावच्छेदकभाव हो सकता है। अभिप्राय यह कि दोनों दोनों के अवच्छेद भी कहला सकते हैं और दोनों दोनों से अवच्छिन्न भी। अवच्छेदक का अर्थ है भेदक, फलतः भेद का ज्ञापक। जल में विद्यमान लक्ष्यता से पृथिवी में विद्यमान लक्ष्यता अन्य है इसका परिचय जलत्व पृथिवीत्व आदि लक्ष्यतावच्छेदक से ही प्राप्त होता है। क्योंकि जल में रहने वाली लक्ष्यता जहां जलत्व धर्म से अवच्छिन्न होती है वहां पृथिवी में रहने वाली लक्ष्यता जलत्व से अवच्छिन्न न होकर पृथिवीत्व धर्म से अवच्छिन्न होती है। लक्ष्यतावच्छेदक से अवच्छिन्न लक्ष्य भी होता है और लक्ष्यता भी होती है। क्योंकि लक्ष्यतावच्छेदक धर्म के अस्तित्व प्रयुक्त लक्ष्य भी अन्यों से भिन्न समझा जाता ही है। और उस लक्ष्यतावच्छेदक धर्म के साथ सामानाधिकरण्य प्रयुक्त लक्ष्यता भी औरों से अन्य समझी जाती है।

द्रव्यत्व जाति है इस बात की सिद्धि अनुमान प्रमाण से होती है। अनुमान का आकार 'समवायसंबंधवाच्छिन्न संयोगत्वावच्छिन्न कार्यतानिरुपिता या तादात्म्य-संबंधावच्छिन्नकारणता, सा किंचिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात् घनिष्ठकार्यता-निरुपितकपालनिष्ठकारणतावत्' ऐसा ज्ञातव्य है। आशय यह है कि समवाय संबंध से संयोग आदि गुणात्मक कार्य के प्रति तादात्म्य संबंध से द्रव्य-कारण होता है। संयोग अवयवावयविभावानापन्न दो द्रव्यों में ही हुआ करता है अतः उक्त प्रकार द्रव्यों में ही समवाय संबंध उत्पन्न होता है। इसलिए संयोगनिष्ठ कार्यतानिरुपितकारणता द्रव्य में आती है। वह कारणता अवश्य ही किसी न किसी धर्म से अवच्छिन्न होगी। क्योंकि प्रत्येक कारणता अवश्य किसी-न-किसी धर्म से अवच्छिन्न हुआ करती है। वह अवच्छेदक धर्म जिससे कि वह कारणता अवच्छिन्न होती है, द्रव्यत्व को छोड़कर और कोई इस-लिए नहीं हो सकता कि अवच्छेदक के लिए यह अति आवश्यक होता है कि वह अवच्छेद्य का अन्यूनानधिक स्थान में रहने वाला हो। उक्त संयोग-समवायि-कारणता भी सभी द्रव्यों में रहती है और द्रव्यता भी उन द्रव्यों में ही रहता है अतः द्रव्यत्व उक्त प्रकार समवायिकारणता का, अन्यूनानधिकस्थान में रहने वाला होता है। नैयायिकों द्वारा स्वीकृत सत्ता सभी द्रव्यों के अतिरिक्त सभी गुणों और सभी कर्मों में भी रहती है जहां कि उक्त अवच्छेद्यभूत संयोगसमवायि-कारणता रहती नहीं अतः सत्ताजाति अधिक स्थान में रहने वाली हो जाती है

अनधिक स्थान में रहने वाली नहीं। पृथिवीत्व जलत्व आदि द्रव्यगत जातियों के अंदर एक भी कोई, सभी द्रव्यों में वर्तमान नहीं। क्योंकि पृथिवीत्व केवल पृथिवी में रहता है जल में नहीं, और जलत्व केवल जलों में रहता है पृथिवी तेज आदि में नहीं। किंतु अवच्छेदभूत उक्त संयोगगुण सभी द्रव्यों में होता है। अतः पृथिवीत्व जलत्व आदि जातियां उक्त संयोगसमवायिकारणता से न्यूनस्थान में विद्यमान होने के कारण अन्यूनस्थान में रहने वाले हो नहीं पाते। इसलिए द्रव्यत्व ही एक ऐसा प्राप्त होता है जो कि उक्त संयोग-समवायिकारणता का अन्यूनानधिक स्थान में रहने वाला हो। अतः उक्त समवायिकारणता के अवच्छेदक रूप में द्रव्यत्व जाति की सिद्धि होती है। इस प्रकार संयोगसमवायिकारणता के अवच्छेदक रूप में सिद्ध होने वाला द्रव्यत्व, 'जाति रूप से ही मान्य इसलिए होता है कि 'नित्य होते हुए समवाय संबंध से अनेक आधारों में रहने वाला है सामान्य अर्थात् जाति, इस जाति लक्षण का समन्वय उक्त द्रव्यत्व में भली भांति होता है।

गुणवत्वं वा 'इस कथन के द्वारा द्रव्यों का लक्षणांतर इसलिए किया गया है कि द्रव्यत्व जाति को द्रव्यों का लक्षण मानने पर लक्षण और लक्ष्यतावच्छेदक इन दोनों का ऐक्य आपन्न हो उठेगा। लक्ष्यतावच्छेदक और लक्षण इन दोनों में पारस्परिक भेद का होना इसलिए आवश्यक होता है कि उन दोनों की अभिन्नता होने पर लक्षण के द्वारा लक्ष्य में इतर-भेद की अनुमिति करते समय सिद्धसाधन दोष उपस्थित हो उठता है। क्योंकि इतर-भेदज्ञापक लक्षणात्मक लक्ष्यतावच्छेदक लक्ष्यात्मक पक्ष में पहले से ही निश्चित रहता है। इसलिए ज्ञाप्य इतरभेद का निश्चय भी उस लक्ष्यात्मक पक्ष में पहले से ही हुआ मानना पड़ेगा। अतः द्रव्यत्व को द्रव्यों का लक्षण मानना उतना सरस नहीं प्रतीत होता है। गुणवत्व को द्रव्यों का लक्षण मानने पर उक्त आपत्ति इसलिए संभावित नहीं हो पाती है कि गुणात्मक गुणवत्व स्वरूप द्रव्यलक्षण जात्यात्मक द्रव्यत्व रूप लक्ष्यतावच्छेदक से भिन्न रह जाता है अभिन्न होता नहीं।

अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असंभव इन त्रिविध लक्षण दोषों से मुक्त असाधारण धर्म ही कहलाता है लक्षण, इसलिए पहले 'लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वम्' इत्यादि के द्वारा लक्षण-दोषों का परिचय दीपिकाकार दे रहे हैं। 'लक्ष्य' का परिचय पहले दिया जा चुका है। बहुत लक्ष्यों के अंदर कुछ में लक्षण का समन्वित न होना है लक्षणगत अव्याप्ति दोष। उदाहरण के द्वारा दीपिकाकार इस अव्याप्ति का परिचय देते हैं—'यथा गोः कपिलत्वम्'। यहां 'कपिलत्व' का अर्थ विवक्षित है 'कपिलरुपवत्व' अर्थात् कपिलरूप से युक्त होना। अभिप्राय यह है कि गाय

बैल आदि सभी गोजातीय पशुओं का लक्षण यदि यह किया जाय कि कपिलरूप-युक्त पशु गाय अर्थात् गोजातीय है तो यह अव्याप्तिदोष इसलिए आपन्न होता है कि लक्षणीकृत कपिल रूप कुछ गोजातीय पशुओं में होने पर भी सभी गो-जातीय पशु में होता नहीं। फलितार्थ यह कि लक्ष्यभूत लाल आदि गायों में वह लक्षण समन्वित होता नहीं। अतः समस्त गोजातीय पशुओं के परिच्छेदक रूप में, परिचायक रूप में उपस्थापित उक्त 'कपिलरूपवत्व' लक्षण 'अव्याप्ति' नामक दोष से ग्रस्त हो उठता है, वह समस्त गोजातीय पशुओं का सब लक्षण हो पाता नहीं। दीपिकाकार ने अतिव्याप्ति स्वरूप लक्षण-दोष का लक्षण बतलाया है 'अलक्ष्यवृत्तित्वम्' इसका अभिप्रेत अर्थ यह है कि जिसे जिसका लक्षण नहीं किया गया है वह यदि उस अपने अलक्ष्यभूत में भी चला जाय तो विहित लक्षण 'अतिव्याप्ति' दोष मुक्त हो उठता है। इसका उदाहरण उपस्थित किया गया है 'यथा गो श्रृंगित्वम्'। यदि गोजातीय पशुओं का लक्षण यह किया जाय कि जिस पशु को शींघ हो वह होता है गोजातीय पशु 'तो यह निर्वचन अति व्याप्ति दोष से ग्रस्त इसलिए हो उठता है कि सींग गाय, बैल आदि लक्ष्यभूत पशुओं के अतिरिक्त भेंड़-बकरे भैंस आदि पशुओं को भी विद्यमान हैं। अतः लक्षण अपने लक्ष्य की परिधि का अतिक्रमण कर अलक्ष्यों में भी समन्वित हो उठता है जैसा कि उसे नहीं होना चाहिए।

लक्ष्यमात्रावर्तनम् 'यह असंभव का लक्षण बतलाया गया है। तात्पर्य यह है कि यदि एक भी लक्ष्य लक्षणाक्रांत न हो पाये अर्थात् किसी भी लक्ष्य में लक्षण न जा पाये तो लक्षण में 'असंभव' दोष होता है। 'यथागोरेकशफवत्वम्' इसके द्वारा असंभवग्रस्त लक्षण का उदाहरण उपस्थित किया गया है। शफ है खुर। गोजातीय पशुओं का यदि यह लक्षण किया जाय कि 'जिस पशु को एक पांव में एक ही खुर हो उसे गाय अर्थात् गोजातीय पशु समझना चाहिए' तो यह लक्षण किसी एक भी गाय बैल में समान्वित नहीं हो पायेगा। क्योंकि गोजातीय पशुओं के खुर फटे होते है, घोड़े गदहे आदि की तरह बिना फटे नहीं। अतः एक खुरवत्व किसी भी गोजातीय पशु में समन्वित हो नहीं पाता। लक्षण असंभव दोष से ग्रस्त हो जाता है। 'यथा गोः सास्नादिमत्वम्' इसके द्वारा अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असंभव इन तीनों दोषों से रहित समीचीन लक्षण का उदाहरण उपस्थित किया गया है। सास्ना है गलकम्बल, वह प्रत्येक छोटे बड़े गाय बैल गोजातीय पशु को होता ही है और अन्य किसी भी पशु को होता नहीं। अतः गोजातीय पशुओं के परिचर्यार्थ उपन्यस्त 'सास्नावत्त्व' लक्षण अव्याप्ति-अति-व्याप्ति और असंभव इन तीनों उक्त लक्षणदोषों से सर्वथा मुक्त होता है। लक्षण किसे कहा जाय ? लक्षण का लक्षण क्या है ? इस जिज्ञासा के निवृत्यर्थ दीपिका-

कार ने कहा है 'स एव असाधारण धर्म इत्युच्यते'। 'स एव' का अर्थ है 'दूषणत्रयरहित एव' अर्थात् उक्त तीनों लक्षणदोषों से रहित। 'असाधारणधर्मः' यहां पर धर्म में असाधारणता क्या है ? इस जिज्ञासा की निवृत्ति करायी है 'लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वम्' इसके द्वारा। जो जिसका व्याप्य होता हुआ व्यापक भी होता है वह उसका समनियत कहलाता है। तदनुसार 'लक्ष्यतावच्छेदक समानियतत्व' का अर्थ प्राप्त होता है 'लक्ष्यतावच्छेदकव्याप्यत्वेसति लक्ष्यतावच्छेदकव्यापकत्वम्।' इसका भी फलितार्थ यह होता है कि जहां-जहां लक्ष्यतावच्छेदक रहे वहां-वहां लक्षण रहता हो और जहां-जहां लक्षण रहे वहां-वहां लक्ष्यतावच्छेदक रहता हो तो वह लक्षणात्मक धर्म लक्ष्यतावच्छेदकसमनियत कहलाने का अधिकारी होता हैऔर इसीलिए 'असाधारण धर्म' कहलाता है। और इसीलिए लक्षणों में असाधारण-धर्मता आती है। इसके अनुसार गंधात्मक गंधवत्व पृथिवी का अदुष्टलक्षण इसलिए होता है कि प्रत्येक पार्थिव पदार्थ में गंध अवश्य होने के कारण गंधवत्व पृथिवीत्व का व्यापक होता है और गंध का अस्तित्व जल आदि में न होकर केवल पार्थिव पदार्थों में ही होता है अतः गंधवत्व पृथिवीत्व का व्याप्य भी होता है। इस प्रकार लक्ष्यतावच्छेदकीभूत पृथिवीत्व का समनियतत्व लक्षणीकृत गंधत्व में उपस्थित होता है, इसलिए 'गंधवत्व' पृथिवी का असाधारण धर्म होता है, और इसीलिए पृथिवी का सच्चा लक्षण होता है। यहां यह ध्यान देने की बात है कि असाधारण धर्म की उक्त व्याख्या के अंदर यदि 'व्याप्यत्व' न दिया जाय, इतना ही कहा जाय कि 'लक्ष्यतावच्छेदक-व्यापकत्वम्' असाधारणत्वम् 'अर्थात् जो धर्म लक्ष्यतावच्छेदक का व्यापक हो वह कहलाता है असाधारण धर्म, तो इसका कुफल यह होगा कि अतिव्याप्ति दोष से दुष्ट होने के कारण अलक्षण भूत 'श्रृंगित्व' आदि में असाधारण धर्मता आपन्न हो उठेगी। वे भी लक्षणलक्षणाक्रांत हो जाने के कारण गोजातीय आदि का लक्षण कहलाने लगेंगे। क्योंकि गोत्व जहां-जहां होता है वहां-वहां श्रृंगित्व रहता ही है। सारे गोजातीय पशु श्रृंगी ही हुआ करते हैं। इसी प्रकार यदि असाधारणता की उक्त व्याख्या के अंदर 'व्यापकत्व' अंश न देकर इतना ही कहा जाय कि 'लक्ष्यतावच्छेदक-व्याप्यत्वम् असाधारणत्वम्' अर्थात् जो धर्म लक्ष्यतावच्छेदक का व्याप्य होता है वह होता है लक्ष्य का असाधारण धर्म, तो इसका कुफल यह होगा कि उक्त प्रकार अव्याप्ति दोषग्रस्त होने के कारण अलक्षणभूत 'कपिलरुपवत्व' आदि में भी गोजातीय पशु के असाधारण धर्म हो उठेंगे। लक्षणलक्षणाक्रांत हो जाने के कारण गोजातीय पशु के लक्षण कहलाने लगेंगे। क्योंकि कुछ गोजातीय पशु तो कपिलरूप युक्त पाये ही जाते हैं अतः यह 'कपिलरूपवत्व' गोत्व का व्याप्य धर्म तो हो ही जाता है। व्यापकत्व हल के निवेश से कपिलरूपवत्व में गो लक्षणता का निवारण

इसलिए होता है कि रक्त आदि गायों में कपिल रूप न रहने के कारण कपिल-रूपवत्व तो लक्ष्यतावच्छेदकीभूत गोत्व का व्यापक हो पाता नहीं ।

'व्यावर्त्तकस्यैवलक्षणत्वे' इत्यादि के द्वारा उक्त प्रकार लक्षण-लक्षण में अति व्याप्ति की शंका इसलिए उपस्थापित हुई है कि उस शंका का निवारण प्रस्तुत किया जा सके । शंका ग्रंथ का आशय यह है कि लक्षण का प्रयोजन यदि यही मान्य हो कि उसके द्वारा लक्ष्यों को औरों से भिन्न समझा एवं समझाया जा सके, तो इतरभेदस्वरूप व्यावृत्ति, एवं अभिधेयत्व आदि केवलान्वयी धर्म लक्षण-लक्षण के लक्ष्य रूप में मान्य नहीं हो सकते । क्योंकि 'व्यावृत्ति' जब कि स्वयं इतरभेद के अतिरिक्त और कुछ होती नहीं तब उसे व्यावर्तक नहीं ठहराया जा सकता, और अभिधेयत्व आदि जबकि केवलान्वयी धर्म हैं तब सांसारिक सभी पदार्थ के अभिधेय बन जाने के कारण कोई भी सांसारिक वस्तु अभिधेयेतर बन नहीं पाती, जिससे होने वाली भिन्नता स्वरूप व्यावृत्ति का ज्ञापक होने के नाते अभिधेयत्व आदि केवलान्वयी धर्म व्यावर्त्तक बनाया जा सके । अतः व्यावृत्ति एवं अभिधेयत्व आदि व्यावर्तक न हो पाने के कारण उक्त लक्षण-लक्षण के अलक्ष्य हो उठते हैं । किंतु लक्ष्यतावच्छेदक समनियतत्व स्वरूप लक्षण-लक्षण वहां भी चला जाता है । इस प्रकार लक्षण-लक्षण के अलक्ष्यभूत व्यावृत्ति एवं अभिधेयत्व आदि में लक्षण-लक्षण के चले जाने से लक्षण-लक्षण अतिव्याप्ति-दोषग्रस्त हो उठता है । अतः उसे कैसे लक्षण-लक्षण माना जाय ? गवेतरभेद रूप व्यावृत्ति में लक्ष्यतावच्छेदक गोत्व का समनियत्व चला जाता है । और अभिधेयत्व प्रमेयत्व आदि में लक्ष्यता-वच्छेदक पदार्थत्व का समनियतत्व चला जाता है ।

शंका का निराकरण किया गया है 'तद्भिन्नत्वंदेयम्' यह कहकर। अब अति-व्याप्ति इसलिए निवारित हो जाती है कि व्यावृत्ति में व्यावृत्तिभिन्नता और अभि-धेयत्व में अभिधेयत्वभिन्नता जा पाती नहीं । मतांतर में युक्त लक्षण-लक्षण-शरीर में व्यावृत्तिभिन्ना एवं 'अभिधेयत्वभिन्नत्व विशेषण देना अपेक्षित नहीं यह बात बतलायी गयी है 'व्यवहारस्यापि' इत्यादि के द्वारा । इसका सार अर्थ यह है कि जल तेज आदि द्रव्यों और गुणकर्म आदि पदार्थों से भिन्न होने वाली वस्तु पृथिवी इस नाम से कथनीय है, सारे अभिधेय पदार्थ नाम से कहे जाते हैं' इस प्रकार वाक्य-प्रयोग होते ही हैं । तदनुसार तद्भिन्नभिन्नता स्वरूप व्यावृत्ति और अभिधेयत्व प्रमेयत्व आदि भी व्यवहारसाधक रूप में लक्षण ही बन जाते है अलक्षण नहीं रह पाते । और लक्ष्य में लक्षण का समन्वित होना उचित ही है । अतः अतिव्याप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, जिसके निवारणार्थ लक्षणलक्षण में व्यावृत्तिभिन्नत्व या अभिधेयत्व भिन्नत्व देना प्रयोजनीय बतलाया जा सके ।

दीपिका

ननु गुणवत्वं न द्रव्य सामान्यलक्षणम्, आद्यक्षणे उत्पन्नविनष्टद्रव्ये चा व्याप्तेरितिचेन्न । गुणसमानाधिकरण-सत्ताभिन्न-जातिमत्वस्यविवक्षितत्वात् । नन्वेवमत्येकं रूपं रसात्पृथगिति व्यवहाराद्रूपादावतिव्याप्तिरितिचेन्न, एकार्थ समवायादेव तादृशव्यवहारोपपत्तौ गुणे गुणानंगीकारात् ।

अनुवाद

गुणवत्व द्रव्य सामान्य का लक्षण नहीं माना जा सकता । क्योंकि द्रव्य का लक्षण मानने पर प्रथमक्षणावच्छिन्न जन्य द्रव्य में एवं उत्पन्नविनष्ट द्रव्य में लक्षण की अव्याप्ति हो उठेगी । यह कथन इसलिए उचित नहीं है कि गुणवत्व का अर्थ विवक्षित है 'गुणसमानाधिकरण-सत्ताभिन्नजातिमत्व ।' 'एकं रूपं रसात् पृथक्' अर्थात् गुण के आधार में रहने वाली जो सत्ता से भिन्न जाति, तादृश-जातियुक्त वस्तु है द्रव्य, यह 'गुणवान है द्रव्य' इस कथन का विवक्षित अर्थ है । एक रूप रस से पृथक है 'इस प्रकार व्यवहार प्रचलित होने के कारण रूप आदि गुणों में द्रव्यलक्षण की अतिव्याप्ति होगी यह कहना इसलिए सही नहीं कि रूप आदि गुणों में जो एकत्व आदि संख्या तथा पृथकत्व आदि गुणों का व्यवहार होता है वह 'समवाय' संबंध से नहीं किंतु एकार्थ-समवाय संबंध से, इस प्रकार उपपत्ति हो सकती है । क्योंकि गुण आदि में गुण समवाय संबंध से रहता नहीं यही मान्य है ।

विवरण

'ननु गुणवत्वं न' इत्यादि के द्वारा द्रव्यलक्षण में अव्याप्ति की शंका उठायी जा रही है, उसके निवारणार्थ । शंका ग्रंथ का आशय यह है कि 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियं च तिष्ठति' अर्थात् उत्पत्तिशील प्रत्येक द्रव्य एक क्षण अर्थात् अपने उत्पत्तिक्षण में गुण एवं क्रियाओं से रहित हुआ करता है, यह एकमौलिक नियम है । तदनुसार लक्ष्यभूत उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न घट आदि में गुणवत्व स्वरूप द्रव्यलक्षण न जा पाने के कारण गुणवत्वात्मक द्रव्य-लक्षण अव्याप्ति दोष-ग्रस्त हो रहा है । अतः गुणवत्व को द्रव्यों का सही लक्षण कैसे कहा जा सकता है ? इसी प्रकार उत्पन्न-विनष्ट-द्रव्यों में भी गुणवत्वात्मक द्रव्यलक्षण की अव्याप्ति अनिवार्य है । क्योंकि परक्षण में वह द्रव्य स्वयं नहीं रहता और उत्पत्ति क्षण में उक्त नियम के अनुसार उसमें गुण रहता ही नहीं । इसलिए भी गुणतत्व को द्रव्य का लक्षण कहना कठिन है । यहां पर अवान्तर रूप से यह एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न द्रव्य में गुण का अस्तित्व क्यों नहीं मान्य होता

है ? तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि गुण द्रव्य में समवाय-संबंध से उत्पन्न होता है। इसलिए द्रव्य होता है गुण के प्रति समवायिकारण। किसी भी कार्य के प्रति कोई भी कारण तभी मान्य हो सकता है जबकि वह कारणत्वेन अभिमत वस्तु कार्यत्वेन अभिमत वस्तु की उत्पत्ति के अव्यवहित-पूर्व क्षण में रहने वाली हो। अतः कार्यत्वेन अभिमत गुण के प्रति कारणत्वेन अभिमत होने वाले द्रव्य को उस गुणोत्पत्ति से एक क्षण पूर्व निर्गुण भाव से अवस्थित अवश्य मानना पड़ता है। और इसी वस्तुस्थिति के आधार पर यह नियम मान्य होता है कि 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियत्वं च तिष्ठति'। इस नियम में उक्त निष्क्रियता के संबंध में भी यही युक्ति काम देती है। 'गुणसमानाधिकरण' इत्यादि कथन के द्वारा द्रव्य का निर्दोषलक्षण बतलाया गया है। गुणसमानाधिकरण अर्थात् गुण के आधार में रहने वाली जो सत्ता से भिन्न जाति, तादृशजातियुक्त होना ही है द्रव्य का लक्षण। गुण का आधार होता है द्वितीय तृतीय आदि क्षणों से अवच्छिन्न द्रव्य उसमें रहने वाली अर्थ व सत्ता से भिन्न भी होने वाली जाति होती है द्रव्यत्व जाति, सो उत्पत्ति क्षणवच्छिन्न घट आदि द्रव्यों में रह जाती है अतः उक्त अव्याप्ति दोष निवारित हो जाता है। इस कथन का सारांश यह प्राप्त होता है कि उत्पत्ति-क्षणावच्छिन्न द्रव्य में गुण भले ही उक्त यौक्तिक नियम के अनुसार न रहे, परंतु उक्त प्रकार द्रव्यत्व जाति तो रहती है ? अतः द्रव्यलक्षण का समन्वय हो जाता है अव्याप्ति रह पाती नहीं। प्रकृत निर्वचन में 'सत्ताभिन्न' न कहने पर गुण के आधार द्रव्य में रहने वाली जाति पद से सत्ताजाति को लेकर गुण और कर्म में भी द्रव्यलक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न होती है। 'सत्ता-भिन्न' यह कहने पर तादृश जाति पद से सत्ता जाति इसलिए गृहीत नहीं हो पाती कि अपने में अपना भेद रहता नहीं अतः सत्ता सत्ताभिन्न नहीं हो पाती। 'गुणसमानाधिकरण' यह नहीं कहने पर सत्ताभिन्न जाति पद से गुणत्व कर्मत्व जाति को लेकर गुण और कर्म में अतिव्याप्ति आपन्न होती है। 'गुणसमानाधि-करण' यह कहने पर गुणत्व और कर्मत्व 'गुणसमाना इसलिए गृहीत नहीं हो पाता कि गुण और कर्म में गुण न रहने के कारण गुणत्व और कर्मत्व' गुणसमानाधि-करण नहीं हो पाते। 'जाति' न कहने पर उसके स्थान में 'सत्ताभिन्न धर्म' यह कहना होगा और तब 'द्रव्यगुणान्यतरत्व' को उक्त धर्म पद से लेकर फिर गुण में द्रव्यलक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न होगी। इसी प्रकार प्रमेयत्व अभिधेयत्व आदि को ले कर भी गुण कर्म आदि में उक्त द्रव्यलक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न होगी। 'जाति' पद के कहने पर उक्त अतिव्याप्ति इसलिए आपन्न नहीं हो पाती है कि द्रव्यगुणान्यतरत्व एवं प्रमेयत्व अभिधेयत्व आदि जाति नहीं होते। क्योंकि दो के अंदर प्रत्येक कहलाता है अन्यतर, उसमें रहने वाला जातिभिन्न धर्म होता

है अन्यतरत्व । वह जाति इसलिए नहीं हो पाता है कि वह न अनेक आश्रयों में एकसाथ रहने वाला होता है और न समवाय संबंध से रहनेवाला होता है। किसी भी धर्म को जाति होने के लिए यह नितांत आवश्यक होता है कि वह नित्य होता हुआ समवायसंबंध से अनेक आश्रयों में रहने वाला हो। अभिधेयत्व और प्रमेयत्व ये अनेक आश्रय में रहने वाले तो होते हैं किंतु समवाय संबंध से रहने वाले होते नहीं। वे अपने आश्रयों में 'स्वरूप' संबंध से रहते हैं। 'सत्ता-भिन्न जातिमत्व' यहां पर जाति की आश्रयता समवायसंबंध से विवक्षित है। अन्यथा उक्त सत्ताभिन्न जाति पद से गृहीत होने वाले द्रव्यत्व को कालिक संबंध से जन्य गुण एवं कर्मों में ले जाकर पुनः गुण और कर्मों में उक्त अतिव्याप्ति आपन्न हो सकती है। क्योंकि सभी पदार्थ कालिक संबंध से सभी जन्यों में अस्तित्वशील होते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि सारे जन्य कालोपाधि होने से गौण रूप में अंततः कालात्मक ही होते हैं। अतः कालिक संबंध से जिस प्रकार विभिन्न वस्तुओं को काल में रखा जा सकता है उसी प्रकार कालोपाधिभूत जन्य वस्तुमात्र में भी।

पुनः अतिव्याप्ति की शंका उपस्थित की गयी है दीपिका में 'नन्वेवमपि' इत्यादि के द्वारा। 'एवमपि' का अर्थ है उक्त परिष्कृत द्रव्य-लक्षण को मान्यता देने पर भी। इस शंका ग्रंथ का आशय है कि 'एक रूप रस से पृथक है' इस प्रकार होने वाले ज्ञान एवं वाचिक प्रयोग के अनुसार गुण का अस्तित्व गुण में भी मान्य होगा। तदनुसार गुण-सामानाधिकरण सत्ता-भिन्न जाति पद से फिर द्रव्यत्व की तरह गुणत्व भी हस्तगत होगा। और वह गुणत्व समवाय संबंध से गुणों में जा बैठेगा। इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है 'एकार्थसमवायादेव' इत्यादि कथन के द्वारा। उत्तर ग्रंथ का आशय यह है कि समवाय संबंध से गुण में गुण कभी रहता नहीं। रही बात 'एकं रूपं रसात् पृथक्' इस प्रकार होने वाले ज्ञान एवं वाक्य-प्रयोग की, तो वहां विषय होने वाले एकत्व गुण एवं पृथकत्व गुण को रूप में 'एकार्थ समवाय' संबंध से विद्यमान समझना चाहिए, समवाय संबंध से विद्यमान नहीं। उक्त लक्षण में 'जातिमत्व' समवाय संबंध से विवक्षित है अन्य संबंध से नहीं, यह बात बतलायी जा चुकी है। अतः अतिव्याप्ति दोष वस्तुतः आपन्न नहीं होता है। क्योंकि उक्त लक्षण के अंदर 'गुणसमानाधिकरण' यहां गुण का आधार समवाय संबंध से विवक्षित है। जो दो पदार्थ एक आधार में समवाय संबंध से रहते हैं उन दोनों के बीच आपसी संबंध होता है 'एकार्थ समवाय'। एक घड़े में या एक कपड़े में एकत्व संख्या भी रहती है समवाय संबंध से और रूप भी रहता है समवाय संबंध से इसलिए एकत्व गुण रूपगुण में एकार्थ-समवाय संबंध से रहता है। इसी प्रकार पृथकत्व

भी रूप के समावाये से आश्रयभूत घड़े में समवाय संबंध से रहता है, अतः पृथकत्व गुण एकार्थ-समवाय संबंध से रूप गुण के ऊपर रहता है। यह एकार्थ समवाय संबंध दोनों में पारस्परिक हुआ करता है। सारांश यह कि रूप में जिस प्रकार एकत्व एवं पृथक्त्व गुण एकार्थ-समवाय संबंध से रहता है एकत्व और पृथकत्व में भी रूप उसी प्रकार एकार्थ समवाय संबंध से रहता है।

तर्क-संग्रह

रूप-रस-गंध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथकत्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-गुरुत्व-द्रव्यत्व-स्नेह-शब्द-सुख-दुःख-द्वेष-प्रयत्न-धर्माधर्म-संस्काराश्चतुर्विंशति गुणाः।

अनुवाद

रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रव्यत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, ये चौबीस हैं गुण।

दीपिका

गुणं विभजते। द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवान् गुणः। गुणत्व जातिमान् वा। लघुत्व-मृदुत्व-कठिनत्वादीनां विद्यमानत्वात् कथं चतुर्विंशतिगुणा इति चेन्न। लघुत्व स्य गुरुत्वाभाव रुपत्वात्। गुरुत्वकठिनत्वयोरवयवसंयोगविशेषरूपत्वात्।

अनुवाद

गुण का विभाजन करते हैं। जो वस्तु द्रव्य और कर्म इन दो पदार्थों से भिन्न होती हुई सामान्य युक्त हो वह कहलाती है गुण। अथवा यह कहा जाय कि जिसमें गुणत्व जाति रहे वह होता है गुण। लघुत्व (हल्कापन) मृदुत्व (कोमलता) कठिनत्व आदि गुण भी जब विद्यमान हैं तब गुण चौबीस ही हैं यह कैसे बतलाया गया है यह प्रश्न उचित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि लघुत्व कोई अतिरिक्त गुण नहीं है, यतः वह गुरुत्वगुण का अभाव ही है। इसी प्रकार मृदुत्व कठिनत्व भी अवयवगत विभिन्न प्रकार संयोग ही हैं अतिरिक्त गुण नहीं।

विवरण

गुण का लक्षण यदि इतना ही किया जाय कि 'सामान्यवान् है गुण', तो द्रव्य और कर्म में उक्त गुण लक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न होगी। क्योंकि द्रव्यत्व सामान्य द्रव्यों में और कर्मत्व सामान्य कर्मों में रहता ही है। सत्ता सामान्य द्रव्य और कर्म दोनों में रहता है। अतः गुण लक्षण में 'द्रव्यकर्मभिन्नत्वे-

सति' यह भी जोड़ा गया है । इसके कहने पर द्रव्य और कर्म में गुण लक्षण की अतिव्याप्ति इसलिए नहीं हो पाती है कि अपने में अपना भेद न रहने के कारण द्रव्य द्रव्यभिन्न नहीं हो पाता और कर्म कर्मभिन्न नहीं हो पाता । यदि इतना ही कहा जाय कि 'जो द्रव्य और कर्म से भिन्न है वह है गुण 'तो सामान्य आदि भी गुण लक्षणाक्रान्त हो उठते हैं । क्योंकि सामान्य आदि भी स्वतंत्र पदार्थ होने के कारण द्रव्य और कर्म से भिन्न होते ही हैं । 'सामान्यवान्' इसके कहने पर सामान्य विशेष आदि गुण लक्षण की अतिव्याप्ति इसलिए नहीं हो पाती है कि सामान्य पदार्थ द्रव्य गुण और कर्म इन तीन पदार्थों में ही रहता है सामान्य विशेष आदि में नहीं । लघु लक्षणांतर उपस्थित करते हैं दीपिकाकार 'गुणत्व-जातिमान् वा' । अर्थ यह है कि गुणत्व जाति जिसमें समवाय संबंध से रहता है वह होता है गुण । किंतु यहां यह ध्यान देने योग्य है कि 'गुणत्वजोतिमान् वा यहां पर' 'वा' 'शब्द का प्रयोग अस्वरस सूचक रूप में उपन्यस्त हुआ है । क्योंकि इस लक्षण पक्ष में लक्ष्यतावच्छेदक और लक्षण दोनों एकतापन्न हो उठते हैं । ऐसी परिस्थिति में लक्षण से की जाने वाली इतरभेद की अनुमिति के संपादन के समय साधक हेतु सिद्धसाधन दोष ग्रस्त हो उठता है, यह बात पहले बतलायी जा चुकी है । अथवा इस द्वितीय लक्षण की ओर से यह कहा जा सकता है कि जो प्राचीन विवेचक 'सिद्धयभाव' को पक्षता न मानकर इच्छा आदि को ही पक्षता मानते थे उनके मत का आश्रयण करके गुण का यह द्वितीय लक्षण उपस्थापित हुआ है । क्योंकि उनके मत में सिद्धसाधन पक्षता का विघटक न होने के कारण दोष हो पाता नहीं । गुणत्व भी द्रव्यत्व की तरह एक जाति है यह सिद्ध होता है अनुमान के द्वारा । अनुमान का आकार 'द्रव्यकर्मभिन्ने सामान्यवति या कारणता सा किंचिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् घटनिष्ठकार्यतानिरुपित-कपालनिष्ठ-कारणतावत्' यह ज्ञातव्य है । इस अनुमान के द्वारा गुणत्व जाति की सिद्धि इस प्रकार होती है कि द्रव्य और कर्म से भिन्न सामान्यवान् होता है गुणमान्य, अन्य नहीं, इसलिए द्रव्यकर्मभिन्न सामान्यवान् में रहने वाली कारणता पद से गुण में ही रहने वाली कारणता हस्तगत होती है अन्य नहीं । और वह गुणनिष्ठ कारणता जिस धर्म से अवच्छिन्न होगी वह धर्म गुणत्व को छोड़कर अन्य कोई हो नहीं सकता । क्योंकि अवच्छेद्य का समनियत धर्म ही अवच्छेदक होता है यह बात पहले बतलायी जा चुकी है । रघुनाथ शिरोमणि ने गुणपद के शक्यताव-च्छेदक रूप में गुणत्व जाति की सिद्धि बतलायी है । तदनुसार उनके मत में गुणत्वजाति के साधक अनुमान का आकार 'गुणपदनिष्ठवाचकतानिरुपिता वाच्यत, किंचिद्धर्मावच्छिन्ना, वाच्यतात्वात् घटपदनिष्ठ वाचकतानिरुपिवाच्यतावत्' यह ज्ञातव्य है । समझाने वाला पद होता है वाचक और उसके द्वारा समझी जाने

वाली वस्तु होती है वाच्य। तदनुसार पद में आती है वाचकता और समझी जाने वाली वस्तु में होती है वाच्यता। वाच्यवाचकभावापन्न शब्द और अर्थ में रहने वाली वाचकता और वाच्यता इन दोनों के भी कारणता और कार्यता स्थल की तरह परस्पर निरुप्य-निरुपक भाव होता है। अतः 'गुणपद निष्ठवाचकता-निरुपितवाच्यता' इस पक्ष का उल्लेख संगत होता है। कारणता एवं कारणता जिस प्रकार नियमतः किसी न किसी धर्म से अवश्य अवच्छिन्न होती है तद्वत् पदनिष्ठवाचकता और अर्थनिष्ठ वाच्यता भी किसी न किसी धर्म से अवच्छिन्न अवश्य होती है। तदनुसार गुणपद में विद्यमान वाचकता से निरुपित होने वाली गुणनिष्ठ वाच्यता भी किसी न किसी धर्म से अवच्छिन्न अवश्य मान्य होगी। क्योंकि वह भी अन्य वाच्यताओं के समान एक वाच्यता ही होगी ? इस वाच्यता का वह अवच्छेदक धर्म गुणत्व को छोड़कर अन्य कोई हो न सकेगा। क्योंकि अवच्छेद्य का अन्यूनानधिकस्थान में रहने वाला ही धर्म उसका अवच्छेदक होता है यह बात अनेक बार बतलायी जा चुकी है, अतः इस अनुमान से गुणत्व जाति की सिद्धि होती है। 'लघुत्वमृदुत्वकठिनत्वादीनाम्' इत्यादि के द्वारा प्रदर्शित चौबीस गुणों से अतिरिक्त गुणों के अस्तित्व की आशंका का निराकरण किया गया है।

तर्क संग्रहः

उत्क्षेपणापक्षेपणाकुंचन-प्रसारण-गमनानि पंचकर्माणि।

अनुवाद

उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन-प्रसारण और गमन ये पांच कर्म हैं।

विवरण

उर्ध्वदेश संयोग के लिए अपेक्षित होने वाली क्रिया है उत्क्षेपण। निम्नदेश-संयोग के लिए अपेक्षित होने वाली क्रिया है अवक्षेपण। संकुचना है आकुंचन। सकुचने के विपरीत क्रिया होती है प्रसारण और इन चारों से अतिरिक्त अन्य सारी क्रियाएं हैं 'गमन'।

दीपिका

कर्मविभजते उत्क्षेपणेति। संयोगभिन्नत्वे सति संयोगासमवायिकारणं कर्म। कर्मत्वजातिमद्वा। ननु भ्रमणादेरप्यतिरिक्तस्य कर्मणः सत्वात् पंचेत्यनुपपन्नमिति चेन्न भ्रमणादीनामपि गमनेऽन्तर्भावात्।

अनुवाद

कर्म का विभाजन करते हैं—उक्षेपण इत्यादि के द्वारा। संयोग से भिन्न होते हुए संयोग के प्रति असमवायीकरण होने वाला है कर्म। अथवा कर्मत्व जाति जिसमें हो वह होगा कर्म। भ्रमण आदि भी जब कि उक्त उत्क्षेपण आदि से अतिरिक्त विद्यमान हैं तब पांच ही कर्म हैं, यह कथन कैसे उत्पन्न होता है? यह प्रश्न उचित नहीं। क्योंकि गमन आदि कर्मों का भी गमन में अन्तर्भाव हो जाता है इसलिए पंचत्व कथन विरुद्ध नहीं।

विवरण

कर्म के लक्षण में 'संयोगभिन्नत्वे सति' इतना न कहकर यदि 'संयोगासमवायिकारणं कर्म, इतना ही कहा जाय अर्थात् संयोगात्मक कार्य के प्रति असमवायिकारण होने वाला है कर्म, इतना ही कर्म का निर्वचन किया जाय तो संयोग में कर्मलक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न होगी। क्योंकि संयोग भी संयोगज संयोग के प्रति असमवायी कारण होता है। सुतरां संयोगासमवायिकारणत्व स्वरूप कर्म लक्षण प्रथम संयोग में चला जाता है। संयोगभिन्नत्व विशेषण देने पर अतिव्याप्ति इसलिए निराकृत हो जाती है कि संयोग संयोग से भिन्न होता नहीं। अपने में अपना भेद रहता नहीं यह बात अनेक बार बतलायी जा चुकी है। यदि 'संयोगभिन्नत्वं कर्मत्वम्' अर्थात् जो संयोग से भिन्न हो वह है कर्म इस प्रकार कर्म का निर्वचन किया जाय, कर्म-लक्षण में 'संयोगासमवायिकारणत्व' स्वरूप विशेष्य दल न कहा जाय तो द्रव्य, संयोग-भिन्न समस्त गुण, सामान्य आदि सभी पदार्थों में कर्मत्वक्षण की अतिव्याप्ति होगी, उसमें कर्मता आपन्न हो उठेगी अतः उक्त विशेष्यांश लक्षण में निविष्ट हुआ है। 'संयोगासमवायिकारणत्व स्वरूप विशेष्यांश के लक्षण में निवेश से उक्त अतिव्याप्ति इसलिए निवारित हो जाती है कि संयोग के प्रति असमावयिकारण, संयोग और कर्म इनको छोड़कर और कोई होता नहीं। ननु भ्रमणादिकमपि इत्यादि ग्रंथ से अधिक कर्म की मान्यता का प्रश्न उठाया गया है और 'गमनेऽन्तर्भावात्' इत्यादि के द्वारा उस प्रश्न का निराकरण किया गया है।

तर्क संग्रहः

परमपरं चेति द्विविधं सामान्यम्।

अनुवाद

सामान्य पदार्थ के प्रभेद दो हैं, पर सामान्य और अपर सामान्य।

विवरण

सामान्य का लक्षण आगे चलकर मूलकार के द्वारा इस प्रकार बतलाया ही जाने वाला है कि 'जो नित्य होता हुआ अनेक आश्रयों में समवाय संबंध से रहने वाला हो वह कहलाता है सामान्य। यद्यपि यह सर्वथा सत्य है कि सामान्य ज्ञान के बिना विशेष संबंधी जिज्ञासा उदित होती नहीं। तदनुसार उचित यह था कि पहले सामान्य का लक्षण बतलाया जाता और उसके अनंतर यह सामान्य का विभाजन उपस्थित किया जाता। परंतु यहां प्रथमतः सामान्य का विभाजन ही संभवतः इसलिए किया गया है कि इसके पूर्व भी विभाजन का ही प्रसंग चलाया गया है। तदनुसार श्रोताओं के हठात् सामान्य के प्रभेदों की जिज्ञासा उदित हो सकती है।

दीपिका

सामान्यं विभजने परमिति। परमधिकदेशवृत्ति, अपरं न्यूनदेशवृत्ति। सामान्यादिचतुष्ठये जातिर्नास्ति।

अनुवाद

'परमपरंचेति' इसके द्वारा सामान्य का विभाजन करते हैं। अधिक आश्रयों में रहने वाला सामान्य परसामान्य कहलाता है और अल्प आश्रयों में रहने वाला सामान्य अपर-सामान्य कहलाता है। सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन चार पदार्थों में सामान्य रहता नहीं।

विवरण

सामान्य के अर्थात् जाति के प्रभेद दो हैं। एक है पर सामान्य और दूसरा है अपर सामान्य। सामान्य और जाति ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। परजाति वह कहलाती है जो कि अधिक आश्रयों में रहती है और अपर जाति वह कहलाती है जो अल्प आश्रयों में रहती है। परत्व और अपरत्व ये दोनों आपेक्षिक होते हैं। क्योंकि कोई भी अधिक स्थान में रहने वाला किसी अल्पस्थान में रहने वाले को अपेक्षा करके होता है, और कोई अल्पस्थान में रहने वाला भी होता है किसी अधिक स्थानों में रहने वाली की अपेक्षा करके ही। सारांश यह की जाति तीन प्रकार की हैं। एक पर जाति, दूसरी अपर जाति और तीसरी परापर जाति। पर जाति वह होती है जो कि अन्य सभी जातियों से अपेक्षाकृत अधिक स्थानों में रहती है। जैसे नैयायिकों के द्वारा मान्यता प्राप्त सत्ता जाति। क्योंकि न्याय वैशेषिक सिद्धांत में सत्ता जाति नौ द्रव्यों, चौबीस गुणों और पांच कर्मों में दण्डाय-

मान रुप से विद्यमान मानी जाती है। द्रव्य गुण और कर्म इन्हें छोड़कर अन्यत्र सामान्य आदि में सामान्य रहता ही नहीं, कोई भी जाति रहती ही नहीं। अतः सत्ता सर्वाधिक स्थान में रहने वाली जाति होती है। इसलिए वह द्रव्यत्व गुणत्व आदि अन्य जातियों से 'पर' कहलाती है। जो जाति अपेक्षाकृत अन्य सभी जातियों से अल्प स्थान में ही रहने वाली होती है वह कहलाती है 'अपर'। जैसे घटत्व पटत्व आदि जातियां अपर जातियां होती हैं। क्योंकि घटत्व पटत्व आदि से अल्प स्थान में रहने वाले 'तद्घटत्व' 'तत्परत्व' इत्यादि जाति नहीं माने जाते जिनसे अधिक स्थान में वर्तमान उन घटत्व पटत्व आदि को ठहराया जाय। 'परापर' वे जातियां होती हैं जो अपेक्षाकृत कुछ अन्य जातियों से अधिक स्थानों में रहने वाली होती हुई अपेक्षाकृत कुछ अन्य जातियों से अल्प स्थानों में रहने वाली होती हैं। इस तृतीय 'परापर' श्रेणी में आने वाली जातियां होती हैं द्रव्यत्व गुणत्व पृथिवीत्व आदि जातियां। क्योंकि ये जातियां उक्त सत्ता नामक पर जाति से अल्पस्थान में रहनेवाली होती हैं और घटत्व रुपत्व आदि जातियों से अधिक स्थानों में रहने वाली होती हैं द्रव्यत्व घटत्व और पृथिवीत्व दोनों से अधिक स्थानों में रहने वाला होता है किन्तु पृथिवीत्व घटत्व पटत्व आदि से ही अधिक स्थानों में रहने वाला होता है। सामान्य कहां-कहां रहते हैं इस बात को निशेधमुख से दीपिकार बतलाते हैं—'सामान्यादिचतुष्टये जाति-र्नास्ति'। फलतः सामान्यात्मक जातियां द्रव्य गुण और कर्म इन तीन में ही रहती हैं।

तर्क-संग्रह

नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव।

अनुवाद

नित्य द्रव्यों में रहने वाले विशेषतो अनंत अर्थात् बहुत हैं।

दीपिका

विशेषं विभजते नित्येति। पृथिव्यादि चतुष्टयस्य परमाणवः, आकाशादिपंचकश्च नित्यद्रव्याणि।

अनुवाद

विशेष का विभाजन उपस्थित करते हैं नित्यद्रव्यवृत्तयः इत्यादि के द्वारा। पृथिवी जल तेज और वायु इनके परमाणु और आकाशादि पंचक, अर्थात् आकाश काल दिक् आतमा और मन ये पांच, नित्य द्रव्य हैं।

विवरण

पृथिवी, जल, तेज और वायु इनके सर्वाधिक क्षुद्र अंश कहलाते हैं परमाणु। ये परमाणु भी आकाश आदि द्रव्यों की तरह नित्य इसलिए होते हैं कि परमाणुओं को नित्य मानने पर उन्हें भी सावयव मानना होगा। अर्थात् परमाणुओं के भी अंश मान्य होंगे। और कल्प्य अंश यदि निरवयव अर्थात् अंश रहित मान्य हों तो तत्वतः वे ही निरवयव नित्य परमाणु हो उठेंगें इसलिए परमाणुओं की नित्यता मान्य हो जायेगी। और यदि परमाणुओं के उन कल्प्य अंशों को भी सावयव अर्थात् सांश माना जाय तो कहीं नित्य निरंश परमाणु न मान्य हों बैठें इस भय से उन परमाणु अंशांशों को भी सांश और उनके अंशों को भी सांश मानना पड़ेगा। जिसका कुफल यह होगा कि अवयवावयव-धारा की मान्यता प्रयुक्त अनवस्था आपन्न हो उठेगी, जिससे दूसरी कठिनता यह आ गिरेगी कि एक राई और एक पर्वत इन दोनों में अनुभवसिद्ध परिमाण-गत अंतर असंभव हो उठेगा। क्योंकि राई और पर्वत दोनों की अवयवावय-धाराएं अनंत ही होंगी। परमाणुओं को नित्य निरवयव एवं परिमाण के तारतम्य का विश्रांतिस्थान मान लेने पर उक्त राई और पर्वत के परिमाणों का तारतम्य इसलिए सुरक्षित हो पाता है कि निरवयव परमाणुओं की संख्यागत महान अंतर के आधार पर दोनों अतिविरुद्ध परिमाणयुक्त सिद्ध हो पाते हैं।

इस न्याय वैशेषिक सिद्धांत में दो सजातीय परमाणुओं से एक द्व्यणुक द्रव्य और तीन सजातीय द्व्यणुकों से एक त्र्यणुक द्रव्य उत्पन्न होता है। इस त्र्यणुक द्रव्य को ही जगह-जगह पर त्रसरेणु त्रुटि आदि शब्द से कहा जाता है। विशेष का लक्षण मूलकार स्वयं आगे चलकर बतलाने वाले हैं। विशेष का वह लक्षण होगा 'व्यावर्त्तकत्व'। इसका तात्पर्यार्थ यह है कि जो स्वभिन्न होने वाले किसी के द्वारा व्यावृत्त न होता हुआ दूसरों का व्यावर्त्तक हो वह कहलाता है विशेष। गुणकर्म आदि भी व्यावर्त्तक होते हैं सही किंतु वे स्वयं भी जाति के द्वारा अन्यों से व्यावर्तित होते हैं, भिन्न समझाये जाते हैं अतः उनमें उक्त प्रकार व्यावर्त्तकत्व बन नहीं पाता जैसा विशेष में मान्य होता है।

अथवा यों कहा जाय कि 'व्यावर्त्तक' होता है किसी को दूसरों से भिन्न समझाने वाला। इसके अनुसार यद्यपि सभी लक्षण चाहे वे द्रव्यात्मक या गुणात्मक अथवा कर्मात्मक या अन्यात्मक सभी व्यावर्त्तक होने के कारण विशेष के उक्त लक्षण से आक्रांत हो आते हैं। परंतु प्रकृत में 'व्याववर्त्तक' का अर्थ विवक्षित है नित्य द्रव्यों का व्यावर्त्तक। इसीलिए यहां 'नित्यद्रव्यवृत्तयः' यह कहा भी गया है। समान गुण क्रिया के दो परमाणुओं को तद्गत विशेष पदार्थ की मान्यता के बिना भिन्न नहीं समझा जा सकता है। ऐसी परिस्थिति

में केवल व्यावर्त्तकत्व के अन्यत्र गुण कर्म आदि में विद्यमान होने पर भी नित्य-द्रव्य-व्यावर्त्तकत्व विशेष को छोड़कर अन्यत्र कहीं जा नहीं पाता, इसलिए विशेष-लक्षण की अतिव्याप्ति अन्य लक्षणों में नहीं दी जा सकती। विशेष लक्षण को दुष्ट नहीं ठहराया जा सकता।

इस प्रकार विशेष के लक्षण की ओर ध्यान देने पर विशेष के संबंध में–उपस्थित होने वाला 'विशेष नामक अतिरिक्त पदार्थ क्यों मान्य है? यह प्रश्न भी अनायास निरस्त हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि एक घट से दूसरे घट तो इसलिए भिन्न सिद्ध हो सकता है कि दोनों के समवायिकारण कपाल भिन्न होते हैं। और इसी प्रकार दो कपालों के अंदर भी दोनों के कपालिकात्मक समवायिकारण की विभिन्नता के कारण भेद सिद्ध होगा। इस प्रकार अपने-अपने अवयवात्मक समवायिकारणों की विभिन्नता के कारण दो द्वयणुकों तक में तो भेद सिद्ध हो पायेगा, किंतु दो परमाणुओं के बीच विद्यमान पारस्परिक भेद को विशेष पदार्थ के अतिरिक्त और कोई नहीं समझा सकता। उक्त युक्ति के अनुसार निरवयवता के कारण अवयवात्मक समवायिकारण की विभिन्नता के आधार पर परमाणुओं को भिन्न नहीं ठहराया जा सकता। अतः परमाणुओं में भेद स्थापनार्थ विशेष पदार्थ की मा यता नितांत आवश्यक है। विशेष-लिंग के द्वारा परमाणुओं में भेद के साधक अनुमान का आकार 'अयं परमाणुः अन्येभ्योभिन्नः भिन्नविशेषवत्वात्' अर्थात् यह परमाणु औरों से भिन्न है, क्योंकि विलक्षण विशेषयुक्त है इस प्रकार ज्ञातव्य है। आश्रयभूत परमाणुओं के भेदक दो विशेषों में विद्यमान भेद का ज्ञापन कौन करेगा? यदि यह कहा जाय कि विशेषगत भेद को विशेषांतर बतलाता है, तो यह कथन इसलिए उपयुक्त नहीं होगा कि विशेषों की धारा अनवस्थित रूप में मान्य हो उठेगी जिसे सहज नहीं कहा जा सकता, यह प्रश्न इसलिए स्थान पाता नहीं कि विशेष पदार्थ स्वतोव्यावृत्त रूप में मान्य है। 'स्वतो व्यावृत्त' का अर्थ होता है स्वयं भिन्न होने वाला। इसलिए विशेष के लिए भेदकांतर विशेष की आवश्यकता होती नहीं। नवीन नैयायिकों ने इस स्वतंत्र पदार्थभूत विशेष को मान्यता नहीं दी है। उनका कहना यह है कि परमाणुओं के भेदक रूप में मान्य विशेषों को जिस प्रकार स्वतः व्यावृत्त मान लिया जाता है उसी प्रकार परमाणुओं को ही क्यों न स्वतोव्यावृत्त मान लिया जाय? क्योंकि ऐसा मान लेने पर यह प्रश्न ही नहीं उठेगा कि परमाणुओं को परस्पर भिन्न विशेष के अतिरिक्त और कौन समझायेगा? अतः परमाणु कल्पनीय विशेष की तरह स्वतः भिन्न हो जायेंगे अन्य भेदक की अपेक्षा होगी नहीं, जिसके आधार पर स्वतंत्र रूप से विशेष पदार्थ की मान्यता ठहरायी जा सके।

तर्क-संग्रह

समवायस्त्वेक एव ।

अनुवाद

समवाय एक ही प्रकार है ।

दीपिका

समवायस्य भेदो नास्तीत्याह ।

अनुवाद

समवाय के प्रभेद नहीं है । 'यह बतलाते हैं' समवायस्त्वेक इत्यादि के द्वारा ।

विवरण

'नित्यसंबंधत्वं समवायत्वम्' अर्थात् नित्य संबंध है समवाय, यह समवाय का लक्षण मूल ग्रंथ के द्वारा आगे सूचित किया जाएगा । समवाय पदार्थ की मान्यता में व्यापक युक्ति यह है कि कोई भी पदार्थ कहीं भी किसी न किसी संबंध से ही रहता है, संबंध के बिना रहता नहीं । जैसे भूतल में घट संयोग संबंध से रहता है । इसी प्रकार द्रव्य में गुण कर्म आदि भी किसी न किसी संबंध से ही रह सकते हैं संबंध के बिना नहीं । द्रव्य में द्रव्य गुण कर्म आदि के अस्तित्व का वह नियामक संबंध समवाय के अतिरिक्त और कोई हो सकता नहीं अतः समवाय संबंध की मान्यता आवश्यक होती है । यद्यपि मीमांसक आदि दार्शनिकों का इस संबंध में वक्तव्य यह है कि अभाव के अस्तित्व नियामक रूप में अवश्य स्वीकरणीय, स्वरुप संबंध को ही गुण कर्म आदि का भी अस्तित्व नियामक मान लेना उचित है । समवाय नामक एक स्वतंत्र पदार्थ क्यों माना जाय ? परन्तु नैयायिक एवं वैशेषिक लोग मीमांसकों के इस समवाय-विरोधी कथन से सहमत इसलिए नहीं होते हैं कि उन्हें नित्य एक समवाय को गुण कर्म आदि के अस्तित्व का नियामक न मानकर अनित्य अनन्त स्वरूप संबंध को तत्स्थानापन्न मानने में महान् गौरव दीख पड़ता है । अब नैयायिकों के समक्ष प्रश्न यह उपस्थापित हो सकता है कि एक ही नित्य समवाय संबंध को सभी गुण एवं कर्म आदि का अस्तित्व नियामक मानने पर आपत्ति यह होगी कि निष्क्रिय द्रव्य भी क्रियावान् हो पड़ेगा । क्योंकि गुण का अस्तित्व-नियामक समवाय उस द्रव्य में अवश्य ही रहेगा जो कि उस निष्क्रिय द्रव्य में क्रिया के अस्तित्व का भी नियामक बन बैठेगा । इसका कुफल यह होगा कि 'आकाशं क्रियावत्' अर्थात् आकाश सक्रिय है इस प्रकार प्रभा, प्रतीति एवं प्रमाणिक वाक्य प्रयोग अनिवार्य हो उठेगें ।

इसका उत्तर नैयायिक एवं वैशेषिकों की ओर से ज्ञातव्य यह है कि तत्वतः समवाय संबंध की एकता मान्य होने पर भी समवाय गत औपाधिक भेद मान्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार आकाश के एक होने पर भी उपाधिभूत घट मठ आदि की विभिन्नता के आधार पर विभिन्न घटाकाश मठाकाश आदि मान्य होते हैं उसी प्रकार तत्वतः समवाय की एकता होने पर भी गुण-प्रतियोगिक समवाय, कर्मप्रतियोगिक समवाय, आदि रूप में समवाय विभिन्न हो जाता है इसलिए गुण-समवाय को लेकर निष्क्रिय को सक्रिय होने की आपत्ति नहीं दी जा सकती है। नव्य नैयायिक लोगों ने अनौपाधिक रूप में भी समवाय को अनेक माना है अतः उनके मत में तो उक्त प्रश्न उपस्थापित ही नहीं हो सकता।

तर्क संग्रहः

अभावश्चतुर्विधः। प्रागभावः, प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्चेति।

अनुवाद

अभाव चार प्रकार के हैं, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव।

विवरण

'नास्ति' और 'न' अर्थात् यहां वह **नहीं है**, और यह वह **नहीं है** इत्यादि प्रतीतियों का विषय होने वाला आधार और प्रतियोगी इन दोनों से भिन्न पदार्थ होता है अभाव। इसी अभिप्राय के अनुसार 'नजपदजन्य-प्रतीति-विषयत्वं अभावत्वम्' ऐसा अभाव का लक्षण माना जाता है। कुछ लोग अभाव का लक्षण यह बतलाते हैं कि 'भावभिन्नत्वं अभावत्वम्' अर्थात् द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष और समवाय, इन छ भाव पदार्थों से भिन्न होने वाला पदार्थ है अभाव। अभाव के प्रभेद चार हैं—यथा प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। इन सबका अलग-अलग लक्षण ग्रन्थकार आगे बतलाने वाले हैं, फिर भी संक्षेप में इनका परिचय यहां दे देना उचित होगा। किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति के पूर्व जो उसका अभाव, रहता है, वह अभाव होता है प्रागभाव। जैसे जो घड़ा कल उत्पन्न होने वाला है, आज विद्यमान उसका अभाव है उसका प्रागभाव। प्रध्वंसाभाव है नाश। अर्थात् कोई भी पदार्थ जब उत्पन्न होकर कालान्तर में नष्ट होता है तब होने वाला वह उसका नाश होता है प्रध्वंस-अभाव। जैसे घड़े पर पत्थर मारने से जो उसका अभाव हो जाता है जिसे शब्दान्तर में फूटना आदि शब्दों से भी कहा जाता है वह घड़े का अभाव होता है प्रध्वंस-अभाव। अन्यन्ताभाव उस अभाव को कहते हैं जो कि किसी भी वस्तु के एकत्र रहने पर भी

अन्यत्र उसका अभाव होता है। जैसे कोई भी व्यक्ति जब किसी एक घर में रहता है उसी समय जो दूसरे घर में उसका अभाव प्रतीत होता है वह अभाव होता है अत्यन्ताभाव। अन्योन्याभाव है भेद। प्रत्येक वस्तु तादात्म्य संबंध से अपने में ही अवस्थित होता है औरों में नहीं, अतः औरों में उसका तादात्म्य संबंध से भाव नहीं रहता है, अभाव रहता है। वही अभाव कहलाता है अन्योन्याभाव। यही अभाव भेद, परस्पराभाव आदि नामों से भी अभिहित होता है। अन्योन्याभाव, परस्पराभाव इन नामों से वह अभिहित इसलिए होता है कि 'घड़ा कपड़े से भिन्न है' ऐसा समझते ही अनायास 'कपड़ा भी घड़े से भिन्न है' यह प्रतीति हो जाती है। सारांश यह कि भेद नियमतः पारस्परिक होता है। प्रागभाव प्रध्वंसाभाव और अन्यन्ताभाव इन तीनों को एक शब्द में 'संसर्गाभाव' भी कहा जाता है। 'विनाश्यभावत्वं प्रागभावत्वम् जन्याभावत्वं ध्वंसत्वम् नित्य संसार्गाभावत्वं अत्यन्ताभावत्वम्' इस प्रकार प्रथम तीन अभावों के अलग लक्षण बतलाये जाते हैं। आशय यह है कि अभाव के तीन स्वभाव पाये जाते हैं। एक अभाव ऐसा पाया जाता है जिसका नाश तो होता है किन्तु उत्पत्ति उसकी होती नहीं। दूसरा अभाव ऐसा पाया जाता है जिसकी उत्पत्ति तो होती है किन्तु उसका नाश होता नहीं' तीसरा अभाव ऐसा होता है जिसकी न तो उत्पत्ति होती है और न उसका नाश होता है। जिस वस्तु की जब उत्पत्ति होती है, उसके पहले विद्यमान उसका अभाव अनादि होता है। क्योंकि संसार अनादि है। अतः प्रागभाव की उत्पत्ति होती नहीं। किन्तु उस पदार्थ की, जिसका कि प्रागभाव अनादि काल से आ रहा था, जभी उत्पत्ति होती है उसके पर क्षण में ही वह अनादि काल से विद्यमान उसका प्रागभाव नष्ट हो उठता है। इसलिए प्रागभाव विनाशी होता है। द्वितीय अभाव है ध्वंस। इसका नाश नहीं होता। क्योंकि ध्वंस का नाश मानने पर जिस वस्तु का ध्वंस हो जाता है उसका भी अस्तित्व मानना होगा, जो कि सर्वथा अनुभव-विरुद्ध है। किन्तु ध्वंस की उत्पत्ति होती है। घड़े पर मुद्गर प्रहार करने पर घट का ध्वंस उत्पन्न होता है। उक्त तीनों स्वभावों के अन्दर तीसरा स्वभाव है अत्यन्ताभाव का। क्योंकि वह जब अपने प्रतियोगी के अर्थात् विरोधी है अस्तित्व काल में भी अन्यत्र डटा रहता है तब उसका कभी अभाव कैसे कहा जा सकता है? अतः अत्यन्ताभाव की न उत्पत्ति होती है और न उसका विनाश होता है। 'संसर्गाभावभिन्नाभावत्वं अन्योन्याभावत्वम्' यह अन्योन्याभाव का लक्षण कुछ लोगों ने बतलाया है। इसका अर्थ यह है कि उक्त तीन संसर्गाभावों से भिन्न होने वाला अभाव होता है अन्योन्याभाव। कुछ लोग अभाव को अतिरिक्त पदार्थ नहीं मानते। उन लोगों का कहना यह है कि अभाव को भावात्मक आधार रूप मान लेना ही उचित है। जैसे घड़े का

अभाव यदि घर में है तो घड़े के उस अभाव को घर ही मानना चाहिए। परन्तु यह उनका कथन इसलिए मान्य नहीं हो पाता कि अनुभव-सिद्ध आधाराधेयभाव अनुपपन्न हो जाता है। तात्पर्य यह है कि 'घर में घड़ा नहीं है' यह कहने पर श्रोता समझता यह है कि गृहात्मक आधार में घड़े का अभाव आसीन है। फलतः श्रोता को होने वाली उस प्रतीति का विषय गृह और घटाभाव के बीच होने वाला आधाराधेयभाव अवश्य मान्य होता है। गृह में प्रतीयमान घटाभाव जब कि गृहात्मक ही हो जायगा तब वह गृह में रहने वाला कैसे हो पायेगा ? और ऐसा न होने पर आधाराधेयभाव नहीं बन पायेगा, जिसकी प्रतीति हुआ ही करती है। कुछ लोग अभाव को आधार स्वरूप न मानकर उस आधार में रहने वाला धर्मांतर स्वरूप मानते हैं। इस पक्ष में आधाराधेयभाव की प्रतीति तो उपपन्न हो पाती है फिर भी औचित्य इसलिए नहीं कहा जा सकता कि घटाभाव यदि आधारभूत गृह में विद्यमान धर्मान्तिर स्वरूप माना जायेगा तो 'गृहत्वम्' कहने पर घटाभाव की प्रतीति होनी चाहिए। क्योंकि गृह में विद्यमान घटाभाव गृह में विद्यमान धर्मांतर गृहत्व स्वरूप होगा ही ? इन बातों का दिग्दर्शन नव्य-नैयायिक मूर्द्धन्य गंगेशोपाध्याय ने अपने तत्वचिन्तामणि के अन्दर 'विरुद्ध' ग्रंथ में कराया है।

तर्क संग्रहः

तत्र गन्धवती पृथिवी। सा द्विविधा, नित्याऽनित्या च। नित्या परमाणुरूपा अनित्या कार्यरुपा।

अनुवाद

उक्त नौ द्रव्यों के अन्दर पृथिवी वह है जिसमें समवाय संबंध से गंधगुण रहता है। फलतः 'समवाय सम्बन्धेन गन्धवत्वम् पृथिवीत्वम्' अर्थात् समवाय संबंध से गन्धयुक्त होना ही किसी का पृथिवी होना है। नित्य और अनित्य भेद से पृथिवी दो प्रकार की है। परमाणु स्वरूप पृथिवी है नित्य और द्वयणुक से से लेकर महापृथिवी तल उत्पत्तिशील पृथिवी है अनित्य।

दीपिका

तत्रोद्देशक्रमानुसारेण प्रथमं पृथिव्या लक्षणमाह गन्धवतीति। नाम्ना पदार्थसंकीर्त्तनमुद्देशः। उद्देशक्रमे च सर्वत्रेच्छैव नियामिका। ननु सुरभ्यसुरभ्यवयवारब्धे द्रव्ये परस्परविरोधेन गन्धानुत्पादादव्याप्तिः। न च तत्र गन्धप्रतीत्यनुपपत्तिरिति वाच्यम्। अवयवगन्धस्यैव तत्र मान-सम्भवेन चित्रगन्धानंगीकारात्। किंचोत्पन्नविनष्टपटादावव्याप्तिरिति चेन्न। गन्ध-समानाधिकरण द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्।

ननु जलादावपि गन्धप्रतीतेरतिव्याप्तिरिति चेन्न। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पृथिवीगन्धस्यैव तत्र मानांगीकारात्। ननु तथापि कालस्य सर्वाधारतया सर्वेषां लक्षणानां तत्रातिव्याप्तिरिति चेन्न। सर्वाधारताप्रयोजकसम्बन्ध-भिन्न-सम्बन्धेन लक्षणस्याभिधानात्। पृथिवीं विभजते—सा द्विविधेति। नित्यत्वं ध्वंसाप्रतियोगित्वं, ध्वंसप्रतियोगित्वमनित्यत्वम्।

अनुवाद

उक्त नौ द्रव्यों के अन्दर उद्देशक्रम के अनुसार पहले पृथिवी का लक्षण करते हैं 'गंधवती' इत्यादि द्वारा। नाम के द्वारा प्रतिपाद्य पदार्थों का संकीर्तन है उपदेश। उद्देश्य के क्रम में सर्वत्र इच्छा ही नियामक होती है। सुगंधित एवं दुर्गंधित दो कपालों से उत्पन्न द्रव्य में किसी भी गंध की उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि अवयवगतगंधों का पारस्परिक विरोध उक्त परिस्थिति में अनिवार्य होगा। किंतु ऐसा मान्य होने पर पृथिवी का उक्त 'गंधवत्व' लक्षण अव्याप्ति-दोष-ग्रस्त हो उठता है। यदि यह कहा जाय कि उक्त सुगंध दुर्गंध कपालद्वय से आरब्ध घट में गंध न मानने पर होने वाली गंधप्रतीति कैसे उत्पन्न हो पायेगी? तो यह कथन इसलिए उचित नहीं कि, चित्रगंध की असान्यता के कारण तादृश घट में कपालात्मक अवयव की गंध की ही प्रतीति मान्य हो सकती है। अन्यथा चित्र रूप की तरह चित्रगंध की भी मान्यता आपन्न हो उठेगी। तो उक्त द्रव्य में अव्याप्ति स्थिर रह गयी और उसी प्रकार उत्पन्न विनष्ट घट आदि में भी अव्याप्ति प्राप्त होती है, यह कथन इसलिए उचित नहीं कि कथित 'गंधत्व' पद से विवक्षित है 'गंधसमानाधिकरणद्रव्य-त्वव्याप्यजातिमत्त्व'। जल आदि में भी गंध की प्रतीति होती है इसलिए पृथिवी का गंधवत्व लक्षण अतिव्याप्ति दोषग्रस्त हो जाता है, यह इसलिए नहीं कहा जा सकता कि जल में पार्थिव संबंध होने पर ही गंध की प्रतीति होती है अन्यथा नहीं। इसलिए यह मानना ही होगा कि जल में प्रतीयमान गंध तत्वतः जल की नहीं किंतु जल-संयुक्त पार्थिव द्रव्य की ही होती है। फिर भी काल की सर्वाधारता प्रयुक्त सारे लक्षण काल में अतिव्याप्त होंगे अतः उक्त पृथिवी लक्षण भी अतिव्याप्त होगा, यह भी इसलिए नहीं कहा जा सकता कि लक्षणता का नियामक संबंध सर्वाधारता नियामक संबंध से भिन्न संबंध विवक्षित है। पृथिवी का विभाजन करते हैं 'द्विविधा' इत्यादि के द्वारा। ध्वंस का प्रतियोगी न होने वाला, अर्थात् जिसका ध्वंस न होता हो वह, कहलाता है नित्य। और जो ध्वंस का प्रतियोगी होता है, अर्थात् जिसका ध्वंस होता है वह कहलाता है अनित्य।

विवरण

उक्त नौ द्रव्यों के अन्दर सर्व प्रथम पृथिवी का ही लक्षण क्यों किया गया है ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं दीपिकाकार 'तत्रोद्देशक्रमानुसारेण' इत्यादि के द्वारा। तात्पर्य यह है कि द्रव्योद्देश के समय सर्वप्रथम पृथिवी का ही उद्देश हुआ है अतः तदनुसार सर्वप्रथम लक्षण भी उसी का उचित है। उद्देश का परिचय दिया गया है 'नाम्ना पदार्थ' इत्यादि के द्वारा। यहां प्रश्न यह उपस्थापित हो सकता है कि 'पदार्थ संकीर्त्तनमुद्देशः' इतना ही क्यों न कहा गया ? 'नाम्ना' इस कथन की क्या सार्थकता है ? तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि वैसा कहने पर अतिव्यापक प्रमेयत्व आदि धर्मयुक्त-रूप में किया जाने वाला पदार्थ संकीर्तन भी, 'अर्थात्' 'प्रमेयम्' इत्यादि संकीर्तन भी पदार्थ का उद्देश कहा जाने लगेगा, अतः 'नाम्ना' यही कहा। यहां 'नाम' पद का अर्थ विवक्षित है लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्न का वाचक। सारांश यह कि जिनका लक्षण करना हो असाधारण रूप में उनके वाचक नामों के उल्लेखात्मक पदार्थ-संकीर्तन को उद्देश समझना चाहिए। अब प्रश्न यह हो सकता है कि उद्देश के समय ही सर्वप्रथम पृथिवी का उल्लेख क्यों किया गया ? तो इसका उत्तर देते हैं दीपिकाकार, 'उद्देशक्रमे च' इत्यादि के द्वारा। 'ननु सुरभ्यसुभ्यवयवारब्धे' इत्यादि के द्वारा यह प्रश्न उठाया गया है कि जिस घट के समवायिकारण भूत एक कपाल में सुगंध और दूसरे कपाल में दुर्गंध हो ऐसे घड़े को गंधरहित इसलिए मानना होगा कि अवयव भूत दोनों कपालों में परस्पर विरोधी सुगंध और दुर्गंध के अस्तित्व के कारण उस घटात्मक अवयवों में किसी भी गंध का उत्पादन हो नहीं पायेगा। दूसरी बात यह कि यदि गंध उस घड़े में माना जाय या तो चित्ररूप की तरह चित्रगंध भी मान्य होगी। क्योंकि ऐसा विनिगमक तो कोई है नहीं कि केवल सुगंध या केवल दुर्गंध उसके बल से उस घट में उत्पन्न हो पाये। इस प्रकार उस घट के निर्गंध होने पर उसमें गंधवत्वात्मक पृथिवीलक्षण की अव्याप्ति अनिवार्य होगी। फिर गंधवत्व को कैसे पृथिवी का लक्षन माना जाय ?

'तत्रगंधप्रतीत्युनुपपत्तिः' इसके द्वारा एक अवांतर प्रश्न उपस्थापित कर उसका निषेध किया गया है। प्रश्न का आशय यह है कि यदि उक्त युक्ति के अनुसार उस सुगंध दुर्गंध कपालारंध घट को निर्गंध माना जायगा तो उसमें होने वाली गंध की प्रतीति कैसे उपपन्न होगी ? उत्तर का आशय यह है कि जिस गंधकी प्रतीति वहां होती है वह अवयविभूत घट की नहीं किंतु अवयवभूत कपाल की ही होती है। अतः प्रश्न निरवकाश है। इतने विवेचन के द्वारा उस घट की निर्गंधता सुस्थिर होने पर गंधवत्वात्मक पृथिवी लक्षण की

अव्याप्तिदोषयुक्तता अनिवारित रह गयी । अतः लक्षणभूत गंधवत्व का परिष्कृत रूप उपस्थित करके उसमें अव्याप्ति दोष का अभाव बतलाया गया है। 'गंधसमानाधिकरण-द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व' इसका अर्थ यह ज्ञातव्य है कि गंध के आधार में रहने वाली हो एवं द्रव्यत्व का व्याप्य हो, ऐसी जो जाति, तादृश जाति युक्त होना है पृथिवीत्व । द्रव्यत्व व्याप्य इसका अर्थ है द्रव्यत्व से अल्पस्थान में रहने वाली । इस परिष्कार-युक्त लक्षण के करने पर उक्त अव्याप्ति का निराकरण इस प्रकार होता है कि गंध का आधार होता है वह घट जो कि दोनों सुगंधयुक्त कपालों से अथवा दुर्गंधयुक्त कपालों से ही निर्मित होता है, एवं पुष्प आदि सुगंधित सभी वस्तुएँ गंध का आधार होती हैं । उन आधारों में रहने वाली द्रव्यत्व-व्याप्य जाति होती है पृथिवीत्व जाति, सो उस सुगंध दुर्गंध कपालद्वय से उत्पन्न होने वाले उस निर्गंध घट में भी रहती है जिसमें गंधवत्व लक्षण की अव्याप्ति बतलायी जा रही थी । अतः लक्षण समन्वय हो जाने के कारण पृथिवी का उक्त लक्षण सही होता है। गंध समानाधिकरण-द्रव्यत्वव्याप्य-जातिमत्वं इसके अंदर 'गंधसमानाधिकरण' न कहने पर द्रव्यत्व व्याप्य जाति पद से जलत्व आदि जातियों को लेकर जल आदि में अतिव्याप्ति आपन्न होती है। गंधसमानाधिकरण कहने पर जलत्व आदि जाति इसलिए हस्तगत नहीं की जा पाती है कि जल आदि में गंध न होने के कारण जलत्व आदि ज़ातियां समानाधिकरण नहीं हो पाती हैं । यदि 'द्रव्यत्व व्याप्य' यह अंश नहीं कहा जाय तो गंधसमानाधिकरण जाति पद से द्रव्यत्व, या सत्ता को लेकर जल आदि द्रव्यों गुणों और कर्मों में पृथिवीलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी । उक्त पृथिवी लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित हो उठेगा । 'द्रव्यत्व व्याप्य' इसके कथन के अनंतर उक्त अतिव्याप्ति इसलिए वारित हो जायेगी कि द्रव्यत्व या सत्ता ये दोनों जातियां द्रव्यत्व-व्याप्य नहीं है। क्योंकि 'व्याप्य' का अर्थ है यहां विवक्षित 'अल्पस्थानवृत्ति' द्रव्यत्व द्रव्यत्व का समवृत्ति है अल्पवृत्ति नहीं, और सत्ता अधिक स्थानवृत्ति है इसलिए अल्पवृत्ति होती नहीं । सुतरां तादृश जातिपद से केवल पृथिवीत्व जाति ही हस्तगत हो पाती है अन्य कोई नहीं, और पृथिवीत्व समस्त पृथिवी में रहता है, और साथ ही अन्यत्र कहीं रहता नहीं । यदि 'जाति' न कहकर उसके स्थान में 'धर्म' कहा जाय ? अर्थात् गंधसमानाधिकरण द्रव्यत्व व्याप्य धर्मवत्व, यह पृथिवी का लक्षण माना जाय ? तो 'पृथवीजलान्यतरत्व' को लेकर जल में पृथिवीलक्षण की अति व्याप्ति आपन्न होगी । क्योंकि पृथिवी में भी रहने के कारण 'पृथिवीजलान्यतरत्व' गंधसमानाधिकरण होता है और पृथिवी तथा जल इन दो द्रव्यों में ही रहने के कारण द्रव्यत्व-व्याप्य भी होता है। जाति

पद के उल्लेख से पृथिवीजलान्यतरत्व इसलिए हस्तगत नहीं हो पाता कि एक-मात्र वृत्ति होने के कारण उसे जाति नहीं माना जाता है। 'जलादावपिगंध-प्रतीतेः' इसके द्वारा पुनः अतिव्याप्ति की शंका उपस्थित की गयी है। आशय यह है कि गुलाबजल केवड़ाजल या नालियों के जल ये सभी जल गंधयुक्त पाये जाते हैं तदनुसार गंधवत्व एवं गंधसमानाधिकरण-द्रव्यत्व-व्याप्य-जाति-मत्व ये दोनों पृथिवीलक्षण अलक्ष्यभूत जल में जा बैठते हैं। अतिव्याप्ति अनिवार्य है। जल में होने वाली गंध की प्रतीति को भ्रम ठहराकर अति-व्याप्ति का निराकरण किया गया है, 'पृथिवी गंधस्येव' इत्यादि के द्वारा। कहने का तात्पर्य यह है कि गंध तत्वतः रहती है जल में नहीं किंतु जलसंयुक्त पृथिवी में किंतु ज्ञाता जल में उसका भ्रम कर बैठता है। भ्रमज्ञान कभी विशेयांश में यथार्थ होता नहीं इसलिए उसके विषयभूत विशेष्य में विशेषणभूत विषय तत्वतः रहता नहीं। अतः जल में होने वाली भ्रमात्मक गंधप्रतीत के आधार पर जल को गंध का आधार ठहराया नहीं जा सकता। इसलिए जलत्व गंधसमानाधिकरण भी नहीं कहा जा सकता। अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। यदि उक्त गुलाब केवड़ा-जल आदि में होने वाली गंध प्रतीति को यथार्थ अर्थात् प्रमात्मकबनाने का आग्रह हो तो इसका सम्पादन इस प्रकार होगा कि जल में 'स्वसमवायिसंयुक्तत्व' संबंध से गंध को विशेषण समझा जाय। इस तरह के परंपरा संबंधस्थल में 'स्व' पद से नियमतः वही गृहीत हुआ करता है जिसे किसी आश्रम में उस संबंध से रहता है। तदनुसार 'स्व' पद ग्राह्य होगी गंध उसका समवायी, अर्थात् समवाय संबंध से आधार होगा गंधाश्रय पार्थिव कण। उसका कण संयोग रहेगा जल में। अतः उक्त संबंध से गंध जल में भी रहती है तदनुसार जल में होने वाली गंध-प्रतीति तद्वति तत्प्रकारक होने के कारण यथार्थ हो पाती है प्रभा कहला पाती है। इस पक्ष में अतिव्याप्ति इसलिए वारित होती है कि लक्षण में गंध की आश्रयता समवाय संबंध से विवक्षित मानी जाती है। समवायसंबंध से गंध जल में रहती नहीं। जिस पृथिवीत्व जाति को लेकर लक्षण समन्वय होता है, उसकी सिद्धि अनुमान प्रमाण से होती है। अनुमान का आकार 'समवायसंबंधत्वच्छिन्न वांधत्ववाच्छिन्न कार्यता-निरुपिता या तादात्म्यसंबंधावच्छिन्ना कारणता सांकिचिद्धर्भावच्छिन्ना कारणतात्वात् घटनिष्ठकार्यतानिरूपितकपालनिष्ठकारणतावत् यह ज्ञातव्य है। कारणता और कार्यता इनमें पारस्परिक 'निरूप्य निरूपकभाव' हुआ करता है और कार्यताएँ तथा कारणताएँ किसी न किसी संबंध और किसी न किसी धर्म से अवश्य अवच्छिन्न अर्थात् सीमितीकृत हुआ करती हैं, ये सारी बातें पहले बतलायी जा चुकी हैं। तदनुसार यह अनुमान पृथिवीत्व जाति के

साधक रूप में उपस्थापित होता है। क्योंकि समवाय संबंध से गंध कार्य की उत्पत्ति के प्रति तादात्म्य संबंध से पृथिवी कारण मान्य होती है। इसलिए गंध में जाती है कार्यता और पृथिवी में कारणता। वह पृथिवी में उपस्थित होने वाली गंध की कारणता, जिस धर्म से अवच्छिन्न अर्थात् सीमितीकृत होती है वही धर्म है पृथिवीत्व जो कि जातिलक्षणाक्रांत होने के कारण जातिरूप से मान्य है। समवाय संबंध से गंध के प्रति तादात्म्य संबंध से पृथिवी को कारण इसलिए माना जाता है कि ऐसा न मानने पर जल गुण आदि में भी गंधोत्पादकी आपत्ति आशंकित हो उठती है। इस कार्य कारण-भाव को मानने पर जलगुण आदि में गंधोत्पाद की आशंका इसलिए वाधित हो जाती है कि तादात्म्य अन्य निष्ठन होने के कारण गंध के प्रति कारणभूत पृथिवी जल गुण आदि में उपस्थित नहीं हो पाती कि वहां गंध का उत्पाद संभावित हो सके। 'ननु तथापि' इत्यादि के द्वारा पुनः अति-व्याप्ति की आशंका की गयी है और 'सर्वाधारता प्रयोजकभिन्न' इत्यादि के द्वारा उस अति व्याप्ति का निराकरण किया गया है। प्रश्न-ग्रंथ का आशय यह है कि काल और काल के अवच्छेदक सभी जन्य पदार्थ इसमें सभी वस्तुएँ कालिक संबंध से रहा करती हैं। तदनुसार सभी के लक्षण कालिक संबंध से काल में रह जायेगें अतः काल में सारे लक्षणों की अतिव्याप्ति आपन्न होती है। उत्तर-ग्रंथ का आशय यह है कि कालिक संबंध है काल की सर्वाधारता का नियामक, इसलिए उसे सर्वाधारता-नियामक-भिन्न नहीं कहा जा सकता। विभिन्न लक्षणों की लक्ष्य-निष्ठता है सर्वाधारता-नियामक-भिन्न-संबंध से (अर्थात् कालिकातिरिक्त संबंध से विवक्षित, अतः कालिक संबंध से विभिन्न लक्षणों के काल निष्ठ होने पर भी उसमें अतिव्याप्ति नहीं आपन्न हो सकती। ध्वंसा-प्रतियोगित्व यह नित्य का लक्षण बतलाया गया है इसका अभिप्राय यह है कि जिसका ध्वंस अर्थात् नाश नहीं होता है वह होता है नित्य। जिसका ध्वंसात्मक अभाव लिया जाता हैं वह कहलाता है, ध्वंस का प्रतियोगी। तदनुसार जिसका ध्वंस होता नहीं वह कहलाता है 'ध्वंसाप्रतियोगी'। आकाश काल आदि ध्वंसाप्रतियोगी होने के आरण नित्य होते हैं। इसके विपरीत ध्वंस का प्रतियोगी होने वाला होता है अनित्य, यह बतलाया है 'ध्वंसप्रतियोगित्वमनित्यत्वम्' इसके द्वारा।

तर्क-संग्रह

पुनस्त्रिविधा। शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमस्मदादीनाम्। इन्द्रियं गन्ध ग्राहकं घ्राणं नासाग्रवर्त्ति। विषयो मृत्पाषाणादिः।

अनुवाद

पृथिवी फिर तीन प्रकार है—शरीर, इन्द्रिय और विषय। आस्मदादि प्राणियों के शरीर, शरीरात्मक पृथिवी हैं। नाक के अग्रभाग में विद्यमान गंध ज्ञापक इन्द्रिय है इन्द्रियात्मक पृथिवी। और अन्य सभी मृत् पाषाण आदि हैं विषय स्वरूप पृथिवी।

दीपिका

प्रकारान्तरेण विभजते पुनरिति। आत्मनो भोगायतनं शरीरम्। यदवच्छिन्नात्मनि भोगो जायते तद्भोगायतनम्। सुखदुखान्यतरसाक्षात्कारो भोगः। शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनः-संयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वम्। शरीरेन्द्रियभिन्नो विषयः। एवं च गन्धवच्छरीरं पार्थिवशरीरम्। गन्धवदिन्द्रियं पार्थिवेन्द्रियम्। गन्धवान् विषयः पार्थिवविषयः, इति तत्तल्लक्षणं बोध्यम्। पार्थिवशरीरं दर्शयति शरीरमिति। इन्द्रियं दर्शयति इन्द्रियमिति। गन्धग्राहकमिति प्रयोजनकथनम्। घ्राणमिति संज्ञा। नासाग्रेत्याश्रयोक्तिः एवमुत्तरत्र ज्ञेयम्। पार्थिवविषयं दर्शयति मृत्पाषाणेति।

अनुवाद

'पुनस्त्रिविधा' इसके द्वारा प्रकारान्तर से पुनः पृथिवी का ही विभाजन करते हैं। आत्मा का भोगायतन अर्थात् भोगस्थान है शरीर। जिससे अवच्छिन्न अर्थात् सीमितीकृत आत्मा को भोग प्राप्त होता है, वह कहलाता है भोगायतन सुख एवं दुःख का साक्षात्कार अर्थात् मानस-प्रत्यक्ष कहलाता है भोग। शब्द से भिन्न होने वाले उद्भूत विशेषगुण का आश्रय न होता हुआ जो ज्ञान के प्रति कारणीभूत आत्ममनः—संयोग का आश्रय है, वह है इन्द्रिय। शरीरात्मक एवं इन्द्रियात्मक पृथिवी से भिन्न पृथिवी है विषयात्मक पृथिवी। फलितार्थ यह है कि गंधयुक्त शरीर है पार्थिव शरीर, गंधयुक्त इन्द्रिय है पार्थिव इन्द्रिय, गंधयुक्त विषय है पार्थिव विषय, इस प्रकार पार्थिव शरीर पार्थिव इन्द्रिय और पार्थिव विषय का निर्वचन ज्ञातव्य है। 'शरीरं' इत्यादि के द्वारा पार्थिव शरीर का परिचय देते हैं। पार्थिव इन्द्रिय का परिचय देते हैं 'इन्द्रयम्' इत्यादि के द्वारा। 'गंधग्राहकम्' यह कह कर नाक का प्रयोजन बतलाया गया है। 'घ्राणं' यह कह कर पार्थिव इन्द्रिय का नाम बतलाया गया है। 'नासाग्रवर्ति' यह कह कर पार्थिव इन्द्रिय का स्थान बतलाया गया है। इसी प्रकार जल आदि के विवेचन के अवसर पर भी ज्ञातव्य है। 'पृत्पाषाणादि' इसके द्वारा पार्थिव विषय का परिचय दिया गया है।

विवरण

इससे पहले भी जब कि पृथिवी विभाजन किया जा चुका है, तब फिर पृथिवी का विभाजन क्यों किया जा रहा है? इस शंका के निरासार्थ— 'प्रकारान्तरेण' यह कहा गया है। तात्पर्य यह कि पृथिवी का ही यह और रूप से विभाजन किया गया है। कुछ टीकाकारों का यहां कहना यह है कि पहले पृथिवी का नित्य और अनित्य रूप में विभाजन किया गया था अतः यहां अब अनित्य पृथिवी का विभाजन किया जा रहा है। सामान्यतः पृथिवी का नहीं। इसलिए विभाग की पुनरुक्ति की शंका नहीं उपस्थापित हो सकती है। आयतन शब्द है स्थानवाची। फलतः जिस स्थान में आत्मा सुख और दुःख का उपभोग प्राप्त करता है वह है शरीर। आत्मा की व्यापकता के होने पर भी उसे सुख और दुःख का उपभोग शरीर में ही होता है, इसलिए शरीर भोगायतन कहलाता है। शरीर आत्मा का अवच्छेदक है अतः आत्मा है शरीरावच्छिन्न। एतदनुसार आयतन का प्रकृत अर्थ होता है प्रकृत में अवच्छेदक, इस दृष्टिकोण से भोगायतन का परिचय देते हैं 'यदवच्छिन्नात्मनि' इत्यादि के द्वारा। 'सुखदुःखान्यतर' इत्यादि के द्वारा भोग का परिचय दिया गया है। साक्षात्कार पद से विवक्षित है मानस प्रत्यक्ष। 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुखी हूँ' ऐसा मानस प्रत्यक्ष आत्मा को हुआ करता है। इन्द्रियत्व जाति नहीं है यह बतलाते हुए—इन्द्रिय का परिचय दे रहे हैं 'शब्देतरोद्भूत' इत्यादि के द्वारा। इस इन्द्रिय निर्वचन के अन्दर यदि शब्देतर 'न कहा जाय तो शब्दात्मक विशेषगुण का आश्रय होने के कारण कान में इन्द्रिय लक्षण नहीं जायेगा। इन्द्रियलक्षण अव्याप्ति दोष-दुष्ट हो जायेगा अत; शब्देतर कहा गया है। उसके कहने पर दोष इसलिए वारित हो जाता है कि आकाशात्मक कान में शब्द से कोई अन्य विशेष गुण रहता नहीं। वह 'शब्देतरोद्भूत-विशेषगुणानाश्रय' हो पाता है। यदि 'उद्भूत' पद न दिया जाय तो आंख आदि इन्द्रियों में लक्षण न जा पाने के कारण लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित हो उठेगा। अतः 'उद्भूत' पद दिया गया है। उसके देने पर आंख आदि में अव्याप्ति इसलिए नहीं हो पाती है, कि शब्देतर अनुद्भूत रूप आदि विशेष गुणों के वहां रहने पर भी कोई भी उद्भूत विशेषगुण वहां नहीं रहता। अतः 'शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्व' आंख आदि इन्द्रियों में जा पाता है। विशेष पद नहीं देने पर पुनः आंख आदि इन्द्रियों में लक्षण नहीं जा पायेगा। क्योंकि शब्देतर उद्भूतगुण पद से संयोग और विभाग को भली भांति लिया जा सकता है जिनका आश्रय ही होती हैं आंख आदि इन्द्रियां, अनाश्रय नहीं होतीं। उक्त इन्द्रियलक्षण में 'विशेष' पद देने पर अव्याप्ति इसलिए वारित हो जाती है कि उक्त संयोग आदि गुण विशेष गुण नहीं सामान्य गुण हैं। परिगणित विशेष

गुणों के अन्दर ऐसा कोई शब्देतर उद्भूत गुण नहीं जो कि आंख आदि में रहता हो अ : आंख आदि इन्द्रियां शब्देतर उद्भूत विशेष-गुण के अनाश्रय हो जाते हैं। रूप रस-गंध-स्पर्श-स्नेह सांसिद्धिक द्रव्यत्व, बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, अदृष्ट, भावना और शब्द ये गुण विशेष गुण कहलाते हैं। अतः संयोग विभाग आदि गुण विशेष गुण नहीं हो पाते हैं। यदि उक्त इन्द्रिय लक्षण में 'शब्देतरोद्भूत विशेषगुणानाश्रयत्वेसति' यह पूरा दल न कहा जाय, अर्थात् 'ज्ञानकारणमनः संयोगाश्रयत्वं इन्द्रियत्वम्' इतना ही कहा जाय तो आत्मा में इन्द्रिय का लक्षण चले जाने के कारण इन्द्रियलक्षण में अतिव्याप्ति आपन्न हो उठेगी। क्योंकि 'ज्ञानकारणमनःसंयोग' पद से आत्मा और मन इन दोनों में होने वाला आत्ममनः--संयोग भी हस्तगत होगा जिसका आश्रय आत्मा ही है। 'शब्देतरोद्भूत विशेष गुणानाश्रयत्वे सति' यह उक्त इन्द्रियलक्षण के अन्दर कहने पर आत्मा में इन्द्रियलक्षण की अतिव्याप्ति इसलिए आपन्न नहीं हो पायेगी कि आत्मा ज्ञान इच्छा आदि शब्देतरउद्भूत विशेष गुण का आश्रय ही है अनाश्रय नहीं। इसलिए 'शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्व' विशेषण आत्मा में जा पाता नहीं। यदि 'ज्ञानकारणमनसंयोगाश्रयत्वं' यह न कह कर शब्देतरोद्भूतविशेष-गुणानाश्रयत्वं 'इन्द्रियत्वं' ऐसा कहा जाय तो काल और दिक् में, जो कि इन्द्रिय हैं नहीं, उनमें इन्द्रिय लक्षण के चले जाने के कारण पुनः अतिव्याप्ति आपन्न होगी। अतः 'ज्ञानकारणमनः संयोगाश्रयत्व' भी उक्त इन्द्रिय लक्षण के शरीर में निविष्ट हुआ है। तब अतिव्याप्ति इसलिए नहीं होगी कि काल और दिक् ये दोनों किसी भी विशेषगुण के आश्रय होते नहीं, इसलिए 'शब्देतरोद्भूत-विशेणगुणानाश्रयत्व के वहां जाने पर भी ज्ञान-कारण-मनस्संयोगाश्रयत्व उसमें जा पाता नहीं। क्योंकि किसी के भी साथ होने वाला काल-संयोग एवं दिक्-संयोग ये दोनों ज्ञान के कारण नहीं होते। इसलिए 'ज्ञानकारणमनस्संयोगाश्रयत्व' काल एवं दिक् में जा नहीं पाता। इस प्रकार उक्त इन्द्रिय-लक्षणघटक प्रत्येक पद की सार्थकता प्राप्त होती है।

अब प्रश्न यहां यह एक उपस्थित हो सकता है कि यदि आत्मा में होने वाली अतिव्याप्ति के वारणार्थ ही 'शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वेसति' इतना कहा जाता है तो अच्छा यह होगा कि इसके स्थान में उक्त इन्द्रिय-लक्षण के अन्दर 'आत्मभिन्नत्वे सति' इतना ही क्यों न कहा जाय ? इससे लक्षण-शरीर में महान् लाघव स्पष्ट प्रतीत होता है। उक्त आत्मा में अतिव्याप्ति इसलिए आपन्न हो पायेगी नहीं, कि अपने में अपना भेद अमान्य होने के कारण आत्मा में आत्मभिन्नत्व रहता नहीं, तो इस प्रश्न का उत्तर यह ज्ञातव्य है कि जो लोग सुसुप्ति-काल में ज्ञानाभाव के संपादनार्थ 'चर्ममनस्संयोग' को भी ज्ञान का कारण

मानते हैं उनके मत में चर्म में उक्त इन्द्रियलक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न हो उठेगी। क्योंकि चर्म में 'आत्मभिन्नत्व' भी जायेगा और 'ज्ञानकारण-मनस्संयोग' भी। अतः हस्तगत होने वाले चर्ममनस्संयोग को लेकर उसकी आश्रयता भी चर्म में चली जाएगी। क्योंकि संयोग नियमतः द्वयाश्रित ही होता है। 'शब्देतरोद्भूत-विशेषगुणानाश्रयत्व' के कहे जाने पर चर्म में अतिव्याप्ति इसलिए नहीं हो पाती कि चर्म रूप आदि अनेक शब्देतर उद्भूत विशेष गुणों का आश्रय ही होता है अनाश्रय हो पाता नहीं। 'ज्ञानकारणमनस्संयोगाश्रयत्व' इस उत्तरवर्ती लक्षणांश में 'ज्ञानकारण' यह न कह कर केवल मनस्संयोगाश्रयत्व मात्र कहने पर काल और दिक् इन दो द्रव्यों में अतिव्याप्ति आपन्न होगी। क्योंकि काल और दिक् में कोई भी विशेष गुण रहता नहीं, इसलिए वह शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रय भी होता है और मनः संयोग का आश्रय भी इसलिए अनायास हो जाता है कि काल और दिक् द्रव्य की व्यापकता के कारण-मन उनसे संयुक्त होता ही है। 'ज्ञानकारण' इस पद के देने पर अतिव्याप्ति का निराकरण इसलिए हो जाता है कि काल और दिक् की व्यापकता के कारण होने वाले कालमनस्संयोग एवं दिमनस्संयोग ज्ञान के प्रति कारण होते नहीं। अतः इन्हें लेकर काल और दिक् में ज्ञानकारणमनस्संयोगाश्रयत्व नहीं लाया जा सकता। यदि ज्ञानकारणमन-स्संयोगाश्रयत्व न कह कर ज्ञानकारणसंयोगाश्रयत्व इतना ही कहा जाय, फलि-तार्थ यह कि मनः पद उक्त निर्वचन से निकाल डाला जाय तो आपत्ति यह होगी कि इन्द्रियावयव में भी इन्द्रिय लक्षण अतिव्याप्त हो उठेगा। क्योंकि प्राचीन नैयायिकों के मत में इन्द्रिय-विषयसंयोग की तरह इन्द्रियावय के साथ होने वाला विषय का संयोग भी प्रत्यक्ष के प्रति कारणरूप से मान्यता प्राप्त है। तदनुसार 'इन्द्रियात्वयवविषय संयोग' भी कारणसंयोग पद से हस्तगत होगा, जो कि इन्द्रियावयव और विषय इन दोनों में आश्रित होगा। अतः 'ज्ञानकारण संयोगाश्रयत्व' इन्द्रियावयव में भी आ जाएगा। मनः पद के निवेश के अनन्तर यह अतिव्याप्ति इसलिए वारित हो जाती है कि उक्त प्रकार से ज्ञान कारणभूत इन्द्रियात्वयवविषयसंयोग किसी के साथ होने वाला मनस्संयोग नहीं, कि उसे 'ज्ञानकारणमनस्संयोग' पद से लिया जा सके। जो लोग इन्द्रियावयव के साथ होने वाले विषय-संयोग को प्रत्यक्ष के प्रति कारण नहीं मानते, उनके मत में भी इन्द्रिय-विषय-संयोग की प्रत्यक्षकारणता की मान्यता प्रयुक्त पुनः काल में इन्द्रियलक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न हो उठेगी। क्योंकि 'कालः रूपाभाववान्' अर्थात् काल रूपाभावयुक्त है इस प्रकार होने वाले कालाधारक रूपाभाव के प्रत्यक्षस्थल में सन्निकर्षरूप से कारणरूप में ग्राह्य होगी 'इन्द्रियसंयुक्तकाल-विशेषणता' जो फलतः आंख से संयुक्त होने वाले कालात्मक-विशेष्यनिरूपित-

विशेषणता होगी । इसलिए तद्घटक रूप में कालचक्षुः संयोग भी 'ज्ञानकारण-संयोग' पद से गृहीत हो पायेगा, जिसकी आश्रयता आंख की तरह उस काल में भी चली जायेगी जो कि अनिन्द्रिय होने के कारण इन्द्रिय लक्षण का लक्ष्य नहीं । 'ज्ञानकारणमनस्संयोग' कहने पर 'मन' पद के निवेश से यह आपन्न अतिव्याप्ति इसलिए वारित हो जाती है कि उक्त 'चक्षुः काल संयोग' उक्त पद्धति से ज्ञान-कारण संयोग होते हुए भी 'मनस्संयोग' होता नहीं । अतः उसे ज्ञानकारणमन-स्संयोग पद से ग्रहण करके काल में अतिव्याप्ति नहीं आपन्न हो पाती । पार्थिव विषय शरीर और इन्द्रियों का परिचय देने जा रहे हैं 'शरीरेन्द्रियभिन्नो' इत्यादि के द्वारा । कुछ अन्य व्याख्याकारों ने 'गन्धग्राह्य'' इस मूल की व्याख्या पार्थिव इन्द्रियलक्षणपरक रूप में की है किन्तु दीपिकाकार ने लक्षणमतलाघव के अनुरोध से 'गन्धवदिन्द्रियं पार्थिवेन्द्रियम्' इस प्रकार पार्थिवेन्द्रिय घ्राण का लक्षण बतलाया है । और इसलिए मूलगत 'ग्रन्थग्राहकं' इस कथन का प्रयोजन इस प्रकार बतलाया है कि गन्धग्राहकमिति प्रयोजनकथनम् इत्यादि ।

तर्क-संग्रह

शीतस्पर्शवत्य आपः, ताः द्विविधाः नित्या अनित्याश्च । नित्याः परमाणुरुपाः अनित्याः कार्यरुपाः । पुनस्त्रिविधाः शरीरेन्द्रियविषयभेदात् । शरीरं वरुण लोके । इन्द्रियं रसग्राहकं रसनं जिह्वाग्रवर्त्ति । विषयः सरित्समुद्रादिः ।

अनुवाद

शीतल-स्पर्श वाला है जल । जल के भी दो प्रभेद हैं नित्य और अनित्य । परमाणुस्वरूप जल है नित्य और द्वयणुक आदि जन्य जल हैं अनित्य । फिर शरीर इन्द्रि और विषय इस प्रकार जल के तीन प्रभेद हैं । जलीय शरीर वरुणलोक में है । रस ग्राहक रसना है । जलीयइन्द्रिय जो कि जिह्वा के अग्रभाग में रहती है । नदी तालाब समुद्र आदि के जल होते हैं विषयात्मक जल ।

दीपिका

अपांलक्षणमाह शीतेति । उत्पन्न-विनष्टे जलेऽतिव्याप्तिवारणाय शीतस्पर्शसमानाधिकरण-द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्वे तात्पर्यम् । 'शिलातलंशीतलम्' इत्यादि जलसम्बन्धादेव शीतस्पर्शमानमितिनातिव्याप्तिः । अन्यत्सर्वं पूर्वरीत्या व्याख्येम् ।

अनुवाद

'शीतस्पर्श' इत्यादि के द्वारा जल का लक्षण करते हैं । उत्पन्न विनष्ट जल में अतिव्याप्ति वारणार्थ–शीतस्पर्शसमानाधिकरण द्रव्यत्व-व्याप्य-जातिमत्व में

तात्पर्य अवगंतव्य है 'शीतंशिलातलम्' अर्थात् शिलातल शीतल है यह प्रतीति शिलातल में जलसंबंध के कारण ही होती है अतः अतिव्याप्ति नहीं है। अन्य सभी बातें पूर्व रीति के अनुसार व्याख्येय हैं।

विवरण

'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियं च तिष्ठति' अर्थात् सभी उत्पत्तिशील द्रव्य अपने प्रथम एक क्षण में निर्गुण और निष्क्रिय होते हैं यह नियम सयुक्तिक दिखाया जा चुका है। तदनुसार उत्पन्न विनष्ट जल में 'शीतस्पर्शवत्व' लक्षण जायेगा नहीं। अतः अव्याप्ति आपन्न हो उठेगी। इसलिए 'शीतस्पर्शवत्व' का परिष्कृत स्वरूप बतलाते हैं 'शीतस्पर्शसमानाधिकरण' इत्यादि के द्वारा। इसका अर्थ यह है कि शीतस्पर्श के आधार में रहने वाली जो द्रव्यत्वापर अर्थात् द्रव्यत्व से न्यूनस्थानवर्ती जाति, तादृश जातियुक्त होना यही 'शीतस्पर्शवत्व' इसका अभिप्रेत अर्थ है। अतः यही वस्तुतः जल का लक्षण है। इसके द्वारा उत्पन्नविनष्ट जल में भी अव्याप्ति दोष का वारण इसलिए होता है कि शीतलस्पर्श का आधार होता है द्वितीय क्षण आदि गत जल, उसमें रहने वाली द्रव्यत्व-व्याप्य जाति होती है जलत्वजाति, वह सब जल में भी रहती है—उक्त उत्पन्न विनष्ट जल में भी रहती है। इसलिए लक्षण समन्वय हो जाता है, अतिव्याप्ति हो पाती नहीं। इस निष्कृष्ट जल-लक्षण में प्रत्येक पद की सार्थकता इस प्रकार होती है, यथा—'शीत' पद न कहने पर उष्णस्पर्श को स्पर्शपद लेकर उसके आधारभूत तेज द्रव्य में रहने वाली द्रव्यत्व-व्याप्य जाति होगी तेजस्त्व जाति जो कि जल के बदले तेज में चली जायेगी। अतः तेज में जल लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। 'शीत' पद के उल्लेख करने पर उक्त अतिव्याप्ति इसलिए हो पाती नहीं, कि तेजस्त्व जाति शीतस्पर्शसमानाधिकरण हो पाती नहीं। इसी प्रकार 'शीत' पद के न कहने पर अनुष्णस्पर्श को स्पर्श पद से ग्रहण करके तत्समानाधिकरण द्रव्यत्व-व्याप्य जाति पद से पृथिवीत्व जाति को लेकर पृथिवी में, वायुत्व जाति को लेकर वायु में भी जल लक्षण की अतिव्याप्ति ज्ञातव्य है। यदि 'द्रव्यत्व व्याप्य' यह अंश छोड़कर जल का लक्षण किया जाय तो तादृश जाति पद से द्रव्यत्व को लेकर फिर पृथिवी एवं तेज में अतिव्याप्ति होगी, एवं सत्ताजाति को लेकर पृथिवी तेज आदि द्रव्य और गुण कर्म आदि अद्रव्य पदार्थों में उक्त जल लक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न हो उठेगी। 'द्रव्यत्व व्याप्य' के कहने पर उक्त अतिव्याप्ति इसलिए वारित हो जाती है कि द्रव्यत्व एवं सत्ता ये दोनों जातियां द्रव्यत्व से न्यून वृत्ति न होने के कारण 'द्रव्यत्वव्याप्य' नहीं हो पाती हैं। 'जाति' पद के न कहने पर पृथिवी जलान्यतरत्व तेजोजलान्यतरत्व, वायुजलान्यतरत्व, गुणजलान्यतरत्व आदि धर्मों को

द्रव्यत्व-व्याप्य धर्म पद से गृहीत हो सकने के कारण पृथिवी तेज वायु आदि द्रव्यों एवं गुण आदि पदार्थों में जल-लक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न हो उठेगी। अतः 'जाति' पद कहा गया है। जाति पद के कथन से अतिव्याप्ति इसलिए आपन्न हो पाती नहीं कि अन्यतरत्व कोई भी क्यों न हो वह जाति नहीं हो सकता। यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। साथ ही यहां भी पृथिवी लक्षण-स्थल की तरह 'जातिमत्व' अर्थात् तादृश जाति की आश्रयता समवाय संबंध से से विवक्षित ज्ञातव्य है। अन्यथा कालिक संबंध से उक्त विशेषणाक्रांत जलत्व जाति को काल एवं कालोपाधियों में रखकर अतिव्याप्ति दुर्वार हो उठती है। 'शीतं शिलातलं' इसके द्वारा अतिव्याप्ति की शंका उपस्थित करके उसका निराकरण बतलाया गया है। प्रश्न ग्रंथ का आशय यह है कि 'यह शिलाखण्ड शीतल है' इस प्रकार प्रतीति लोगों को हुआ ही करती है। तदनुसार जल लक्षण की अतिव्याप्ति पृथिवी में आपन्न होती है। क्योंकि प्रस्तर जल नहीं, पृथिवी है, जिसमें उक्त परिष्कृत एवं अपरिष्कृत दोनों प्रकार के जल-लक्षण चले जाते हैं उत्तर ग्रंथ का आशय यह है कि प्रस्तर में उपलब्ध होने वाला शीतल स्पर्श तत्वतः प्रस्तर खंड के भीतर संयुक्त भाव से रहने वाले जल का ही होता है, पार्थिव भाग का नहीं, इसलिए उक्त प्रतीति के आधार पर अतिव्याप्ति आपन्न नहीं हो सकती। फलितार्थ यह कि प्रस्तर खंडघटक शीतल स्पर्श प्रस्तर खंडात्मक पार्थिव भाग में 'स्वसमवायिसंयुक्तत्व' संबंध से रहता है, समवाय संबंध से नहीं, और लक्षण में उक्त प्रकार जाति की एवं शीतस्पर्श की आश्रयता 'समवाय' संबंध से विवक्षित है इसलिए अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। जलत्व भी पृथिवीत्व की तरह एक प्रकार द्रव्यत्व-व्याप्य जाति है, यह 'समवायसंबंधावच्छिन्नाशीतल-स्पर्शत्वावच्छिन्न-कार्यतानिरुपिता तादात्म्य-सम्बन्धावछिन्न-कारणता, किंचिद्धर्मा-वच्छिन्ना कारणतात्वात् घटनिष्ठकार्यतानिरूपितकपालनिष्ठकारणतावत्' इस अनुमान से सिद्ध होता है। इसी प्रकार का अनुमान पृथिवीत्व जाति की सिद्धि के अवसर पर विस्तारपूर्वक बतलाया जा चुका है। अन्तर केवल वहां से यहां यही है कि वहां कार्यता गन्धत्वावच्छिन्न होती थी और यहां शीतलस्पर्शत्वा-वच्छिन्न। अतः इस अनुमान से संबंधित अधिक विवेचन वहां के अनुसार ही यहां भी ज्ञातव्य है। यहां भी 'शीतस्पर्शवच्छरीरं जलीयशरीरम्, शीतस्पर्शव-दिन्द्रियं जलीयमिन्द्रियम्। शीतस्पर्शवान् विषयः जलीयो विषयः' अर्थात् शीतल-स्पर्शयुक्त शरीर है जलीय शरीर, शीतल-स्पर्शयुक्त इन्द्रिय है जलीय इन्द्रिय, शीतलस्पर्शवान् विषय है जलीय विषय, इस प्रकार जलीय शरीर इन्द्रिय एवं विषय का निर्वचन ज्ञातव्य है। इंद्रियों के अंदर कौन इंद्रिय जलीय है? इसका परिचय दिया है 'इन्द्रियं' इसके द्वारा। 'रस ग्राहकं' इस कथन के द्वारा जिह्वा

का प्रयोजन बतलाया गया है। 'जिह्वाग्रे' इसके द्वारा जलीय इंद्रिय का स्थान बतलाया गया है। इन सारी बातों को पृथिवी विवेचन के समान यहां भी समझना चाहिए यह बतलाया है दीपिकाकार ने 'अन्यत्सर्वं' इत्यादि ग्रंथ के द्वारा। जो लोग 'रसग्राहकं' इसे रसना के लक्षण कथन-परक बतलाते हैं उनका कथन इसलिए मान्य नहीं है कि वैसा मानने में गौरव दोष आपन्न होता है। मूल में 'आपः' यह बहुवचन प्रयोग व्याकरण के नियमानुसार हुआ है। क्योंकि 'अप्' शब्द नित्यबहुवचनान्त माना गया है। कहने का तात्पर्य यह कि लक्ष्यांश में बहुत्व विवक्षित नहीं है।

तर्क-संग्रह

उष्णस्पर्शवत्तेजः। तद्द्विविधं नित्यमनित्यं च। नित्यं परमाणुरूपम्, अनित्यं कार्यरूपम्। पुनस्त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमादित्यलोके। इन्द्रियं रूपग्राहकं चक्षुः कृष्णताराग्रवर्त्ति। विषयश्चतुर्विधः भौमदिव्योदर्याकरजभेदात्। भौमं वह्न्यादिकम्। अविन्धनं दिव्यं विद्युदादि। मुक्तस्य परिणामहेतुरुदर्य्यम्। आकरजं सुवर्णादि।

अनुवाद

उष्णस्पर्शयुक्त है तेज। वह दो प्रभेदों से युक्त है नित्य तेज और अनित्य तेज के रूप में। परमाणु स्वरूप तेज है नित्य तेज और कार्य अर्थात् उत्पत्ति शील तेज है अनित्य तेज। तेज फिर शरीर इंद्रिय और विषय इस प्रकार तीन प्रभेदों में विभक्त होता है। शरीरात्मक तेज सूर्यलोक आदि में प्रसिद्ध है। रूप-प्रत्यक्ष के प्रति हेतुभूत आंख, जो कि काली पुतलियों के अग्रभाग में विद्यमान होती है, इंद्रियात्मक तेज। विषयात्मक तेज के प्रभेद भौम, दिव्य, उदर्य और आकरज इस प्रकार चार हैं। अग्नि प्रभृति तेज भौम, जल से दीप्त होने वाले विद्युत्-आदि तेज हैं दिव्य, मुक्त, पीत, अन्न, जल आदि को रस आदि रूप में होने वाली परिणति के प्रति हेतु भूत जठरानल है उदर्य और आकर से अर्थात् खानों से उत्पन्न होने वाले सुर्वण आदि तेज हैं आकरज।

दीपिका

तेजसो लक्षणमाह उष्णस्पर्शेति। उष्णंजलमिति प्रतीतेः तेजस्संयोगानुविधायित्वात् नातिव्याप्तिः। विषयं विभजते भौमेति। ननु सुवर्णं पार्थिवं पीतत्वाद्गुरुत्वात् हरिद्रावत्, इतिचेन्न। अत्यन्तानलसंयोगे सति घृतादौ द्रवत्वनाशदर्शनेन, जलमध्यस्थघृतद्रवत्वनाशादर्शनेन, असति प्रतिबन्धके पार्थिव द्रवत्वनाशाग्निसंयोगयोः कार्यकारणभावत्वधारणात्। सुवर्णस्यात्यन्तानल-संयोगे सत्यनुच्छिद्यमानद्रवत्वाधिकरणात्वेन पार्थिव-

त्वानुपपत्तेः। तस्मात् पीतद्रवत्वनाशप्रतिबन्धकतया द्रवद्रव्यान्तरसिद्धौ, नैमित्तिक--द्रवत्वाधिकरणतयाजलत्वानुपपत्तेः, रूपवत्तया वाय्वादिष्वनन्त र्भावात्, तैजसत्वसिद्धिः। तस्योष्णस्पर्शभास्वररूपयोरूपष्टम्भक-पार्थिव-रूपस्पर्शाभ्यां प्रतिबन्धादनुपलब्धिः। तस्मात्सुवर्णं तैजसमितिसिद्धम्।

अनुवाद

'उष्णस्पर्शवत्तेजः' इसके द्वारा तेजका लक्षण कहा गया है। 'उष्णं जलम्' अर्थात् यह जल गरम है इत्यादि प्रतीति, तेज के संयोग का अनुविधान करती है अर्थात् जल में तेज का संबंध होने पर उक्त प्रतीति होती है अन्यथा होती नहीं इसलिए जल में अतिव्याप्ति नहीं है। 'भौम दिव्य' इत्यादि के द्वारा विषयात्मक तेज का विभाजन किया गया है। 'पीतरूप और गुरुत्व के कारण सुर्वण आर्थिव द्रव्य है' यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अत्यन्त अग्नि संयोग के होने पर घृत आदि का द्रवत्व नष्ट होता है यह देखा जाता है किंतु घृत में जल मिले रहने पर घृतगत द्रवत्व का नाश देखा जाता नहीं, इसलिए यह मान्य है कि किसी प्रतिबन्धक के न रहने पर अत्यन्त अग्नि-संयोग पार्थिव वस्तुगत द्रवत्व नाश के प्रति कारण होता है। इसके अनुसार अत्यन्त अग्नि संयोग के होने पर सुवर्णगत पीतरूप और द्रवत्व आदि का नाश होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं। इसलिए यह मानना होगा कि ऐसा कोई द्रवत्वशील वस्तु स्वर्णपिंड के अंदर विद्यमान रहता है, जिसके कारण पीतरूप और द्रवत्व का नाश हो पाता नहीं। उस प्रतिबन्धकभूत द्रव्य को जल इसलिए नहीं कहा जा सकता कि जल का द्रवत्व सांसिद्धिक हुआ करता है और सुवर्ण का द्रवत्व नैमित्तिक पाया जाता है। उस प्रतिबन्धक भूत द्रव्य को वायु इसलिए नहीं कहा जा सकता कि वह रूपवान् है और वायुरूपवान नहीं। अतः सुवर्ण में तैजसत्ता सिद्ध होती है। उस प्रतिबन्धक तैजस द्रव्य में उष्ण स्पर्श और भास्वर रूप इसलिए उपलब्ध नहीं हो पाते कि वे उष्ण स्पर्श और भास्वररूप, पार्थिव रूप और पार्थिव स्पर्श से आच्छन्न रहते हैं। इस प्रकार सुवर्ण का तेजत्व सिद्ध होता है।

विवरण

यहां भी 'उष्णस्पर्शवत्व' का विवक्षित अर्थ 'उष्णस्पर्शसमानाधिकरण-द्रव्यत्व-व्याप्यजातिमत्त्व' ज्ञातव्य है। क्योंकि ऐसा अर्थ विवक्षित न मानने पर उत्पन्न-विनष्ट तेज में अव्याप्ति अनिवार्य हो उठेगी। साथ ही प्रत्येक पद की सार्थकता भी पूर्वोक्त पद्धति के अनुसार ज्ञातव्य है। 'यह जल उष्ण है' इस प्रकार प्रतीति होने के कारण 'उष्णस्पर्शवत्व' यह तेज का लक्षण जल में

अतिव्याप्त हो उठता है। ऐसी परिस्थिति में उष्ण-स्पर्शवत्व को तेज का लक्षण कैसे कहा जा सकता ? इस प्रश्न का निराकरण करते हैं दीपिकाकार 'उष्णं जलं' इत्यादि के द्वारा। उत्तर ग्रंथ का सारांश यह है कि उष्ण-स्पर्श तेज में ही रहता है जल में नहीं। किंतु जल का तेज के साथ संबंध होने पर तेज में विद्यमान उष्ण स्पर्श 'स्वसमवायि-संयुक्तत्व संबंध से जल में प्रतीत होता है। अतः 'समवायेन उष्ण-स्पर्शवज्जलम्' अर्थात् जल समवाय संबंध से उष्ण-स्पर्शयुक्त हैं' इस प्रकार होने वाली प्रतीति भ्रमात्मक होती है। तेज के उक्त लक्षण में उष्ण-स्पर्श की आश्रयता एवं उष्णस्पर्श-समानाधिकरण-द्रव्यत्व-व्याप्य-जाति की आश्रयता समवाय संबंध से विवक्षित है, अतः 'स्वसमवायिसंयुक्तत्व' संबंध से जल में उष्णस्पर्श के एवं तादृशजाति के रहने पर भी अतिव्याप्ति आपन्न नहीं हो सकती। 'आकरजंसुवर्णादि' इसके द्वारा सुर्वण को आकरज, विषयात्मक तेज कहा गया है। इसके विरुद्ध यदि अनुमान के द्वारा यह सिद्ध कर दिया जाय कि सुवर्ण तेज नहीं पार्थिव है, तो वह कथन असंगत हो उठता है। इसलिए सुवर्ण में तैजसत्व के सिद्ध्यर्थ पूर्वपक्ष उपस्थित किया गया है 'ननु सुवर्णं पार्थिवं' इत्यादि के द्वारा। इससे सुवर्ण में पार्थिवता का साधक अनुमान उपस्थित किया गया है। इस प्रश्न पक्ष का आशय यह है कि जिन वस्तुओं में पीला रूप एवं गुरुत्व अर्थात् भार पाया जाता है वे नियमतः पार्थिव ही होते हैं। इसलिए हरिद्रा आदि के समान सुवर्ण को पार्थिव ही मानना उचित है। इस प्रश्न का उत्तर 'न अत्यन्तानलसंयोगे' इत्यादि के द्वारा दिया गया है। इस कथन का सारांश यह है कि घृत आदि पदार्थ में अत्यन्त अग्नि संयोग होने पर उनका द्रवत्व नष्ट होता है, किंतु घृत को जल के अंदर रखकर आग पर अत्यन्त तपाने पर भी तब तक उस घृत का द्रवत्व नष्ट नहीं होता जब तक वह जल नहीं नष्ट हो जाता है। इसलिए यह मानना अनिवार्य है कि घृत आदि गत द्रवत्वनाश के प्रति जल प्रतिबंधक होता है। अतः जल आदि प्रतिबंधक के न रहने पर अत्यन्त-अग्निसंयोग पार्थिव-द्रवत्व-नाश के प्रति कारण होता है, यह मान्य होगा। अब सुवर्ण को यदि पार्थिव द्रव्य माना जाय तो उसके द्रवत्व का उच्छेद अत्यन्त अग्नि-संयोग होने पर होना चाहिए, उस सुवर्ण का अर्थात् सुवर्ण घटक पार्थिव भाग का पीतरूप नष्ट हो जाना चाहिए, जैसा कि होता पाया जाता नहीं। अतः मानना होगा कि सुवर्ण पिंड के अंदर ऐसा कोई तरल पदार्थ अत्यन्त अग्निसंयोग के समय रहता है, जो अत्यन्त अग्निसंयोग से द्रवत्व को उच्छिन्न नहीं होने देता है, तथा पीतरूप को भी नष्ट नहीं होने देता है। उस रूप तथा द्रवत्व के नाश के प्रति प्रतिबंधक होने वाले द्रव्य को जल इसलिए नहीं कहा जा सकता कि

जल की तरह उसमें सांसिद्धिक द्रवत्व पाया जाता नहीं। फलतः उस प्रतिबंधक द्रव्य को पार्थिव न समझकर तेज समझना उचित है। प्रतिबंधक द्रव्य के साधक अनुमान का आकार यह ज्ञातव्य है कि 'पीतिमगुरुत्वाश्रयो विजातीय-द्रव द्रव्य-प्रतिबंधकसंयुक्तः अत्यन्ताग्निसंयोगेऽपि पूर्वरूपविजातीयरूपानधिकरणपार्थिव-त्वात्, 'जलमध्यस्थपीतपटवत्'। इसका अभिप्राय यह है कि जिसे सोना कहा जाता है उसके अंदर दो अंश विद्यमान रहते हैं। एक अंश वह होता है जिसके अंदर पीतरूप और गुरुत्व ये दोनों रहते हैं और दूसरा अंश वह होता है जिसमें उष्ण स्पर्श भास्वररूप नैमित्तिकद्रवत्वादि रहते हैं। यदि दूसरा अंश वह होता है जिसमें उष्णस्पर्श भास्वर रूप नैमित्तिद्रवत्वादि रहते हैं। तब यदि दूसरे अंश को भी पार्थिव माना जाय तो वह द्वितीय अंश प्रथम पार्थिव अंशगत रूप एवं द्रवत्व के उच्छेदका बाधक नहीं हो सकेगा। जिसका कुफल यह होगा कि प्रथम पार्थिव भाग का रूप एवं द्रवत्व अत्यन्त अग्नि से उच्छिन्न हो बैठेगा जैसा कि होता नहीं। अतः यह मानना उचित है कि पीतिमा और गुरुत्व का आश्रयभूत पार्थिव भाग विजातीय रूप के प्रतिबंध द्रवद्रव्यात्मकद्वितीय भाग से संयुक्त है। वह प्रतिबंधक द्वितीय भाग ही वास्तविक स्वर्णात्मक तेज है जिसके कारण दोनों भागों को मिलितरुपत्रे स्वर्ण कहा जाता है।

उस प्रतिबंधक द्रव्य का उष्णस्पर्श एवं भास्वर रूप क्यों गृहीत होते नहीं? इसका उत्तर 'तस्योष्णस्पर्शभास्वररूप' इत्यादि के द्वारा दिया गया है। यहां भी 'उष्णस्पर्शवच्छरीरं तैजसशरीरम्' उष्ण स्पर्शविदिन्द्रियं तैजसेन्द्रियम्, उष्णस्पर्शवान् विषयः तेजसोविषयः' इस प्रकार तैजस शरीर इंद्रिय और विषय इनका लक्षण समझना चाहिए। 'रूपग्राहकम्' इत्यादि मूल ग्रंथ को पूर्व प्रदर्शित प्रकार से संगत समझना चाहिए। मूल में 'वह्न्यादिकम्' यहां आदि पद से मणि प्रभृति ग्राह्य हैं। विद्युदादि यहां पर आदि पद से सूर्यचंद्र आदि ग्राह्य हैं, और सुवर्णादि यहां पर आदि पद से चांदी आदि का ग्रहण कर्तव्य है।

तर्क-संग्रह

रूपरहितः स्पर्शवान् वायुः। स द्विविधः, नित्योऽनित्यश्च। नित्यः परमाणुरूपः अनित्यः कार्यरूपः। पुनस्त्रिविधः शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वायुलोके प्रसिद्धम्। इन्द्रियं स्पर्शग्राहकं त्वक् सर्वशरीरवृत्ति। विषयो वृक्षादिकम्पनहेतुः। शरीरान्तरसंचारी वायुः प्राणः। सचैकोप्युपाधिभेदात् प्राणापानादिसंज्ञां लभते।

अनुवाद

रूपरहित होता हुआ स्पर्शवान् होने वाला है वायु। वायु के प्रभेद दो

हैं नित्य और अनित्य। परमाणु स्वरूप वायु नित्य वायु है और कार्यभूत जन्यवायु है अनित्य वायु। अन्य प्रकार से वायु के प्रभेद तीन हैं शरीर, इंद्रिय और विषय। शरीरात्मक वायु वायुलोक आदि में प्रसिद्ध है। समग्र शरीर में व्याप्त स्पर्शग्राहक त्वक् है इंद्रियात्मक वायु। वृक्ष आदि के कंपन आदि का हेतु भूत वायु है विषयात्मक वायु। शरीर के अंदर संचरणशील वायु है प्राण। वह यद्यपि तत्वतः एक ही है फिर भी उपाधि भेद से प्राण अपान आदि विभिन्न नामों से अभिहित होता है।

दीपिका

वायुं निरुपयति रूपरहितेति। आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय स्पर्शवदिति। पृथिव्यादावतिव्याप्तिवारणाय रूपरहितेति। ननु प्राणस्य कुत्रान्तर्भाव इत्यत आह शरीरेति। सचेति। एकएव प्राणः स्थानभेदात् प्राणापानादि शब्दै र्व्यवह्रियते इत्यर्थः। स्पर्शानुमेयो वायुः। तथाहि योऽयं वायौ वाति सति अनुष्णाशीतस्पर्शो भासते स स्पर्शः क्वचिदाश्रितः गुणत्वात् रूपवत्। न चास्य पृथिवी आश्रयः उद्भूतस्पर्शवतः पार्थिवस्योद्भूतरूपवत्वनियमात्। न जलतेजसी, अनुष्णाशीतत्वात्। न विभुचतुष्टयं सर्वत्रोपलब्धिप्रसंगात्। न मनः, परमाणुस्पर्शस्यातीन्द्रियत्वात्। तस्मात् यः प्रतीयमान स्पर्शाश्रयः स वायुः। ननु वायः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात् घटवदिति चेन्न। उद्भूतरूपवत्त्वस्योपाधित्वात्। यत्र द्रव्यत्वे सति बहिरिन्द्रियप्रत्यक्षत्वं तत्रोद्भूतरूपवत्त्वमिति घटादौ साध्यव्यापकम्। पक्षे साधनाव्यापकत्वम्। न चैवं तप्तवारिस्थतेजसोऽप्रत्यक्षत्वापत्तिः। इष्टत्वात्। तस्मात् रूपरहितत्वात् वायुरेप्रत्यक्षः।

अनुवाद

'रूपरहित' इत्यादि के द्वारा वायु का निरूपण करते हैं। आकाश आदि में अतिव्याप्ति के कारण के लिए रूपरहित कहा गया है। प्राण का अंतर्भाव किस द्रव्य में है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं 'शरीरान्तः संचारी' इत्यादि के द्वारा। वह प्राण यद्यपि तत्वतः एक ही है किंतु हृदय आदि विभिन्न स्थान और मुखनिर्गम आदि विभिन्न क्रिया के आधार पर प्राण अपान आदि विभिन्न संज्ञाओं को प्राप्त करता है। वायु का अनुमान स्पर्शात्मक हेतु से किया जाता है। यथा—वायु के चलने पर जो अनुष्णाशीत स्पर्श भासित होता है, वह किसी न किसी द्रव्य में आश्रित होने वाला अवश्य है, क्योंकि वह भी रूप आदि की तरह गुण है। उस स्पर्श का आश्रय पृथिवी को इसलिए

नहीं माना जा सकता कि जिस पृथिवी में उद्भूत स्पर्श पाया जाता है उसमें उद्भूत रूप भी नियमतः रहता ही है। जल एवं तेज को उस अनुष्णाशीत स्पर्श का आश्रय इसलिए नहीं माना जा सकता कि वह स्पर्श शीतल या उष्ण न होकर अनुष्णाशीत होता है। आकाश आदि चार द्रव्यों को भी उस स्पर्श का आश्रय नहीं माना जा सकता। क्योंकि वैसा होने पर उस अनुष्णाशीत स्पर्श की उपलब्धि सार्वत्रिक हो उठेगी। मन को भी उस स्पर्श का आश्रय इसलिए नहीं माना जा सकता कि परमाणु का स्पर्श नियमतः अतीन्द्रिय हुआ करता है। इसलिए प्रत्यक्ष सिद्ध उस अनुष्णाशीतस्पर्श का जो आश्रय होगा उसे वायु मानना ही होगा। वायु प्रत्यक्ष स्पर्श का आश्रय होने के कारण प्रत्यक्ष-ग्राह्य है, यह अनुमान नहीं किया जा सकता। क्योंकि इस प्रकार किया जाने वाला अनुमान 'उद्भूतरूपवत्त्व' उपाधि से युक्त हो जाता है। जहां जो द्रव्य होता हुआ बहिरिन्द्रिय से गृहीत होने वाला होता है वह नियमतः उद्भुतरूपवान् होता है, इसलिए घट आदि द्रव्यों को लेकर साध्य व्यापकता गृहीत होती है और पक्ष को लेकर साधन की अव्यापकता भी गृहीत होती है। ऐसा मानने पर तप्त वारिस्थ तेज में अप्रत्यक्षता आपन्न हो उठेगी, यह इसलिए नहीं कहा जा सकता कि तप्त वारिस्थ तेज की उष्णता अप्रत्यक्ष ही है। अतः रूप रहित होने के कारण वायु का प्रत्यक्ष होता नहीं।

विवरण

'रूपरहितः स्पर्शवान्' इस मूल ग्रंथ के अनुसार 'रूपरहितस्पर्शवत्व' यह वायु का लक्षण प्राप्त होता है। यहां 'रूपरहित्वं' इतना ही लक्षण वायु का मान्य हो तो क्या क्षति होगी? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं दीपिकाकार 'आकाशादावतिव्याप्ति वारणाय' इत्यादि के द्वारा। इस कथन का तात्पर्य यह है कि रूप रहित होने वाले को ही यदि वायु कहा जाय तो रूप रहित होने के कारण आकाश आदि में भी अतिव्याप्ति आपन्न हो उठेगी। केवल 'स्पर्शवत्वं' इतना ही क्यों नहीं वायु का लक्षण बतलाया गया? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है 'पृथिव्यादौ' इसके द्वारा। इसका अभिप्रेत अर्थ यह है कि 'स्पर्शयुक्त' को वायु मानने पर पृथिवी जल आदि भी स्पर्शयुक्त होने के कारण वायु कहलाने के अधिकारी हो उठेंगे। 'रूपरहित' कहने पर पृथिवी आदि में अभिव्याप्ति इसलिए नहीं हो पाती कि पृथिवी आदि रूपयुक्त होने के कारण रूपरहित होते नहीं। प्राण का भी विषयात्मक वायु में ही अंतर्भाव है इसके व्यक्तीकरणार्थ प्रश्न उठाया गया है - 'ननु प्राणस्य कुत्रान्त्रर्भाव ?' इसके द्वारा। मूल ग्रंथ में 'उपाधिभेदात्' का अर्थ है स्थानभेद—यह बतलाया है 'एक एव प्राणः' इत्यादि के द्वारा। तात्पर्य यह कि—

हृदिप्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः ।

उदानः कण्ठदेशेतु व्यानः सर्वशरीरगः ।।

इस उक्ति के अनुसार हृदय में स्थित वायु है प्राण, गुद में अवस्थित वायु है-- अपान, नाभी में विद्यमान वायु है समान, कण्ठ में स्थित वायु है उदान और शरीर में सर्वत्र स्थित वायु है 'व्यान' । सारांश यह कि प्राण अपान आदि रूप से किया जाने वाला शारीरात्मक वायु विभाजन वास्तविक नहीं । कुछ लोग त्वगिन्द्रिय से वायु का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान मानते हैं किंतु कुछ लोग उसे मानते नहीं इसलिए दीपिकाकार स्वमत व्यक्त करते हैं 'स्पर्शानुमेयोवायुः' इत्यादि के द्वारा । वायु की सिद्धि--'अनुभूयमान विजातीयानुष्णाशीतस्पर्शः पृथिवीजलापष्ट-द्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितः अष्टद्रव्यानाश्रितत्वेसति द्रव्याश्रितत्वात्' अर्थात् हम लोग जिस अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्श का उपलम्भ करते हैं वह अवश्य पृथिवी जल तेज आकाश आदि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त किसी द्रव्य में आश्रित है । क्योंकि वह उक्त आठ द्रव्यों में आश्रित न होता हुआ द्रव्य में आश्रित है 'इस अनुमान के द्वारा उक्त स्पर्श के आश्रय रूप में होती है । कथन का सारांश यह है कि वायु का त्वक् इंद्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता है किंतु उसका अनुमान नहीं होता है । अब प्रश्न यहां यह उपस्थापित हो सकता है कि उक्त अनुमान में हेतु रूप में वर्णित 'अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति द्रव्याश्रितत्व' के अंदर विशेष्यभूत द्रव्याश्रि-तत्व उक्त पक्षभूत प्रतीयमान स्पर्श में है, यह जब तक प्रमाणित न हो जाय तब तक उक्त हेतु का अस्तित्व नहीं मान्य हो सकता । और हेतु का अस्तित्व जब तक मान्य नहीं हो पायेगा, तब तक उस हेतु के सहारे-पक्ष में 'अतिरिक्त द्रव्याश्रितत्व साध्य नहीं सिद्ध किया जा सकता । ऐसी परिस्थिति में अनुमान के द्वारा वायु की सिद्धि होती है यह कथन कैसे मान्य ठहराया जा सकता ? अतः पहले उक्त प्रकार विजातीय स्पर्श में द्रव्याश्रितत्व की सिद्धि की जा रही है दीपिकाकार के द्वारा—'तथाहि यो यं वायौवाति सति अनुष्णीतः स्पर्शोभासते' इत्यादि के द्वारा । इतना होने पर भी विशेषणभूत 'अष्टद्रव्यानाश्रितत्व' की सिद्धि के बिना उक्त अनुमान के द्वारा वायु की सिद्धि नहीं हो सकती अतः अनेक अनुमानों के द्वारा उसकी सिद्धि की गयी है 'न चास्य पृथिवी आश्रयः' इत्यादि लिखकर । इन अनुमानों का सारांश यह है कि अवाकज अनुष्णाशीत-स्पर्श का आश्रय पृथिवी इसलिए नहीं मानी जा सकती कि जिस पृथिवी में अनुष्णाशीत स्पर्श रहता है—उसमें नियमतः उद्भूत रूप भी रहता ही है । किंतु प्रकृत पक्षभूत स्पर्श के आश्रय में उद्भूत रूप पाया नहीं जाता है इसलिए वह आश्रयभूत वस्तु पृथिवी नहीं है । इसी प्रकार उक्त स्पर्श का आश्रय जल भी नहीं हो सकता । क्योंकि जल में शीतल मात्र स्पर्श होने के कारण अनुष्णाशीत

स्पर्श हो सकता नहीं। तेज भी उस प्रतीयमान अनुष्णाशीत स्पर्श का आश्रय इसलिए नहीं माना जा सकता कि उसमें नियमतः उष्ण ही स्पर्श उपलब्ध होता है। कहने का तात्पर्य यह कि जल एवं तेज यदि उस अनुष्णाशीत स्पर्श के आश्रय होते तो जल एवं तेज में उस अनुष्णाशीत स्पर्श की उपलब्धि होती, जैसी कि होती नहीं। उसके विपरीत उष्ण स्पर्श की ही वहां उपलब्धि होती है। आकाश काल आदि चारों विभु द्रव्य उस अनुष्णाशीत स्पर्श के आश्रय इसलिए नहीं हो सकते कि तब उस स्पर्श के विभु-गुण हो जाने के कारण उसकी उपलब्धि सार्वत्रिक रूप में आपन्न हो उठेगी। क्योंकि सार्वत्रिक रूप में स्पर्श की उपलब्धि होती नहीं। मन को भी उक्त स्पर्श का आश्रय नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर वह स्पर्श इसलिए नहीं उपलब्ध हो पायेगा कि गुण के प्रत्यक्ष के लिए उस गुण के आश्रय भूत द्रव्य में महत्त्व का होना नितांत आवश्यक होता है किंतु अणु होने के कारण उसमें महत्त्व है नहीं। उस स्पर्श की उपलब्धि होती नहीं यह बात तो कही जा सकती नहीं। इसलिए उस स्पर्श का आश्रय कोई अतिरिक्त ही द्रव्य मान्य होगा।

वायु का प्रत्यक्षात्मक ही ज्ञान होता है। उसे अनुमान के द्वारा सिद्ध करने का कोई प्रयोजन नहीं, फिर क्यों अनुमान उपस्थित किया गया है? इस अभिप्राय से प्रश्न उपस्थापित हुआ है 'ननु वायः प्रत्यक्षः' इत्यादि के द्वारा। यहां 'वायुः प्रत्यक्षः' इत्यादि के द्वारा वायु में प्रत्यक्ष-विषयता का व्यापक अनुमान उपन्यस्त हुआ है और 'न उद्भूत स्वरूपवत्वस्य' इसके द्वारा उसका खंडन किया गया है। इस खंडन ग्रंथ का तात्पर्य यह है कि हेतु के प्रभेद 'सत्' और 'असत्' इस प्रकार दो हैं। सद्धेतु से किया जाने वाला अनुमान होता है सदनुमान, और असद्धेतु से किया जाने वाला अनुमान होता है 'असदनुमान'। इन द्विविध अनुमानों के अंदर साध्य वस्तु की पक्ष में निर्णयात्मक सिद्धि सदनुमान से ही होती है असदनुमान से नहीं। 'वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात् घटवत्' इस अनुमान स्थल में हेतु कृत प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्व सद्धेतु न होकर असद्धेतु इसलिए है कि 'उद्भूतरूपवत्त्व' उपाधि प्राप्त होने के कारण वह व्याप्यत्वसिद्धि नामक हेतुगत दोष प्राप्त होने के कारण 'व्याप्यत्वसिद्ध' हो जाता है। साध्य का व्यापक होता हुआ साधन का अव्यापक होने वाला कहलाता है 'उपाधि'। जैसे 'पर्वतोधूमवान् बह्नेः' इस व्यभिचारी अनुमान-स्थल में' आर्द्रेन्धनसंयोग' अर्थात् अग्निगत किसी गीली वस्तु का संयोग होता है 'उपाधि' क्योंकि साध्यभूत घूम जहां भी कहीं होता है, वहां आर्द्रेन्धन-संयोग अवश्य रहता है इसलिए वह साध्यघूम का व्यापक होता है और साधनीकृत अग्नि के आश्रयभूत तप्तलौह आदि में आर्द्रेन्धन संयोग पाया नहीं

जाता जहां धूम होता नहीं। अतः आर्द्रेन्धन-संयोग साध्य का व्यापक होता हुआ साधन का अव्यापक हो जाता है। 'साध्यव्यापक' का अर्थ है जहां-जहां साध्य रहे, वहां-वहां रहने वाला और 'साधनाव्यापक का अर्थ होता है साधन के आश्रय में नहीं रहने वाला। आर्द्रेन्धन-संयोग धूम के प्रत्येक के आश्रय में रहता है अतः साध्य का व्यापक होता है और अग्नि के आश्रय तप्त लौह पिंड आदि में रहता नहीं इसलिए साधन का अव्यापक भी हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृत अनुमान स्थल में 'उद्भूत रूपवत्व' उपाधि रूप से प्राप्त हो जाता है। क्योंकि साध्यभूत प्रत्यक्षत्व निश्चित रूप से जहां-जहां पाया जाता है वहां-वहां उद्भूत रूपवत्व भी नियमतः विद्यमान पाया जाता है इसलिए वह साध्य प्रत्यक्षत्व का व्यापक होता है और प्रत्यक्ष-स्पर्शाश्रयत्वहेतु वायु में भी पाया जाता है किंतु उद्भूतरूपवत्व उसमें पाया जाता नहीं। इसी का स्पष्टीकरण दीपिकाकार ने किया है 'यत्रद्रव्यत्वे सति' इत्यादि के द्वारा। कहने का तात्पर्य यह है कि द्रव्यत्वे सति प्रत्यक्षत्व जिन घट आदि द्रव्यों में है उनमें नियमतः उद्भूतरूपवत्व भी है और 'प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्व' स्वरूप हेतु पक्षात्मक वायु में भी है किंतु वहां 'उद्भूतरूपवत्व' है नहीं। अतः उद्भूत-रूपवत्व में 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्व' स्वरूप उपाधि लक्षण समन्वित हो जाता है।

यहां यह जिज्ञासा उदित हो सकती है कि जो लोग वायु का त्वगिन्द्रिय से भी प्रत्यक्ष नहीं मानते, शब्द स्पर्श धृति एवं कम्प' आदि के संपादक के रूप में वायु का अनुमान ही मानते हैं उनके पक्ष में क्या युक्ति है, और जो लोग इसके विपरीत वायु का स्पार्शन प्रत्यक्ष मानते हैं उनके पक्ष में कौन सी युक्ति है? तो ज्ञातव्य यह है कि किसी भी वहिरिन्द्रिय से होने वाले किसी भी प्रत्यक्ष के लिए उसके विषय में उद्भूत रूप का होना अवश्यक है ऐसा मानने पर 'त्वगिन्द्रिय से होने वाला स्पार्शन प्रत्यक्ष भी वायु का इसलिए नहीं हो सकता कि वायु में किसी प्रकार का रूप न होने के कारण उसमें उद्भूत रूप रहता नहीं। इसलिए इस पक्ष में तर्क यह उपस्थापित हो पाता है कि 'वायु यदि प्रत्यक्ष हो तो उसे उद्भुत रूपयुक्त होना चाहिए, अतः उसका स्पार्शन भी प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। और द्वितीय मतवादियों का कहना यह है कि उद्भूत रूप केवल चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिए अपेक्षित होता है अन्य किसी प्रत्यक्ष के लिए नहीं, अतः किसी भी वस्तु के स्पार्शन प्रत्यक्ष के लिए उस वस्तु में उद्भूतरूप का होना आवश्यक नहीं बतलाया जा सकता। अतः वायु में उद्भूत रूप के न होते हुए भी उसका स्पार्शन प्रत्यक्ष हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में उक्त तर्क कारगर हो पाता नहीं। क्योंकि वायु में उद्भुत रूप

तब आपन्न हो पाता यदि उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष माना जाता। जैसा कि माना नहीं जा रहा है। किसी वस्तु के स्पार्शन प्रत्यक्ष के लिए उस वस्तु में उद्भूत स्पर्श का होना अपेक्षित है। वायु में उद्भूत स्पर्श मान्य ही है अतः उसके स्पार्शन प्रत्यक्ष की मान्यता में कोई बाधा पायी नहीं जा रही है। इन दो मत-वादों के अंदर दीपिकाकार पूर्वमत के ही समर्थक हैं। वे वायु का प्रत्यक्ष नहीं अनुमान ही मानते हैं। 'न चैवं' इत्यादि के द्वारा संभावित शंका का खंडन किया गया है। 'एवं' इसका अर्थ है 'उद्भूत रूपानाश्रयस्य अप्रत्यक्षत्वे'। आशय यह है कि जिसमें उद्भूत रूप न हो उसका यदि स्पार्शन प्रत्यक्ष भी न माना जाय, तो तप्तजलगत तेज का भी स्पार्शन प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा। क्योंकि उस तेज का रूप अप्रकट होने के कारण 'उद्भुत' नहीं कहा जा सकता। उत्तर के रूप में 'इष्टत्वात्' यह कहते हुए दीपिकाकार ने यह कहा है कि तप्तजल गत तेज का स्पार्शन प्रत्यक्ष नहीं होता है केवल उसका उष्ण स्पर्श ही त्वगिन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्षीकृत होता है। अतः उस प्रत्यक्षीकृत उष्ण स्पर्श के आश्रय रूप में उस तप्तजलस्थ तेज का अनुमान ही होता है इसलिए 'प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा' यह आपन्न अनुपपत्ति निराधार है।

दीपिका

इदानीं कार्य-पृथिव्यादिचतुष्टयस्योत्पत्ति-विनाशक्रमः कथ्यते-ईश्वरस्य चिकीर्षावशात् परमाणुषु क्रिया जायते। ततः परमाणुद्वय-संयोगेसति द्वयणुकमुत्पद्यते। त्रिभिर्द्वयणुकै-स्त्र्यणुकम्। एवं चतुरणुका-दिक्रमेण महापृथिवी महत्य आपः महत्तेजो महान् वायुरुत्पद्यते। एव-मुत्पन्नस्य कार्यद्रव्यस्य संजिहीर्षावशात् क्रियया परमाणुद्वयविभागे सति द्वयणुकनाशः। समवायिकारणनाशात्त्र्यणुकनाश इति सम्प्रदायः। सर्व-त्रासमवायिकारणनाशाद्द्रव्यनाश इति नवीनाः। किं पुनः परमाणुसद्भावे प्रमाणम्? उच्यते जालसूर्यमरीचिस्थं सूक्ष्मतमं यद्दृश्यते रजः तत्सावयवं चाक्षुषद्रव्यत्वात् पटवत्। त्र्यणुकावयवोऽपि सावयवः महदारम्भकत्वात् तन्तुवत्। यो द्वयणुकावयवः स एव परमाणुः। सच च नित्यः कार्य-त्वेऽनवस्थाप्रसंगात्। तथासति मेरुसर्षपयोरपि तुल्यपरिमाणापत्तेः। सृष्टिप्रलयसद्भावे 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इति श्रुतिः प्रमाणम्। सर्वकार्यद्रव्यध्वंसोऽवान्तरप्रलयः। सर्वभावकार्यध्वंसो महाप्रलय इति विवेकः।

अनुवाद

अभी जन्य पृथिवी जल तेज और वायु इन द्रव्यों की उत्पत्ति और इनके विनाश का क्रम कहा जाता है। ईश्वर को सृष्टि की इच्छा होने पर परमाणुओं

में क्रियाएं उत्पन्न होती हैं। अनंतर दो परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक उत्पन्न होता है। संयुक्त तीन द्व्यणुकों से एक त्र्यणुक उत्पन्न होता है। इसी प्रकार चतुरणुक पंचाणुक आदि के क्रम से महापृथिवी महान् जल, महान् तेज एवं महान् वायु की उत्पत्ति होती है। परमेश्वर को जब इन कार्यद्रव्यों को नष्ट करने की इच्छा होती है तो फिर उसी प्रकार परमाणु में क्रिया की उत्पत्ति से होने वाले परमाणु गत विभाग से द्व्यणुक का नाश होता है। अनंतर त्र्यणुक का नाश होता है। फिर चतुरणुक पंचाणुक आदि के विनाश क्रम से महा-पृथिवी, महाजल आदि नष्ट होते हैं। द्व्यणुक का नाश असमवायि कारण के नाश से होता है और त्र्यणुक आदि के नाश समवायिकारण के नाश से हुआ करते हैं। यह प्राचीन मत है। नवीनों का मत यह है कि सारे द्रव्यों के नाश असमवायिकारण के ही नाश से होते हैं। परमाणु के सद्भाव में क्या प्रमाण है? कहा जाता है—खिड़कियों पर लगी हुई जालियों से छनकर आने वाली सूर्य रश्मियों पर जो चलनशील सूक्ष्मकण देखे जाते हैं वे चाक्षुष द्रव्य होने के कारण पट की तरह सावयव होते हैं। त्र्यणुक का अवयव होने वाले द्व्यणुक भी सावयव हैं, क्योंकि वे भी तंतु की तरह महत्त्व परिमाणयुक्त द्रव्य के आरंभक होते हैं। द्व्यणुक का अवयव ही होते हैं परमाणु। प्रत्येक परमाणु नित्य हैं क्योंकि उसे अनित्य मानने पर अनवस्था आपन्न होगी। और अनवस्था मान्य होने पर सरसों और सुमेरु इन दोनों में समता अर्थात् तुल्य परिमाण की आपत्ति होगी। सृष्टि और प्रलय के सद्भाव में 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' अर्थात् ब्रह्मा ने पूर्ववत् सृष्टि की' यह वेदना का प्रमाण है। सब अनित्य द्रव्यों का नाश होना है खण्ड प्रलय, और सब भाव कार्यों का नाश होना है महाप्रलय।

विवरण

मूल ग्रंथ में पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार द्रव्यों का नित्य और अनित्य रूप से द्वैविध्य बतलाया गया है। परन्तु बौद्ध दार्शनिक घट पट आदि अनित्य द्रव्यों को परमाणु-समूहात्मक ही मानते हैं अतिरिक्त अनित्य अवयवी द्रव्य नहीं। अतः इनके मत में परमाणु स्वरूप ही होने के कारण अलग कोई कार्य द्रव्य हो पाता नहीं। तदनुसार उक्त विभाजन आक्षिप्त होने के कारण, नित्य और अनित्य रूप में प्रदर्शित द्रव्य का द्वैविध्य असंगत प्रतीत होता है। इस आक्षेप का निराकरण एवं सृष्टि तथा प्रलय की संक्षिप्त प्रक्रिया का प्रदर्शन प्रारंभ किया है 'इदानीं कार्यरूप पृथिव्यादि' इसके द्वारा। 'चिकीर्षावशात्' यहां पर चिकीर्षा का अर्थ है करने की इच्छा। फलतः संसार को उत्पन्न करने की इच्छा। 'ततः' का अर्थ है 'क्रियातः' अर्थात् क्रिया से। क्रिया संयोग और

विभाग के प्रति कारण होती है। तभी वैशेषिक दर्शन में 'संयोगविभागयोरनपेक्षं कारणं कर्म' यह क्रिया का लक्षण बतलाया गया है। अतः परमाणुगत कंपन से दो परमाणुओं में संयोग उत्पन्न होता है, जिससे द्वयणुक की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार द्वयणुक में क्रिया होने पर तीन द्वणुकों के संयोग से त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है। और चार त्र्यणुकों में क्रिया पूर्वक संयोग होने पर चतुरणुक उत्पन्न होता है। इसी प्रकार बढ़कर महापृथिवी, महाजल, महान् तेज एवं महावायु तक की उत्पत्ति होती है। 'एवमुत्पन्नस्य कार्यद्रव्यस्य संजिहीर्षावशात्' इसके द्वारा प्रलय की प्रक्रिया बतलायी गयी है। संहार करने की इच्छा कहलाती है संजिहीर्षा। यह बात पहले कही जा चुकी है कि संयोग और विभाग ये दोनों गुण क्रिया से उत्पन्न होते हैं। अतः परमेश्वर को संहार की इच्छा होने पर परमाणु में होनेवाले कंपन से दो परमाणुओं में विभाग उत्पन्न होता है। फलस्वरूप जिन दो परमाणुओं के जुटने से द्वयणुक द्रव्य पहले उत्पन्न हुआ होता है, उन परमाणुओं के विभक्त हो जाने पर द्वयणुक नष्ट हो उठता है। और द्वयणुक के नष्ट हो जाने पर द्वयणुकों से बना हुआ त्र्यणुक नष्ट हो जाता है। इस प्रकार चतुरणुक पंचाणुक आदि का नाश होते होते महा पृथिवी महाजल आदि महाभूतों का भी नाश हो जाता है। इस उत्पाद और विनाश की प्रक्रिया के वर्णन से उत्पाद-विनाश-शील कार्य द्रव्य का अस्तित्व स्फुटीकृत हुआ है और इसके द्वारा व्यक्त यह किया गया है कि मूल ग्रंथ में जो पृथिवी जल आदि चार भूतों को नित्य और कार्य अर्थात् जन्य इन दो प्रभेदों में विभक्त माना गया है वह सर्वथा उचित है। क्योंकि घट पट आदि को अतिरिक्त कार्यद्रव्य न मानकर परमाणुपुंजस्वरूप मानने पर 'एकोघटः स्थूलः' अर्थात् यह घड़ा एक है तथा बड़ा है इस प्रकार अभ्रांतभाव से होने वाली प्रतीतियाँ उपपन्न नहीं हो सकती। क्योंकि समूह एक नहीं हो सकता एवं अणु महान् नहीं हो सकता। अतः कार्यात्मक अवयवी द्रव्य की अमान्यता पक्ष में उक्त 'एकोघटः स्थूलः' इत्यादि असंख्य प्रतीतियां अनुपपन्न हो उठेंगी।

कार्यद्रव्य के नाश के प्रति प्रमुख रूप में मान्य होने वाले कारण के संबंध में मतभेद का ज्ञापन किया गया है 'असमवायिकारणनाशात्' इत्यादि के द्वारा। द्वयणुक के प्रति समवायिकारण होते हैं परमाणु और समवायिकारण होता है उन दोनों परमाणुओं में होने वाला संयोग। द्वयणुक का नाश इस असमवायि-कारणभूत परमाणुगत संयोग के नाश से ही होता है, ऐसा इसलिए मानना पड़ता है कि द्वयणुक का समवायिकारण होने वाला परमाणु होता है नित्य, उसका नाश होता ही नहीं कि समवायिकारण-नाश प्रयुक्त द्वयणुक का नाश माना जा सके। किन्तु त्र्यणुक आदि का नाश समवायिकारण-नाश-प्रयुक्त मान्य हो सकता

है। क्योंकि उक्त प्रकार से सम्पन्न होने वाले द्वयणुक नाश से त्र्यणुकनाश की मान्यता में कोई बाधा उपस्थित होती नहीं। इस प्रकार प्राचीनों के मत में कार्यद्रव्य का नाश एकत्र असमवायिकारणनाश से और अन्यत्र सर्वत्र समवायिकारणनाश से सम्पन्न होने वाला मान्य होता है किन्तु लाघवान्वेषी नव्यनैयायिकों का कहना यहां यह है कि जब द्वयणुक का नाश द्वयणुक के प्रति असमवायिकारण होने वाले संयोग के नाश से ही मान्य होता है तब त्र्यणुक चतुरणुक आदि द्रव्यों का नाश भी क्यों न असमवायिकारणात्मक संयोग के नाश से ही माना जाय ? अतः सभी कार्य द्रव्यों के नाश के प्रति असमवायिकारण नाश को ही कारण मानना चाहिए। 'किं पुनः' इत्यादि के द्वारा परमाणुओं के अस्तित्व के संबंध में प्रश्न उपस्थापित हुआ है। 'जालसूर्यमरीचिस्थं' इत्यादि के द्वारा परमाणुओं के अस्तित्व का साधक अनुमान उपस्थापित हुआ है। अनुमान का आकार 'दृश्यमानं जालसूर्यमरीचिस्थं सूक्ष्मतमंरजः सावयवं चाक्षुषद्रव्यत्वात् घटवत्' अर्थात् देखा जाने वाला गवाक्षजालगत सूर्यकिरणस्थ अतिसूक्ष्म भौतिक कण भी सावयव है, क्योंकि वह घटके, समान चक्षु से गृहीत होने वाला द्रव्य है इस प्रकार ज्ञातव्य है। यहां केवल द्रव्यत्व मात्र को साधक हेतु रूप में उपन्यस्त करने पर आकाश आदि द्रव्यों को लेकर हेतु व्यभिचारी हो जाता है। क्योंकि द्रव्यत्व हेतु आकाश आदि द्रव्यों को लेकर व्यभिचारी हो जाता है। क्योंकि द्रव्यत्व हेतु आकाश आदि में भी रह जाता है, जहां 'सावयवत्व' स्वरूप साध्य रहता नहीं। चाक्षुषपद देकर चाक्षुषद्रव्यत्व को हेतु रूप से ग्रहण करने पर उक्त व्यभिचार इसलिए वारित हो जाता है कि रूपरहित आकाश का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता नहीं, अतः 'चाक्षुषद्रव्यत्व हेतु भी आकाश में जा पाता नहीं, जिसमें 'सावयवत्व' साध्य जाता नहीं। हेतु के अंदर 'द्रव्यत्व' का प्रवेश न कर केवल 'चाक्षुषत्व' को साधक हेतु रूप में ग्रहण करने पर रूपगुण को लेकर चाक्षुषत्व हेतु फिर व्यभिचारी हो जाता है। क्योंकि आंख से गृहीत होने के कारण चाक्षुषत्व रूपगुण में भी रह जाता है किन्तु सावयवत्व द्रव्य मात्र में होने के कारण गुणात्मक रूप में सावयवत्व साध्य जाता नहीं, फलतः हेतु वहां भी रह जाता है जहां साध्य रहता नहीं। अतः व्यभिचार आपन्न होता है। चाक्षुषद्रव्यत्व को हेतु बनाने पर व्यभिचार इसलिए नहीं हो पाता कि रूप के गुण होने के कारण उसमें द्रव्यत्व धर्म जा पाता नहीं अतः 'चाक्षुषद्रव्यत्व' हेतु उस रूप में जाता नहीं जहां 'सावयवत्व' नहीं साध्य जाता है। इस अनुमान में पक्षीकृत जालसूर्यमरीचिस्थ सूक्ष्मतम रज अर्थात् भौतिक भाग ही कहलाता है त्र्यणुक। इस अनुमान से त्र्यणुक के अवयव द्वयणुक की सिद्धि होती है। किंतु परमाणु की सिद्धि इससे हुई नहीं। अतः परमाणु की सिद्धि 'त्र्यणुकावयवो पि सावयवः' इसके द्वारा की गयी है। इन अनुमानों से यह आशय व्यक्त किया गया है कि द्वयणुक और परमाणु दोनों यदि न माने

जायं तो त्र्यणुकमें अपकृष्ट महत्त्व नहीं बन पायेगा और त्र्यणुक में अपकृष्ट महत्त्व न होने पर उसका प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा जो कि जालसूर्यमरीचिस्थ रूप में हुआ करता है। अपकृष्ट महत्व प्रत्यक्ष के प्रति कारण है यह अन्वयव्यतिरेक-सिद्ध है। परमाणु और द्वयणुक की मान्यता के बिना त्र्यणुक में अपकृष्ट महत्त्व इसलिए नहीं हो सकता कि उसका उत्पादक असमवायिकारण लब्ध हो पाता नहीं। त्र्यणुक को सावयव मानने पर उसके अवयवभूत द्वयणुकगत बहुत्व संख्या त्र्यणुकत महत्त्व के उत्पत्त्यर्थ असमवायिकारण बन पाता है उसके द्वारा त्र्यणुक में महत्त्व उत्पन्न हो पाता है। किंतु जो नैयायिक लोग परमाणु और द्वयणुक को मान्यता न देते हुए त्र्यणुक में ही अवयव धारा की विश्रान्ति मानते हैं, वे त्र्यणुक में होने वाले उस महत्त्व को भी त्र्यणुक की तरह नित्य मानते हैं अतः उनके असवायिकारण का प्रश्न ही नहीं उठता है।

'मेरुसर्षपयोरपितसाम्यप्रसंगः' इस कथन का आशय यह है कि जब अवयव-धारा के विश्रामस्थल रूप में परमाणु स्वीकृत हो जाता है तब परमाणुओं के आधिक्य प्रयुक्त सुमेरु सर्षप से अत्यधिक बड़ा और सर्षप उससे अत्यधिक छोटा बन पाता है। अतः परमाणु की अमान्यता पक्ष में सुमेरु और सर्षप के परिमाणों में अंतर नहीं बतलाया जा सकता। अवांतर प्रलय का अर्थ है खंड प्रलय। इसके लक्षण में 'कार्य' पद का प्रवेश इसलिए किया गया है कि नित्य द्रव्यों का ध्वंस होता नहीं। परमाणुओं में पूर्वोत्पन्न रूप रस आदि गुण खंड प्रलय में रहते हैं इसलिए 'द्रव्य' पद निविष्ट हुआ है। सारांश यह कि खंड प्रलय का लक्षण यदि इतना ही किया जाय कि 'समग्रद्रव्यों का ध्वंस काल है खंड प्रलय' तो यह लक्षण भी असंभव-दोष-ग्रस्त होगा और यदि 'समग्र कार्य ध्वंसकाल है खंड प्रलय' यह कहा जाय तब भी इस लक्षण में असंभव दोष आपन्न होता है अतः 'कार्यद्रव्यध्वंस' 'ऐसा कहा गया है। महा प्रलय में भी ध्वंस का ध्वंस होता नहीं इसलिए महाप्रलय के लक्षण में 'भाव' यह पद निविष्ट हुआ है। आशय यह है कि 'सर्वकार्य ध्वंसकाल है महाप्रलय' यह महाप्रलय का लक्षण भी असंभव दोषग्रस्त होगा। क्योंकि उत्पत्तिशील होने के कारण कार्य कहलाने का अधिकारी ध्वंस भी है जो कि अपनी उत्पत्ति के परवर्ती कालों में निरंतर रहने के कारण ध्वंस होता नहीं।

तर्क-संग्रह

शब्दगुणकमाकाशम्। तच्चैकं विभुनित्यं च।

अनुवाद

शब्दात्मक गुण से युक्त द्रव्य है आकाश। वह एक है व्यापक है और नित्य है।

दीपिका

आकाशं लक्षयति शब्दगुणकमिति। नन्वाकाशं किं पृथिव्यादिवन्नाना? नेत्याह तच्चैकमिति। भेदे प्रमाणाभावादित्यर्थः। एकत्वादेव सर्वत्रोपलब्धेर्विभुत्वमंगीकरणीयमित्याह विभ्युति। सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम्। मूर्तत्वं परिच्छिन्नपरिमाणवत्वम्, क्रियावत्वं वा। विभुत्वादेवात्मवन्नित्यत्वमित्याह-नित्यं चेति।

अनुवाद

आकाश का लक्षण करते हैं 'शब्दगुणकर्म' इसके द्वारा। क्या आकाश भी पृथिवी आदि की तरह अनेक हैं? तो नहीं, यह बतलाते हैं 'तच्चैकम्' के द्वारा। क्योंकि विभिन्न आकाश की मान्यता में कोई प्रमाण नहीं है। सर्वत्र यतः एक ही आकाश उपलब्ध होता है, अतः उसे व्यापक मानना आवश्यक है यह बतलाया है 'विभु' यह कहकर। विभु वह कहलाता है, जिसका संयोग सभी मूर्त द्रव्यों के साथ होता है जिसका परिमाण परिच्छिन्न अर्थात् किसी के परिमाण से अपेक्षाकृत अपकृष्ट होता है अथवा यों कहा जाय कि क्रिया जिसमें रहती हो वह कहलाता है मूर्त। विभु होने के कारण आत्मा की तरह आकाश को भी नित्य मानना होगा यह बतलाया है 'नित्यंच' यह कह कर।

विवरण

यद्यपि 'शब्दवदाकाशम्' अर्थात् शब्दयुक्त है आकाश इतना ही आकाश का लक्षण कहा जा सकता था, लक्षण के सम्पत्यर्थ गुण पद अधिक जोड़कर 'शब्द गुणकमाकाशम्' इस प्रकार कथन का कोई प्रयोजन नहीं था परंतु ऐसा कहने पर यह बात नहीं व्यक्त हो पाती कि रूप रस आदि परिगणित विशेष गुणों के अंदर शब्द ही केवल आकाश में रहता है अन्य विशेष गुण नहीं। अतः तत्सूचनार्थ आकाश के लक्षण में 'गुण' यह अधिक पद सन्निविष्ट हुआ है। अथवा अधिक 'गुण' पद के निवेश से आकाश में अतिरिक्त व्यापक द्रव्यता का सूचन किया गया है। सारांश यह कि जो लोग आत्मा आकाश काल और दिक् इन चारों व्यापक द्रव्यों को एक ही द्रव्य मानते उन्हें यह सूचना, लक्षण में अधिक गुणपद के प्रक्षेप द्वारा दी गयी है कि आकाश आत्मा आदि अन्य व्यापक द्रव्यों से अतिरिक्त एक व्यापक द्रव्य है। क्योंकि आत्मा आदि और आकाश इनके गुणों के अंदर-अंतर पाया जाता है। किंवा अधिक 'गुण' पद के निवेश का प्रयोजन यह ज्ञातव्य है कि 'शब्दवदाकाशम्' यहां पर शब्दवत्ता अर्थात् शब्द की आश्रयता समवाय संबंध से विवक्षित है। अन्यथा कालिक संबंध से शब्दवत्ता काल तथा कालोपाधि जन्यों में जा सकने के कारण लक्षण अतिव्याप्ति-दोष-ग्रस्त हो उठेगा। 'यह घटाकाश है' 'यहां घटाकाश है' इत्यादि

विभिन्न व्यवहारों को औपाधिक अर्थात् गौण कहा जा सकता है इस अभिप्राय से दीपिका में 'प्रमाणाभावात्' यह कहा गया है। 'क्रियावत्वं वा' इसके द्वारा मूर्त का लक्षणान्तर बतलाया गया है। कथन का सारांश यह कि यहां 'वा' शब्द का प्रयोग उस लक्षण में या पूर्वलक्षण में नहीं हुआ है किंतु लक्षण गत विकल्प के ज्ञापनार्थ।

तर्क-संग्रह

अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः। सचैकोविभुर्नित्यश्च।

अनुवाद

अतीत आदि का अर्थात् भूत भविष्य वर्तमान आदि का जो व्यवहार होता है उसका साधक है काल। वह एक, व्यापक तथा नित्य है।

दीपिका

कालं लक्षयति अतीतेति। सर्वाधारः कालः सर्वकार्ये निमित्त कारणं च।

अनुवाद

'अतीतादि' इत्यादि के द्वारा काल का लक्षण बतलाया गया है। काल सब का आधार एवं सारे कार्यों के प्रति निमित्त कारण है।

विवरण

मूल में उक्त 'अतीत' पद का अर्थ है भूतकाल। आदि पद से अतीत एवं वर्तमान भी ग्राह्य है। सारांश यह कि 'भूतोघटः' 'भविष्यन् घटः' 'वर्तमानो घटः' अर्थात् घड़ा हो गया, घड़ा होगा, एवं घड़ा है इस प्रकार होने वाले व्यवहारों के प्रति असाधारण रूप में कारण होने वाली वस्तु है काल। व्यवहार-कालवृत्ति-ध्वंस का प्रतियोगी होने वाला काल होता है अतीत, इसलिए उस अतीत काल से सम्पृक्त घट पट आदि भी अतीत कहलाते हैं। यथा आज से पूर्व ही नष्ट होने वाला घट अतीत घट कहलाता है। क्योंकि व्यवहार काल हुआ आज, उसमें वर्तमान ध्वंस हुआ अव्यवहित पूर्व दिन तक का ध्वंस, अतः उस ध्वंस के प्रतियोगी हो जाते हैं अव्यवहित पूर्व तक सारे दिन, इसलिए अव्यवहित पूर्व दिन तक सारे दिन अतीत काल हो जाते हैं, और उसी से संबद्ध होने के कारण वह घट जो कि अब आज है नहीं, अतीत कहलाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी ज्ञातव्य है। व्यवहार काल होता है वर्तमान काल अतः उससे संबद्ध घट पट आदि भी वर्तमान कहलाते हैं। व्यवहार-कालवृत्ति-प्रागभाव-प्रतियोगी

काल होता है भविष्य काल अतः उससे संबद्ध घट पट आदि भी कहलाते हैं भविष्य। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जाय कि व्यवहार-काल हुआ आज, उसमें वृत्ती अर्थात् रहने वाला प्रागभाव होगा आज के बाद होने वाले दिनों का प्रागभाव अतः उस प्रागभाव के प्रतियोगी होगें सारे आगामी दिन, अतः आगामी सारे दिन आदि भविष्य काल कहला पाते हैं, और उन्हीं के साथ संबद्ध होने वाले घट पट आदि भी भविष्य कहलाते हैं। अब यहां प्रश्न यह एक उपस्थापित हो सकता है कि सूर्य की क्रिया को ही 'काल मानकर तत्सम्पृक्त रूप में घट पट आदि में अतीत वर्तमान आगामी इत्यादि व्यवहार सम्पन्न किया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में उक्त व्यवहार की सिद्धि के लिए क्यों काल नामक अतिरिक्त पदार्थ माना जाय ? तो इसके उत्तर दो हैं। एक यह कि सूर्य क्रिया असंख्य होने के कारण अनुगत नहीं हैं। अतः अननुगत क्रियाओं को उक्त प्रकार व्यवहारों का संपादक न मानकर एक अतिरिक्त काल को मानकर उसे ही उक्त प्रकार व्यवहारों का संपादक मानना लाघव के अनुरोध से उचित होगा। दूसरा यह कि सूर्य की क्रियाएं तो निजी समवाय संबंध से सूर्य में ही रहेंगी घट पट आदि पर आ नहीं पायेंगी। अतः सूर्यगत क्रियाओं को घट पट आदि पर लाने के लिए संबंधान्तर को खोजना होगा। संयोग संबंध दो अवयवावयविभावानापन्न द्रव्यों को ही आपस में जोड़ पाता है, इसलिए सूर्यगत क्रिया को घट पट आदि पर लाने में संबंध क्षम नहीं हो पायेगा। न्याय मत में स्वरूप संबंध कहीं भी क्रिया के अस्तित्व का नियामक माना जाता नहीं, अतः स्वरूप संबंध भी सूर्यगत क्रिया को घट पट आदि पर नहीं ला पायेगा।

'स्वाश्रय-तपन-संयोगि-संयोग' स्वरूप परंपरा संबंध को लेकर सूर्यगत क्रिया को घट पट आदि पर लाना होगा। इस परंपरा संबंध के अंदर आये हुए स्वपद से ग्राह्य होगी, आग्नेयक्रिया, उसका समवाय संबंध से आश्रय होगा तपन अर्थात् सूर्य उसका संयोगी जब कोई व्यापक द्रव्य गृहीत हो पायेगा तब उसका संयोग घट पट आदि पर आपायेगा, और तब संबंध घट पट आदि पर आ सकने के कारण उक्त स्वपद-ग्राह्य क्रिया को भी ला पायेगा। अन्यथा नहीं। सूर्य और घट आदि दोनों से संयुक्त, उक्त संबंध घटक व्यापक द्रव्य के रूप में आकाश दिक् एवं आत्मा को नहीं लिया जा सकता। क्योंकि विनिगमक के अभाव-प्रयुक्त यह निर्णय नहीं हो पायेगा कि किस व्यापक को प्रकृत संबंध संपादनार्थ अपनाया जाय। इसलिए घट पट आदि उक्त सूर्य गत क्रिया के आनयनार्थ अतिरिक्त एक काल नामक व्यापक द्रव्य को ही मान्यता देनी होगी जो कि क्रियालय सूर्य और घट पट आदि दोनों से संयुक्त होने के कारण उक्त परंपरा संबंध का संपादक बनकर घट पट आदि में अतीत वर्तमान अनागत

आदि व्यवहार करा पायेगा। घट पट आदि में एक और बात यहां ध्यान देने योग्य यह है कि केवल सूर्यगत क्रिया को अतीत आदि व्यवहार का नियामक इसलिए नहीं माना जा सकता कि पीछे होने वाली क्रिया को लेकर अतीत को अनागत और विनष्ट क्रिया को लेकर अनागत को अतीत कहा जाने लगेगा जो कि उचित नहीं ठहराया जा पायेगा। इसलिए सूर्य की अतीत क्रिया को घट पट आदि में अतीत व्यवहार का नियामक और वर्तमान क्रिया को उनमें वर्तमान व्यवहार का नियामक, तथा अनागत क्रिया को उनमें अनागत व्यवहार का नियामक मानना होगा। ऐसी परिस्थिति में काल की मान्यता इसलिए आवश्यक हो उठेगी कि घट पट आदि में उक्त प्रकार व्यवहार के नियामक क्रियाओं में ही पहले अतीतत्व अनागतत्व कैसे हो पायेगा काल के बिना ?

यद्यपि व्यवहार पद से वाक्यात्मक व्यवहार अनायास लिया जा सकता है जो कि समवाय संबंध से आकाश में रहता है, शब्द होने के नाते। अतः आकाश कालात्मक व्यवहार का समवायि कारण होने के कारण अतीत आदि व्यवहार का हेतु होता है, सुतरां आकाश में काल लक्षण की अति व्याप्ति होती है। किंतु उस अति व्याप्ति का कारण इस प्रकार होता है कि 'अतीतादिव्यवहारहेतुः' यहां पर हेतु पद निमित्त कारण के बोधनार्थ प्रयुक्त हुआ है। आकाश वाक्यात्मक व्यवहार का समवायिकारण होता है निमित्त कारण नहीं। इस पर भी यदि यह कहा जाय कि सब वाक्यात्मक व्यवहार के प्रति निमित्त कारण होने वाले कण्ठतालु संयोग में काल लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि लक्षण में विभुत्व का भी प्रवेश विवक्षित है। आशय यह कि 'अतीतादिव्यवहार हेतुत्वे सति विभुत्वं कालत्वम्' अर्थात् अतीत आदि व्यवहार के प्रति निमित्त कारण होने वाला व्यापक है काल। ऐसा कहने पर उक्त कण्ठतालु संयोग आदि में अतिव्याप्ति इसलिए होती नहीं कि वे व्यापक होते नहीं। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि लक्षणगत इन अतिव्याप्तियों को ध्यान में रखकर ही दीपिका में कालका यह लक्षण बतलाया गया है कि 'सर्वाधारः कालः सर्वकार्ये निमित्त कारणं च'। इस काल लक्षण के अंदर भी आदि में 'कालिक सम्बन्धेन' यह जोड़ना चाहिए। तदनुसार 'कालिकसम्बन्धेन सर्वाधारत्वेसति सर्वकार्ये-निमित्तकारणत्वम्' अर्थात् कालिक संबंध से सारी वस्तुओं का आधार होता हुआ जो सभी कार्यों के प्रति कारण है वह है काल। इस प्रकार काल का निर्वचन ज्ञातव्य है। यहां यदि इतना ही कहा जाय कि 'सभी कार्यों के प्रति निमित्त कारण होने वाला है काल' तो यह काल का लक्षण ईश्वर की इच्छा में अतिव्याप्ति हो उठेगा। क्योंकि वह भी जागतिक समग्र कार्य के प्रति निमित्त कारण होती है। यदि इतना ही कहा जाय कि

'कालिक संबंध से सबका आधार होने वाला है काल' तो यह काल का लक्षण कालोपाधिभूत क्रियाओं एवं जन्य द्रव्य एवं जन्य गुणों में अतिव्याप्ति हो उठेगा। क्योंकि कालिक संबंध से सारे पदार्थ काल की तरह उक्त कालोपाधियों में भी रहते हैं। काल द्रव्य के एक होने पर भी भूत भविष्य वर्तमान आदि उसके प्रभेद घटाकाश पटाकाश आदि की तरह औपाधिक होते हैं।

तर्क-संग्रह

प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक्। सा चैका बिम्बी नित्या च।

अनुवाद

प्राची आदि व्यवहार के प्रति कारण है दिक्। वह एक है, विभु है और नित्य है।

दीपिका

दिशोलक्षणमाह प्राचीति। दिगपि कार्यमात्रे निमित्तकारणम्।

अनुवाद

दिक् का लक्षण करते हैं 'प्राच्यादि' इसके द्वारा। दिक् भी कार्यमात्र के प्रति निमित्त कारण है।

विवरण

पूर्व दिशा है प्राची। आदि पद से प्रतीची अर्थात् पश्चिम, उदीची अर्थात् उत्तर, अवाची अर्थात् दक्षिण आदि ग्राह्य हैं। अभिप्राय यह कि इनसे संपृक्त रूप में होने वाले व्यवहारों के प्रति असाधारण रूप से कारण होने वाली है दिक्। यहां भी काल की तरह दिक् के एक मात्र होने पर भी औपाधिक रूप से पूरब, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर आदि व्यवहार होते हैं। यहां तर्क संग्रह के अपर व्याख्याता गोबर्द्धन ने अपनी न्याय बोधिनीटीका के अंदर उदयाचल सन्निहित दिशा को प्राची और उसके विपरीत होने वाली दिशा को प्रतीची, सुमेरुसन्निहित दिशा को उदीची और उसके विपरीत होने वाली दिशा को अवाची कहा है। परंतु दीपिका के व्याख्याता सूक्ष्मदर्शी विद्वान नीलकंठ ने उदयाचलसन्निहित-मूर्तावच्छिन्न अर्थात् तादृशमूर्तसंबंधी दिशा को प्राची, और तादृश अचलव्यवहितमूर्तावच्छिन्न दिशा को प्रतीची, एवं सुमेरुसन्निहित मूर्तावच्छिन्न दिशा को उदीची और सुमेरु व्यवहित मूर्तावच्छिन्न दिशा को अवाची कहा है। इस प्रकार कथन का प्रयोजन है अवांतर आपेक्षिक पूर्व पश्चिम भाव से संबंधित व्यवहार का संपादन। कहने का तात्पर्य यह कि

काशी से पटना पूरब है और प्रयाग पश्चिम यह व्यवहार संपादनीय है। उदयाचल सन्निहित दिशा है पूरब इस व्याख्या के अनुसार सरलभाव से यह व्यवहार संपन्न इसलिए नहीं होता दीख पड़ता है कि 'उदयाचलसन्निहित' इस पद के प्रयोग से उदयाचल का अत्यन्त नैकट्य पूरब होने के लिए अपेक्षित होता हुआ प्रतीत होता है, जो कि उसके अति दूरवर्ती पटना आदि में होने वाला देखा जाता नहीं। मूर्त द्रव्यों को बीचमें ले आने पर काशी से लेकर उदयाचल तक के अंदर आने वाले सभी मूर्तद्रव्य उदयाचल सन्निहित होते हैं अतः पटना से संबद्ध दिक् भी उदयाचल सन्निहित मूर्तावच्छिन्न हो जाती है। सरल अभिप्राय यह कि मूर्तों को बीच में ले आने पर संयुक्त संयोग का अल्पत्व और भूयस्त्व व्यक्त होता है तदनुसार उदयाचल और पूर्वत्वेन अभिमत के बीच संयुक्त संयोग की अल्पता होगी और पश्चिमत्वेन अभिमत के बीच संयुक्त संयोग का आधिक्य होगा। इसी के आधार पर पूर्व पश्चिम भाव एवं तत्संबद्ध व्यवहार सम्पन्न होगा। गोवर्द्धन कथित निर्वचन के अंदर आये हुए 'सन्निहित' पद का अभिप्राय यहां तक मान लेने पर वह कथन भी संगत हो सकता है।

तर्क संग्रह

ज्ञानाधिकरणमात्मा। स द्विविधः परमात्मा जीवात्मा चेति। तत्रेश्वरस्सर्वज्ञः परमात्मा एक एव। जीवात्मा प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च।

अनुवाद

ज्ञान का अधिकरण है आत्मा। वह परमात्मा और जीवात्मा इस प्रकार दो प्रभेदों से युक्त है। इन दो आत्म-प्रभेदों के अंदर परमात्मा है सर्वज्ञ ईश्वर जो कि एक ही है। किंतु जीवात्मा प्रत्येक शरीर में अलग-अलग है, परंतु जीवात्मा भी परमात्मा की तरह व्यापक है और नित्य है।

दीपिका

आत्मनो लक्षणमाह ज्ञानेति। आत्मानं विभज्ते सद्विविध इति। परमात्मनोलक्षणमाह तत्रेति। नित्यज्ञानाधिकरणत्वं ईश्वरणत्वम्। नन्वीश्वरस्य सद्भावे किं प्रमाणम्? नतावत्प्रक्षम्। तद्धिवाह्यमाभ्यन्तरं वा। नाद्यः अरुपिद्रव्यत्वात्। नान्त्यः आत्मसुखादि व्यतिरिक्तत्वात्। नाप्यनुमानं लिंगाभावात्। नाप्यागमः तथाविधागमाभावात् इतिचेन्न, क्षित्यंकुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत् इत्यनुमानस्यप्रमाणत्वात्। उपादानगोचरापरोक्षज्ञाचिकीर्षकृतिमत्वं हि कर्तृत्वम्। उपादानं समवा-

यिकारणम् । सकलपरमाण्वादिसूक्ष्मदर्शित्वात् सर्वज्ञत्वम् । यः सर्वज्ञः स सर्ववित् इत्यागमोऽपिप्रमाणम् । जीवस्य लक्षणमाह जीवेति । सुखादिकं जीवलक्षणम् । ननु मनुष्यो हं ब्राह्मणोऽहम् इत्यादौ सर्वत्राऽहं प्रत्यये शरीरस्यैव विषयत्वात् शरीरमेवात्मेतिचेन्न शरीरस्य करपादादिनाशे शरीरस्यापिनाशादात्मनो पि नाशापत्तेः । नापीन्द्रियाणामात्मत्वम्, तथात्वे योऽहं पटभद्राक्षं सो हमिदानीं स्पृशामीत्यनुसन्धानाभावप्रसंगात् । अन्यानुभूतेऽन्यस्यानुसन्धाना योगात् । तस्माद्देहेन्द्रियव्यतिरिक्तोजीवः, सुखादिवैचित्र्यात्प्रतिशरीरं भिन्नः । स च न परमाणुपरिमाणः शरीरव्यापिसुखाद्यनुपलब्धिप्रसंगात् । न मध्यमपरिमाणः तथा सत्यनित्यत्वेन कृतहानाऽकृताभ्यागमप्रसंगात् । तस्माद्भिन्नो विभुर्जीवः ।

अनुवाद

आत्मा का लक्षण करते हैं 'ज्ञानाधिकरणम्' इत्यादि के द्वारा । आत्मा का विभाजन करते हैं 'सद्विविधाः' इसके द्वारा । 'तत्र ईश्वरः' इसके द्वारा परमात्मा का लक्षण किया है । नित्यज्ञान का आश्रय है ईश्वर । ईश्वर के अस्तित्व में क्या प्रमाण है ? प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं कहा जा सकता । क्योंकि ईश्वर के अस्तित्व में वाह्य प्रत्यक्ष प्रमाण होगा या अंतर प्रत्यक्ष । आद्य अर्थात् प्रथम पक्ष इसलिए आश्रयणीय नहीं हो सकता कि परमेश्वर रूपी द्रव्य नहीं है । द्वितीय पक्ष भी इसलिए उचित नहीं कहा जा सकता कि वह न तो जीवात्मा है और न उसके गुणभूत सुख दुःख आदि । अनुमान प्रमाण भी परमेश्वर के संबंध में इसलिए नहीं कहा जा सकता कि उसका साधक कोई हेतु पाया जाता नहीं । शब्द प्रमाण कहना भी इसलिए कठिन है कि ऐसा कोई शास्त्र-वचन पाया जाता नहीं । इस प्रकार ईश्वर के अस्तित्व में प्रमाण का अभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'क्षिति अंकुर आदि भी कर्तृजन्य हैं क्योंकि घट आदि के समान वे भी कार्य हैं अर्थात् उत्पत्तिशील हैं, यह अनुमान प्रमाण, ईश्वर का स्थापक विद्यमान है। उपादान विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान, चिकीर्षा एवं प्रयत्न इनसे युक्त होता है कर्ता। उपादान होता है समवायिकारण । परमाणु आदि सभी सूक्ष्म वस्तुओं का देखने वाला होने के कारण ईश्वर सर्वज्ञ हैं । सर्वज्ञ ईश्वर के अस्तित्व में 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' यह वेदवाक्य भी प्रमाण पाया जाता है । 'जीवस्तु' इसके द्वारा जीव का परिचय दिया गया है । सुख दुख आदि जीव के लक्षण हैं । 'मैं मनुष्य हूँ' 'मैं ब्राह्मण हूँ' इत्यादि ज्ञान में 'मैं' इससे शरीर का ही विषयीकरण होता है । अतः शरीर से अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व क्यों माना जाय ? यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि हाथ पांव आदि शरीरावयव के नाश प्रयुक्त शरीर नाश होने पर आत्मा का नाश हो जायगा । इंद्रिय को भी आत्मा इसलिए नहीं माना जा सकता कि

'जो मैंने पहले घड़े को देखा था वही मैं उस घड़े को छू रहा हूँ' इस प्रकार होने वाली प्रत्यभिज्ञा नहीं हो पायेगी। क्योंकि अन्यकर्तृक अनुभव के विषयभूत वस्तु का अन्यकर्तृक स्मरण होता नहीं। अतः शरीर एवं इंद्रियों से अतिरिक्त आत्मा मान्य है। साथ ही वह सुख दुख आदि की विलक्षणता प्रयुक्त प्रत्येक शरीर में अलग-अलग मान्य है। वह परमाणु के समान अत्यन्त अणु नहीं माना जा सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर शरीर व्यापी सुखोपलब्धि अनुपपन्न हो उठेगी। घट आदि के समान जीव को मध्यमपरिमाण युक्त नहीं कहा जा सकता। क्योंकि फिर उसमें अनित्यता आपन्न होने के कारण कृतकर्मों के फलोपभोग की अनुपपत्ति और अकृत कर्मों के फलोपभोग की आपत्ति आपन्न हो उठेगी। अतः जीवात्मा व्यापक एवं नित्य है।

विवरण

'तत्रेश्वरः सर्वज्ञः' इस मूल ग्रंथ के द्वारा 'सकलपदार्थविषयकज्ञानवत्वं ईश्वरत्वम्' 'अर्थात् सभी वस्तुओं के ज्ञान का आश्रय देने वाला है ईश्वर' यह लक्षण सूचित हुआ है। किंतु 'प्रमेयम्' अर्थात् प्रमेय है इस प्रकार प्रमेयरूप से सकल वस्तु का ज्ञान तो जीवों को भी होता है। तदनुसार जीव में ईश्वर लक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न हो उठती है। इसलिए 'विशिष्य ततत्सकलपदार्थविषयकज्ञानवत्वं ईश्वरत्वम्' अर्थात् विशेषरूप से एक-एक करके सकल पदार्थ को जानना है ईश्वरता इस प्रकार ईश्वर का लक्षण करना होगा। तदपेक्षया लघुलक्षणांतर बतलाया गया है 'नित्यज्ञानाधिकरणत्व' इत्यादि के द्वारा। अब यहां प्रश्न यह एक उपस्थित होता है कि 'नित्यंविज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति वाक्य के द्वारा ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर नित्य ज्ञान स्वरूप तथा आनन्द स्वरूप हैं फिर परमेश्वर को नित्य ज्ञान का अधिकरण अर्थात् आधार कैसे कहा जा सकता ? इसका उत्तर यह है कि उक्त श्रुति वाक्यगत विज्ञान शब्द का अर्थ ज्ञान का आश्रय एवं आनन्द शब्द का अर्थ सुख का आश्रय विवक्षित है। यह इससे सूचित होता है कि सुख अर्थक आनन्द शब्द नित्य पुलिंग रूप में प्रयुक्त हुआ करता है। यहां 'आनन्द' इस प्रकार नपुंसक रूप में किया गया प्रयोग स्पष्ट रूप से यह सूचित करता हुआ दीख पड़ता है कि 'अर्श आदित्वान्' अच् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न होने के कारण आनन्दं का अर्थ आनन्द का आश्रय है। विज्ञान का भी अर्थ विज्ञानाश्रय ही है सुख के आश्रयवाची आनन्द पद के साहचर्य से। इसके अनन्तर यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि परमेश्वर को आनन्द का आश्रय मानना भी नैयायिकों के लिए खतरे से खाली नहीं है क्योंकि ऐसा मानने में 'अपसिद्धान्त' नामक निग्रह-स्थान का भय अनिवार्य रूप से आपन्न होता है। क्योंकि न्याय वैशेषिक मत में सुख दुःख जीवात्मा के ही गुण माने जाते हैं। अतः उक्त कथन कैसे संगत हो सकता ?

तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि उक्त श्रुतिवाक्य में 'आनन्द' शब्द दुःख के अभाव अर्थ में औपचारिक रूप से प्रयुक्त हुआ है। सारांश यह कि परमेश्वर आनन्द है इस श्रोत कथन का अर्थ यह है कि परमेश्वर को दुःख नहीं होता है वे दुःखाभाववान् हैं। 'अरुपिद्रव्यत्वात्' इस कथन का आशय यह है कि जिस मत में बहिरिन्द्रिय से होने वाले द्रव्य मात्र के प्रत्यक्ष में उद्भूत रूप को कारणता मान्य है उस मत में भला कैसे परमेश्वर के संबंध में प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित किया जा सकता ? क्योंकि परमेश्वर रूपवान द्रव्य है नहीं।

'आत्मसुखादिव्यतिरिक्तत्वात्' इस कथन का सारांश यह है कि जिन पदार्थों का मानस प्रत्यक्ष हुआ करता है परमेश्वर उनके अंदर आता नहीं। मानस प्रत्यक्ष वहां ही होता है जहां प्रत्यक्ष विषय के साथ मन का विलक्षण संयोग घटित सन्निकर्ष स्थापित हो पाता है। सारांश यह कि मानस प्रत्यक्ष स्वात्मा एवं स्वात्मगतज्ञान इच्छा आदि गुणों का ही होता है, परमेश्वर उसके अंदर आता नहीं। 'क्षित्यंकुरादिकं सकर्तृकम्' इस कथन के द्वारा ईश्वर-साधक अनुमान उपन्यस्त हुआ है। यहां 'क्षितिः सकर्तृका कार्यत्वात् घटवत्' यह और अंकुरसंकर्तकं कार्यत्वात् घटवत् इस प्रकार दो अनुमान ईश्वर साधक रूप से विवक्षित हैं। यहां प्रथम अनुमान के संबंध में यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि पक्षवाची क्षितिपद से समग्र पार्थिव द्रव्य अभिप्रेत हैं या नहीं ? यदि यह कहा जाय कि समग्र पार्थिव पदार्थ विवक्षित हैं, तो अनुमान भागासिद्धि नामक हेत्वाभास से तुष्ट हो पड़ेगा। क्योंकि नित्य पार्थिव परमाण्वात्मक पक्षैकदेश में कार्यत्व अर्थात् जन्यत्व हेतु रह पायेगा नहीं। और यदि यह कहा जाय कि समग्र पार्थिव में कर्तृजन्यता नहीं साध्यरूप से विवक्षित है, तो उक्त अनुमान में अंशतः सिद्धसाधन दोष आ गिरता है। क्योंकि घट पट आदि असंख्य जन्य पार्थिव द्रव्यों में सकर्तृकत्व निर्विवाद रूप से मान्य है। क्योंकि घड़ा कुंभकार के द्वारा और कपड़ा तन्तुवाय के द्वारा उत्पन्न किया जाता है यह प्रत्यक्षसिद्ध है। अतः प्रथम अनुमान के द्वारा क्षिति के कर्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि कैसे की जा सकती है ? इसका सरल उत्तर यह ज्ञातव्य है कि इसलिए 'क्षित्यंकुरादि' यहां पर अंकुर पद का उपादान करके उक्त द्वितीय अनुमान ईश्वर के साधक रूप में उपस्थाप्य सूचित किया गया है। यहां कार्यत्व स्वरूप हेतु में यदि सकर्तृकत्व स्वरूप साध्य के व्यभिचार की आशंका उपस्थाति हो तो 'कार्यत्वं यदि सकर्तृकत्वव्यभिचारिस्यात् कृतिजन्यतावच्छेदकं न स्यात्' अर्थात् कोई भी वस्तु यदि सकर्तृक हुए बिना भी कार्य होने वाला माना जायगा तो 'कार्यमात्रके प्रति कृतिकारण है' यह अनुभव सिद्ध कार्य कारण भाव अमान्य हो उठेगा इस तर्क के द्वारा उस व्यभिचारशंका का निराकरण ज्ञातव्य है।

कर्तृत्व का परिचय दिया गया है 'उपादानगोचरापरोक्ष' इत्यादि के द्वारा। यद्यपि 'कृतिमत्वं कर्तृत्वम्' इस प्रकार भी कर्तृत्व का परिचय दिया जा सकता है फिर उक्त प्रकार से कर्तृत्व निर्वचन का तात्पर्य है यह कि सर्वत्र प्रवृत्ति स्थलों में पहले ज्ञान होता है, फिर इच्छा होती है, अनंतर प्रवृत्यात्मक कृति होती है, जिसके आश्रय होने के नाते कोई भी व्यक्ति कर्ता कहलाता है। मूल ग्रंथ में 'जीवः प्रतिशरीरं' इसके द्वारा शरीर की विभिन्नता के अनुसार जीवात्मा की भी विभिन्नता मान्य है यह बात बतलायी गयी है। वहां प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि यह कथन इसलिए उचित नहीं ठहराया जा सकता कि शारीरिक अवयवों की वृद्धि एवं ह्रास के अनुसार एक देवदत्त यज्ञदत्त आदि शरीर को भी हजारों में मान्यता प्राप्त होती है किंतु तत्प्रयुक्त आत्मभेद तो मान्य होता नहीं। फिर 'प्रतिशरीरं भिन्नः' यह कथन कैसे संगत कहला सकता है? इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि 'प्रतिशरीरं' यहां पर शरीर पहले एक कालिक विभिन्न शरीर ग्राह्य है। एक कालिक विभिन्न शरीर विभिन्न प्राणि व्यक्तियों के ही शरीर होंगे एक व्यक्ति के विभिन्न कालिक शरीर नहीं। अतः उक्त दोष नहीं आपन्न हो पाता, शंका का स्थान नहीं रह जाता है। यदि फिर भी योगियों के काय-व्यूह स्थलीय विभिन्न एक कालिक शरीरों को लिया जाय तो असंगति अनिवारित है, ऐसा कहा जाय, तो प्रकृत शरीर पद से योगजधर्माजन्य शरीरों को लेना चाहिए। कायव्यूहात्मकविभिन्न एक कालिक शरीर योगजधर्म से ही उत्पन्न होने के कारण योगजधर्मजन्य ही होते हैं, योगजधर्माजन्य नहीं। अतः वहां एक आत्मा के ही विभिन्न शरीर होने पर भी 'प्रतिशरीरं भिन्नः' यह कथन संगत रह जाता है। खण्डनार्थ चार्वाक मत उपस्थापित हुआ है 'ननु मनुष्योऽहम्' इत्यादि के द्वारा। चार्वाक सिद्धांत में शरीर ही आत्मा रूप से मान्य है शरीरातिरिक्त नहीं। क्योंकि चार्वाक लोग प्रत्यक्षमात्र को प्रमाण मानते हैं। प्रत्यक्ष शरीर का ही होता है शरीरातिरिक्त आत्मा का नहीं। यद्यपि 'अहंजाने अहंसुखी' अर्थात् मैं जानता हूँ मैं सुखी हूँ इस प्रकार मानस प्रत्यक्ष शरीरातिरिक्त आत्मा का होता ही है किंतु वहां भी 'अहं' इस रूप में शरीरातिरिक्त आत्मा विषय होता है इसका निर्णायक कोई पाया जाता नहीं यह चार्वाकियों का अभिप्राय है। तदनुसार अहं पद से सर्वत्र शरीर ही ग्राह्य है शरीरातिरिक्त आत्मा नहीं। इसका प्रतिपादन किया गया है 'मनुष्योहं' 'ब्राह्मणोऽहम्' इत्यादि वाक्यों को उपस्थापित करके। 'मनुष्योहं ब्राह्मणो हमित्यादि 'यहां पर 'आदि' पद से 'स्थूलोंहम् कृशोहम्' अर्थात् मैं मोटा हूँ मैं दुबला हूँ इत्यादि प्रतीतियों एवं व्यवहारों का ग्रहण कर्तव्य है। उत्तर दिया गया है—'न, तथात्वे' इत्यादि के द्वारा। इसका आशय यह है कि किसी सर्वांग-सम्पन्न व्यक्ति ने कभी एक घड़े को देखा दैववश

उसका कोई अंग नष्ट हो गया। ऐसी परिस्थिति में भी वह इस प्रकार अनुभव करता हुआ पाया ही जाता है कि जो मैं पहले जिस घड़े को देखा था, सो मैं अब उस घड़े का स्पर्श कर रहा हूँ' शरीरात्मावाद की मान्यता पक्ष में यह प्रतीति बन पाती नहीं। क्योंकि अंगभंग के अनंतर उस पूर्व शरीर का अस्तित्व तो माना नहीं जा सकता। क्योंकि अवयव के नष्ट हो जाने पर अवयवी का भी नाश हो जाता है, यह अनुभव सिद्ध है। अतः उक्त प्रकार प्रत्यभिज्ञात्मक अनुभव के आधार पर यह मानना ही होगा कि शरीरातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व अवश्य मान्य है। अंगभंग के अतिरिक्त स्थलों में भी उक्त प्रत्यभिज्ञात्मक अनुभव को शरीरातिरिक्त आत्मा का स्थापक भली भांति बतलाया जा सकता है। क्योंकि शरीर में होते रहने वाले उपचय और अपचय के आधार पर वाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक के शरीर को एक नहीं कहा जा सकता, विभिन्न ही मानना होगा। किंतु अनेक समय पूर्व अनुभूत वस्तु का अनेक दिन पश्चात् भी स्मरण हुआ ही करता है। उक्त प्रकार प्रत्यभिज्ञा होती हुई पायी ही जाती है, अतः शरीर को आत्मा नहीं माना जा सकता।

कुछ लोग शरीर को तो आत्मा नहीं मानते किंतु इंद्रियों को आत्मा मान बैठते हैं अतः इंद्रियात्मवाद का भी खंडन किया गया है 'नापीन्द्रियाणां' इत्यादि के द्वारा। इस खंडन ग्रंथ का आशय यह है कि एक शरीर में इंद्रियां अनेक होने के कारण यह कहना कठिन होगा कि कौन इंद्रिय आत्मा है और कौन नहीं। ऐसी परिस्थिति में किसी भी विषय पर मतैक्य कठिन हो जायेगा। एक प्रवर्त्तक होगा तो उसी समय दूसरा निवर्त्तक भी हो उठेगा। जिसके कुफलस्वरूप जीवन व्यवस्था अस्तव्यस्त हो पड़ेगी। दूसरी आपत्ति इस इंद्रियात्मवाद की मान्यता पक्ष में यह आपन्न होगी कि शरीरात्मवाद की मान्यता पक्ष की तरह कि अन्य कर्त्तृक अनुभव से अन्य कर्त्तृक स्मरण भी मान्य हो उठेगा। क्योंकि सचक्षुष्कता के समय दृष्ट घट का अचक्षुष्क अर्थात् अंध हो जाने पर भी वह दृष्टा उस पूर्वानुभूत घट का स्मरण करता है यह सर्वविदित है। इस वस्तुस्थिति के अनुसार इंद्रियात्मवादी को अनुभवबिना मानना होगा आंख को, किंतु स्मर्त्ता उक्त परिस्थिति में आंख को नहीं कहा जा पायेगा यतः स्मरण के समय उसका अस्तित्व ही नहीं रहेगा। सुतरां स्मर्ता वहां अन्य इंद्रिय को मानना होगा। और ऐसा मानने पर देवदत्तकर्तृक अनुभव से यज्ञदत्त कर्त्तृक स्मरण का भी होना मान्य होगा, जो कि मान्य नहीं है। अतः इंद्रिय को आत्मा न मानकर आत्मा को इंद्रिय से अतिरिक्त ही मानना उचित है। शरीर एवं इंद्रियों से अतिरिक्त आत्मा की मान्यता पक्ष में ये आपत्तियां इसलिए नहीं हो पातीं कि एक स्थायी आत्मा अनुभव काल से लेकर स्मरण काल तक रहती है। वही

पहले अनुभव भी करती है और वही स्मरण भी। आत्मा प्रत्येक शरीर में विभिन्न ही होती है इसमें युक्ति बतलायी गयी है 'सुखादिवैचित्र्यात्' इसके द्वारा। इस कथन का सारांश यह है कि जब एक व्यक्ति सुखी होता है उसी समय अन्य व्यक्ति दुखी पाया जाता है। सुख और दुःख ये दोनों गुण अत्यन्त विरूद्ध हैं। दो विरूद्ध वस्तुएं एक ही समय एक ही आश्रय में विद्यमान होती नहीं। अतः एक ही समय सुखी दुखी होने वाली आत्माओं को विभिन्न मानना ही होगा। एक नहीं माना जा सकता। इसलिए आत्मा को शरीर भेद से विभिन्न मानना उचित है।

आत्मा को विभु अर्थात् व्यापक कहा गया है। वह उसकी व्यापकता तभी मान्य हो सकती है जब कि आत्मा में परम महत्त्व के अतिरिक्त परिमाण न सिद्ध हो सके। अतः अन्य दार्शनिकों द्वारा आत्मा में आशंकित परिमाणों का खंडन किया गया है 'सच न' इत्यादि के द्वारा। 'कृतहान' इसका विवक्षित अर्थ है किये गये कर्म के फल की प्राप्ति का अभाव। और 'अकृताभ्यागम' का विवक्षित अर्थ है न किये गये कर्म के फल की प्राप्ति। आत्मा को नित्य नहीं मानने पर कृतहान स्वरूप अनुपपत्ति और अकृताभ्यागम स्वरूप आपत्ति ये दोनों अनिवार्य रूप से प्राप्त होगें। और आत्मा का तभी नित्य होना संभव होगा जब कि वह घट आदि की तरह वह मध्यमपरिणाम युक्त न हो, किंतु आकाश की तरह परम महत्परिमाणयुक्त हो। परमाणु की तरह आत्मा को नित्य अणु मानने पर भी यद्यपि उक्त कृतहान एवं अकृताभ्यागम का वरण हो सकता है किंतु तब अनुपपत्ति यह होगी कि समय-समय पर जो शरीर व्यापी सुख की उपलब्धि होती हुई पायी जाती है वह न हो पायेगी। क्योंकि परम अणु आत्मा शरीर के जितने अंश से सम्बद्ध होगी वहां ही सुख एवं दुख की उपलब्धि हो पायेगी जैसा कि होती नहीं। आत्मा को व्यापक ही मानना उचित है ये सारी बातें स च न परमाणुपरिभाषणः यहां से लेकर 'विभुर्जीवः' यहां तक में बतलायी गयी है।

तर्क संग्रह

सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्त परमाणु-रूपं नित्यं च।

अनुवाद

सुख दुख आदि के प्रत्यक्ष के प्रति कारणीभूत इंद्रिय है मन। वह मन प्रत्येक आत्मा के लिए नियत होने के कारण अनंत अर्थात् असंख्य है। साथ ही वह परमाणु-परिमाण युक्त है एवं नित्य है।

दीपिका

मनसोलक्षणमाह-सुखेति। स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्वं मनसोलक्षणम्। मनोविभजते तत्रेति। एकैकस्यात्मन एकैकं मन आवश्यकमित्यात्मनामनेकत्वान्यनसोप्यनेकत्वमित्यर्थः। परमाणुरूपमिति-मध्यमपरिमाणवत्वे नित्यत्वप्रसंगादित्यर्थः। ननु मनो विभु स्पर्शरहितत्वादाकाशवदिति चेन्न। मनसोविभुत्वे आत्मननः संयोगस्यासमवायिकारणस्याभावात् ज्ञानानुत्पत्तिप्रसंगात्। न च विभुद्वयसंयोगोऽस्त्वितिवाच्यम् तत्संयोगस्य नित्यत्वे सुषुप्त्यभावप्रसंगात्। पुरतिद्व्यतिरिक्तप्रदेशात्ममनः संयोगस्य सर्वदा विद्यमानत्वात्। अणुत्वे तु यदा मनः पुरीतति नाड्यां प्रविशति तदा सुषुप्तिः यदा निस्सरति तथा ज्ञानोत्पत्तिरित्यणुत्वसिद्धिः।

अनुवाद

'सुखाद्युपलब्धि' इत्यादि के द्वारा मन का लक्षण बतलाया गया है। 'स्पर्शवत्वेसति क्रियावान्' अर्थात् स्पर्शवान् होते हुए क्रियावान् भी होना मन का लक्षण है। मन का विभाजन करते हैं 'तच्चै' इत्यादि के द्वारा। एक-एक आत्मा को एक-एक मन आवश्यक है इसलिए जीवात्मा की अनेकता-प्रयुक्त मन भी अनेक हैं। 'परमाणुरूपं' इत्यादि का आशय यह है कि मनको मध्यमपरिमाणयुक्त मानने पर उसमें अनित्यता आपन्न होगी। आकाश आदि की तरह स्पर्शरहित द्रव्य होने के कारण मन विभु है यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि मन को विभु मानने पर आत्ममनः संयोग स्वरूप असमवायिकारण के न हो पाने के कारण ज्ञान आदि की अनुत्पत्ति आपन्न हो उठेगी। विभुद्वय का संयोग मान्य है यह इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसकी नित्यता के कारण सुषुप्ति का अभाव आपन्न हो उठेगा। यतः परीतत् नाड़ी से अतिरिक्त स्थानों में भी आत्मा के साथ मन का संयोग सदा रहेगा। मन को अणु मानने पर मन जब पुरीतत् नाड़ी में प्रवेश करता है तो सुषुप्ति होती है और जब वह उस नाड़ी से बाहर निकल जाता है तब ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार मन में अणुत्व सिद्ध होता है।

विवरण

'अहं सुखी' 'अहं दुखी' अर्थात् 'में सुखी हूँ मैं दुखी हूँ' इत्यादि उपलब्धियों के प्रति अर्थात् मानस प्रत्यक्षों के प्रति हेतुभूत इंद्रि है मन, इस मूलार्थ के अनुसार 'सुखोपलब्धिकारणत्वे सति इंद्रियत्वम् मनसोलक्षणम्' यह सूचित हुआ है। किंतु यह लक्षण उक्त 'शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति' इत्यादि

के द्वारा सूचित गुरुतर इंद्रियत्व घटित होने के कारण गौरव ग्रस्त प्रतीत होता है अतः दीपिका में मन का लघु लक्षणांतर बतलाया गया है—'स्पर्श रहितत्वे सति' इत्यादि के द्वारा। तात्पयार्थ यह है कि 'जिसमें स्पर्श न हो किंतु क्रिया हो वह है मन। यहां 'क्रियावान् है मन्' इतना ही यदि कहा जाय तो क्रियाशील घट पट आदि में मन का लक्षण अतिव्याप्त हो उठता है। और यदि 'स्पर्शरहित है मन' इतना ही कहा जाय तो आकाश काल आदि में अतिव्याप्ति आपन्न होती है अतः स्पर्श रहितत्वे सति क्रियावत्वम्' यह मन का लक्षण बतलाया गया है। मन अनेक क्यों मान्य है ? इसका कारण बतलाया गया है 'एकैकस्यात्मनः' इत्यादि के द्वारा। आशय यह है कि जीवात्मा की अनेकता पहले बतलायी जा चुकी है। प्रत्येक जीवात्मा को अपने-अपने ज्ञान सुख आदि के मानस प्रत्यक्षार्थ एक-एक मन की आवश्यकता अनिवार्य होगी अतः जीवात्मा की अनेकता के अनुरूप मन की भी अनेकता मान्य है। किंतु मन को यदि व्यापक मान लिया जाय तो फिर अनेक मन मानने की आवश्यकता नहीं रह जायेगी इसलिए मन के विभुत्व का खंडन करने के लिए उसके विभुत्व की शंका उठायी गयी है 'ननु मनोविभु' इत्यादि के द्वारा। इसके द्वारा मन की विभुता का साधक अनुमान प्रमाण उपस्थित किया गया है। खंडन उपस्थित किया जा रहा है 'न मनसो विभुत्वे' इत्यादि के द्वारा। इस खण्डन-ग्रंथ का आशय यह है कि आत्मा व्यापक है यह बात निर्णीत हो चुकी है, अब यदि मन भी व्यापक माना जाय ती विभुद्वय-संयोग की अमान्यता प्रयुक्त आत्मा और मन इन दोनों का संयोग मान्य नहीं हो पायेगा। और आतममनःसंयोगात्मक असमवायिकारण संपन्न न हो सकने के कारण आत्मा में ज्ञान सुख आदि की उत्पत्ति नहीं हो पायेगी, जो कि हुआ ही करती है। अतः मन को विभु अर्थात् व्यापक नहीं माना जा सकता। किंतु यदि विभुद्वयसंयोग मान लिया जाय तो ज्ञान सुख आदि की अनुत्पत्ति की आपत्ति नहीं दी जा सकती अतः विभुद्वय-संयोग की अमान्यता बतलायी जा रही है 'न च विभुद्व संयोगः' इत्यादि के द्वारा। हेतु बतलाया जा रहा है 'तत्संयोगस्य नित्यत्वेन' इत्यादि के द्वारा। सारांश यह है कि विभुद्वयसंयोग यदि मान्य होगा तो वह नित्य भी होगा ही। क्योंकि व्यापक में क्रिया होती नहीं कि कर्मज वह हो पायेगा। ऐसी परिस्थिति में आत्मा और मनका संयोग सदाविद्यमान होने के कारण असमवायिकारण की सदा विद्यमानता-प्रयुक्त सदा ज्ञान उत्पन्न होते रहेंगे। फलतः सुषुप्ति कभी न हो पायेगी जो कि हुआ ही करती है। स्वमत में निद्रा का उपपादन करते हैं—'अणुत्वे तु' इत्यादि के द्वारा। यहां यह विशेष रूप से ध्यान रखने की बात है कि मन को विभु और विभुद्वय संयोग इन दोनों को मान्यता देने पर

पूर्वोक्त ज्ञानानुत्पत्ति प्रसंग का कारण होने पर भी एक समय अनेक ज्ञान के उत्पाद की आपत्ति अनिवार्य हो जाती है। इस विचार को देखते हुए संदेह उपस्थित हो सकता है कि विभुद्वयसंयोग की मान्यता और अमान्यता ये दोनों पक्ष क्यों दिखायी देते हैं। विवेचकों में इसके संबंध में होने वाले मतभेद का कारण क्या है? तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि कुछ लोग संयोग को 'अप्राप्तिपूर्वकप्राप्ति' स्वरूप मानते हैं और अन्य कुछ लोग संयोग को 'प्राप्ति' मात्र स्वरूप मानते हैं। प्रथम पक्ष में विभुद्वयसंयोग इसलिए बन पाता नहीं कि दो व्यापक आपस में कभी अप्राप्त नहीं हो सकते। अतः उनकी प्राप्ति अप्राप्ति पूर्वक नहीं कहला पाती। दूसरे पक्ष में यह बाधा इसलिए अनायास हट जाती है कि केवल प्राप्ति दो व्यापकों में भी अनादि एवं अनंत रूप से मान्य हो सकती है। वस्तुतः अप्राप्तिपूर्वक प्राप्ति को ही संयोग मानना युक्ति संगत है। क्योंकि संयोग एवं विभाग क्रिया के बिना हो नहीं सकते। इसीलिए कर्म का लक्षण महर्षि कणाद के द्वारा यह बतलाया गया है कि 'संयोगविभागयोरनपेक्षं कारणं कर्म' अर्थात् संयोग और विभाग के प्रति अनपेक्षरूप से कारण होने वाली वस्तु है कर्म। विभुपदार्थ में जब क्रिया हो ही नहीं सकती तब विभुद्वय-संयोग कैसे मान्य-ठहराया जा सकता है? हां एक विभु और एक अविभु, इन दोनों का संयोग हो सकता है पक्षिपर्वतसंयोग की तरह एक में होने वाली क्रिया से।

तर्क संग्रह

चक्षुर्मात्रग्राह्योगुणो रूपम्। तच्च नीलपीतरक्तहरितकपिशचित्रभेदात् सप्तविधम्। पृथिवीजलतेजोवृत्ति तत्र पृथिव्यां सप्तविधम्। अभास्वरं शुक्लं जले। भास्वरं शुक्लं तेजसि।

अनुवाद

जिस गुण का प्रत्यक्ष आंख से ही हो, अन्य किसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष हो नहीं वह कहलाता है रूप। वह शुक्ल नील पीत रक्त हरित कपिश और चित्र इन भेदों से सात प्रकार है। रूप पृथिवी जल और तेज इन तीन द्रव्यों में रहता है। पृथिवी आदि तीन द्रव्यों के अन्दर पृथिवी में सभी प्रकार के रूप रहते हैं। जल में अभास्वर-शुक्ल रूप रहता है और तेज में भास्वर-शुक्ल।

दीपिका

रूपं लक्षयति चक्षुरिति। संख्यादावतिव्याप्ति वारणाय मात्रपदम्। रूपत्वे तिव्याप्ति वारणाय गुणपदम्। रूपं विभजते तच्चेति। नन्वव्याप्य-

वृत्तिनीलादिसमुदाय एव चित्ररूपभितिचेन्न। रूपरहित्वेन पटस्याप्रत्यक्षत्वप्रसंगात्। न च रूपवत्समवेतत्वं प्रत्यक्षत्वप्रयोजकमिति। गौरवात्। तस्मात् पटस्य प्रत्यक्षानुपपत्त्या चित्ररूपसिद्धिः। रूपस्याश्रयमाह पृथिवीति। आश्रयं विभज्य दर्शयति तत्रेति।

अनुवाद

रूप का लक्षण करते हैं 'चक्षुर्मात्र' इत्यादि के द्वारा। संख्या आदि में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ मात्र पद दिया गया है। रूपत्व में अतिव्याप्ति वारण के लिए गुण पद उक्त हुआ है। रूप का विभाजन करते हैं 'तच्च' इत्यादि के द्वारा। अव्याप्यवृत्ती नील पीत आदि रूप समूह को ही क्यों न चित्र रूप माना जाय ? यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर उस पट की अप्रत्यक्षता आपन्न होगी जो कि विभिन्न वर्ण तंतुओं से आरब्ध होगा। गौरव दोष-प्रयुक्त यह भी नहीं कहा जा सकता कि रूपवत्समवेतत्व को अर्थात् रूपाश्रयनिष्ठता को प्रत्यक्षता का प्रयोजक मानेंगे। अतः पटप्रत्यक्ष की अनुपपत्ति के भय से चित्ररूप की सिद्धि होती है। कितने द्रव्य रूपवान् होते हैं यह बतलाते हैं 'पृथिवी' इत्यादि के द्वारा। किस रूप का आश्रय कौन द्रव्य है इसे विभाग पूर्वक बतलाते हैं 'तत्र' इत्यादि के द्वारा।

विवरण

रूपलक्षण में निविष्ट 'मात्र' इस पद का प्रयोजन बतलाते हैं 'संख्यादौ' इत्यादि के द्वारा। आदि पद से परिमाण आदि द्वीन्द्रियग्राह्य गुणों का ग्रहण ज्ञातव्य है। परिमाण आदि गुण आंख और त्वक् इन दोनों इंद्रियों में गृहित होने के कारण द्वीन्द्रियग्राह्य होते हैं। आशय यह कि यदि 'चक्षुर्ग्राह्योगुणो रूपम्' अर्थात् आंख से गृहीत होने वाला गुण है रूप इतना ही रूप का लक्षण कहा जाता तो परिमाण आदि गुणों में रूपलक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती। क्योंकि संख्या परिमाण आदि सामान्य गुणों का प्रत्यक्ष आंख और त्वक्-दोनों इंद्रियों से होने के कारण आंख से भी होता ही है। लक्षण के अंदर 'मात्र' पद का निवेश रहने पर उक्त लक्षण-वाक्य का अर्थ यह होता है कि जो गुण केवल आंख से ही गृहीत हो अन्य किसी वाह्य इंद्रिय से गृहीत न हो, वह कहलाता है रूप। अब संख्या आदि सामान्य गुणों में अतिव्याप्ति इसलिए नहीं हो पाती है कि संख्या परिमाण आदि गुण आंख से ही नहीं त्वक् से भी गृहीत होते हैं। फलतः 'चक्षुर्भिन्नेन्द्रियाग्राह्यत्वे सति चक्षुर्ग्राह्यगुणत्वम्' यह रूप का लक्षण पर्यवसित होता है। यहां यह ध्यान रखने की बात है कि 'चक्षुर्भिन्नेन्द्रियाग्राह्यत्व' का

अर्थ लाघवात् 'त्वगग्राह्यत्व' अर्थात् त्वक् से गृहीत न होने वाला इतना ही समझना चाहिए। अन्यथा व्यर्थ घ्राणेन्द्रिय ग्राह्यता, रसनेन्द्रिय ग्राह्यता आदि का अभाव लक्षण शरीर में निविष्ट होगा। 'त्वक् से जिसका प्रत्यक्ष न हो' इसके कहने पर भी संख्या परिमाण आदि वारित हो ही जायेंगे। क्योंकि उनका प्रत्यक्ष त्वगिन्द्रिय से भी होता ही है। यद्यपि ऐसा कहने पर भी प्रभाघट-संयोग में अतिव्याप्ति, रूपलक्षण की आपन्न होती है। 'क्योंकि बालसूर्य-किरण स्वरूप प्रभा के साथ होने वाला घट पट आदि का संयोग केवल आंख से ही गृहीत होता है अन्य किसी भी वाह्येन्द्रिय से नहीं। किंतु इस अतिव्याप्ति का निवारण, उक्त लक्षण की व्याख्या, 'त्वगग्राह्य-चक्षुर्ग्राह्य-गुणविभाजक-जातिमत्व' अर्थात् त्वक् से गृहीत न होता हुआ आंख से गृहीत होने वाली जो गुणत्वव्याप्य जाति, तादृश जातियुक्त होना है रूप का लक्षण, इस प्रकार करने पर हो जाती है। क्योंकि त्वक् से गृहीत न हो और आंख से गृहीत हो ऐसी गुणत्वव्याप्यजाति केवल रूपत्व जाति ही हस्तगत हो सकती है अन्य कोई जाति नहीं। और वह रूपत्व-जाति रूप में ही रह सकती है अन्यत्र कहीं नहीं। अतः संख्या परिमाण आदि में प्रदत्त उक्त अतिव्याप्ति वारित हो जाती है। इस रूप निर्वचन से यह भी लाभ होता है कि परमाणुरूप में लक्षण की अव्याप्ति आपन्न हो पाती नहीं। क्योंकि रूपत्वजाति परमाणुरूप में भी रहती है।

चित्ररूप के सिद्ध्यर्थ पहले उसके संबंध में शंका उपस्थापित होती है— 'नन्वव्याप्यवृत्ति' इत्यादि के द्वारा। इस शंका ग्रंथ का आशय यह है कि जहां चित्र रूप माना जाता है वहां विभिन्न अल्प अल्प स्थानों में रहने वाले विभिन्न नील पीत आदि रूप ही क्यों न माने जांय? नील पीत आदि रूपों से अतिरिक्त एक स्वतंत्र चित्र नामक रूप क्यों माना जाय? अव्याप्य वृत्ति का अर्थ होता है आश्रय को व्यापन करके न रहने वाला। फलतः आश्रय के एक भाग में रहने वाला। 'न रूपरहितत्वेनपटस्य' इत्यादि के द्वारा शंका का खंडन करके स्वतंत्र चित्र रूप का अस्तित्व स्थित किया गया है। तात्पर्य यह है कि चित्र पट में प्रत्यक्षतः गृहीत होने वाला रूप अव्याप्तवृत्ती है या व्याप्त वृत्ती यह तो चित्र रूप की मान्यता या अमान्यता के निर्णय पर्यन्ति संदिग्ध ही रहेगा, निश्चित नहीं हो पायेगा। अन्य कोई भी रूप अव्याप्यवृत्ति देखा जाता नहीं। अतः रूपत्व हेतु के द्वारा अन्य रूपों की तरह स्वतंत्र पट में गृहीत होने वाले रूप को भी व्याप्यवृत्ति ही मानना होगा। अतः वहां अव्याप्यवृत्ती होकर नील पीत आदि रूप, समुदित रूप में रहते हैं यह बात नहीं कही जा सकती है। अतः विभिन्न नील पीत ही वहां देखे जाते हैं इसे मानने पर, साथ ही यह भी मानना आवश्यक ही पड़ेगा कि वे प्रत्यक्ष होने वाले नील पीत आदि रूप, पट के नहीं, किंतु पटावयव भूत तंतुओं के ही होते हैं। ऐसी

परिस्थिति में घट को अवयव रूप रहित मानना होगा। और ऐसा मान लेने पर उस चित्र पट का प्रत्यक्ष इसलिए नहीं हो पायेगा कि, रुपरहित द्रव्य का प्रत्यक्ष होता नहीं, यह विस्तृत भाव से वायु की अप्रत्यक्षता के विचार के अवसर पर निर्णीत हो चुका है। पट का प्रत्यक्ष किंतु होता है अतः उसे रुपवान भी मानना ही होगा। विभिन्न रूप जब कि अवाप्यवृत्ती होकर उसमें रह सकते नहीं तो होने वाले प्रत्यक्ष के अनुरोध से एक चित्र रूप उस पट में अवश्य मान्य होगा।

चित्ररूप को मान्यता न देने वाले की ओर से पुनः प्रश्न उपस्थित कर उसका खंडन किया गया है 'न च रूपवत्समवेतत्वं' इत्यादि के द्वारा। प्रश्न का आशय यह होता है कि रूप को प्रत्यक्षता का प्रयोजक न मानकर 'रूपवत्समवेतत्व' को अर्थात् रूप के आधार में समवाय संबंध से होने वाली अस्तिता को प्रत्यक्षता का प्रयोजक मान लिया जाय तो चित्ररूप न मानते हुए भी चित्रपट का प्रत्यक्ष उपपन्न हो पायेगा। क्योंकि चित्रपट स्थल में रूप के आधार होंगे उस पट के आश्रयभूत तंतु, और उसमें समवाय संबंध से रहने वाला हो जायेगा वह चित्र-पट। इस प्रकार प्रत्यक्षता प्रयोजक 'रूपवत्समवेतत्व' के उस नीरूप पट में आ जाने के कारण उसका प्रत्यक्ष उपपन्न हो जायेगा। अतः पट के प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति के भय से चित्ररूप नहीं मनाया जा सकता। खंडन-ग्रंथ का आशय यह है कि जहां रूप को प्रत्यक्षता का प्रयोजक माना जाता है वहां उसके स्थान में 'रूपवत्समवेतत्व' को प्रत्यक्षता का प्रयोजक मानने में अत्यन्त गौरव दोष प्राप्त होता है। अतः रूप को ही प्रत्यक्षता का प्रयोजक मानना होगा। तदनुसार चित्र पट में रूप नहीं मानने पर उसका प्रत्यक्ष अवश्य अनुपपन्न होगा, अतः चित्ररूप अवश्य मान्य है। रूपवत्समवेतत्व को प्रत्यक्ष का प्रयोजक मानने में एक प्रबल बाधा यह उपस्थित है कि जो लोग परमाणु और द्वयणुक को मान्यता देते नहीं त्रेयणुक में ही अवयव धारा की विश्रांति मानते हैं अयवा त्र्यणुक का प्रत्यक्ष भी मानते हैं उनके मत में त्र्यणुक का प्रत्यक्ष अनुपपन्न हो बैठेगा। क्योंकि अणुक का अवयव तो उनके मत में होगा नहीं कि उसे रूपवान् पद से लेकर 'रूप-वत्समवेतत्व' त्र्यणुक में लाया जा सकेगा। फलतः प्रत्यक्षता के प्रयोजक रूप में स्वीकरणीय रूपवत्समवेतत्व त्र्यणुक में न आ पा सकने के कारण त्र्यणुक का प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा, जैसा कि वे लोग मानते हैं। किंतु यह ध्यान रखना चाहिए कि चित्र रूप की तरह चित्र रस नहीं मान्य ठहराया जा सकता। क्योंकि वहां रसना के केवल रस ग्राहक होने के कारण द्रव्य की अप्रत्यक्षता आपन्न नहीं हो सकती। रसना वहां अवयव रस का ही ग्रहण करा कर चरितार्थ हो सकती है।

तर्क-संग्रह

रसनाग्राह्यो गुणो रसः । स च मधुराम्ललवणकुटुकषायतिक्तभेदात् षड्-विधः पृथिवीजलवृत्तिः । पृथिव्यां षड्विधः । जले मधुर एव ।

अनुवाद

रसना अर्थात् जिह्वा से गृहीत होने वाला गुण है रस । वह मधुर अम्ल, लवण, कटु कषाय और तिक्त इन प्रभेदों के अनुसार छः प्रकार का है । रस पृथिवी और जल में रहता है । पृथिवी में ये सभी प्रकार के रस रहते हैं । जल में केवल मधुर ही रस रहता है ।

दीपिका

रसं लक्षयति रसेति । रसत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय गुणपदम् । रस-स्याश्रयमाह पृथिवीति । आश्रयं विभज्य दर्शयति पृथिव्यामिति ।

अनुवाद

'रसनाग्राह्यो' इत्यादि के द्वारा रस का लक्षण करते हैं । रसत्व में अति-व्याप्तिवारणार्थ गुण पद कहा गया है । रस का आश्रय बतलाते हैं 'पृथिवी जलवृत्तिः' इसके द्वारा । विभाजन करके आश्रय बतलाते हैं 'पृथिव्यां' इत्यादि के द्वारा ।

विवरण

रसना है जिह्वा । मूल के द्वारा 'रसनेन्द्रियग्राह्यत्वेसित गुणत्वं' यह रस का लक्षण सूचित होता है । यहां गुणत्व पद न कहने पर रसत्व जाति में अति-व्याप्ति रस लक्षण की आपन्न हो उठेगी । क्योंकि 'जो जिस इंद्रिय से गृहीत होता है तद्गत जाति भी उस इंद्रिय से गृहीत होती है' इस मान्य नियम के आधार पर रसत्व जाति भी रसनेन्द्रिय से गृहीत होती है । गुणत्व कहने पर अतिव्याप्ति इसलिए वारित हो जाती है कि गुणगत जाति गुण नहीं कहला सकती । अतः रसत्व जाति में गुणत्व धर्म जा पाता नहीं । किंतु यहां पर ज्ञातव्य है कि परमाणु—रस में अव्याप्ति अब भी हो रही है । क्योंकि परमाणु में महत्त्व न होने के कारण परमाणु के रस में समानाधिकरण्य संबंध से महत्त्व जा नहीं पाता जो कि गुण—प्रत्यक्ष के लिए नितांत आवश्यक है । अतः इसके निष्कृष्ट लक्षण का आकार 'रसनग्राह्य-गुणविभाजकोपाधिमत्वम्' अर्थात् रसना से गृहीत होने वाला जो गुणत्व का व्याप्य धर्म, तादृशधर्मयुक्त है रस, यह आकार समझना चाहिए । अब परमाणु रस में अव्याप्ति इसलिए नहीं हो पाती है कि

'रसत्व' धर्म रसना से गृहीत होने के कारण रसनाग्राह्य भी है और गुणत्व काव्याप्य अतः गुण विभाजक भी। वह रसत्व धर्म सभी रसों में रहता है तदनुसार उक्त परमाणु-रस में भी रहता है।

तर्क-संग्रह

घ्राणग्राह्यो गुणोगन्धः स द्विविधः सुरभिरसुरभिश्च। पृथिवीमात्रवृत्तिः।

अनुवाद

घ्राण से अर्थात् नाक से गृहीत होने वाला गुण है गंध। वह सुगंध और दुर्गंध इन दो प्रभेदों से युक्त है। गंध का अस्तित्व पृथिवी मात्र में है।

दीपिका

गन्धं लक्षयति घ्राणेति। गन्धत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय गुण इति।

अनुवाद

'घ्राणग्राह्य' इत्यादि के द्वारा गंध का लक्षण किया गया है। गंधत्व में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ गुण पद लक्षण में निविष्ट हुआ है।

विवरण

यहां भी मूल के अनुसार 'घ्राणग्राह्यत्वेसतिगुणत्व' गंध का लक्षण सूचित होता है। इस लक्षण के अंदर 'गुणत्व' मात्र को गंध का लक्षण मानने पर रूप रस आदि गुणों में गंध-लक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न होती है और 'घ्राणग्राह्यत्व मात्र को लक्षण मानने पर गंधत्व में अतिव्याप्ति आपन्न होती है। पूरा कहने पर ये दोनों अतिव्याप्तियां इसलिए वारित हो जाती हैं क रूप रस आदि गुणों में गुणत्व के रहने पर भी घ्राणग्राह्यत्व जाता नहीं। रसत्व में घ्राणग्राह्यत्व के होने पर भी गुणत्व जाता नहीं। गंध गुण में गुणत्व भी है और नाक से गृहीत होने के कारण घ्राणग्राह्यत्व भी। अतः लक्षण समन्वय होता है। किंतु यहां भी परमाणु गंध में अव्याप्ति के निवारणार्थ—'घ्राणग्राह्य-गुणत्व व्याप्त धर्मवत्व को गंध का लक्षण समझना चाहिए। गंधत्व जाति घ्राण ग्राह्य भी है और गुणत्व का व्याप्य भी। वह सभी गंधों में रहता है अतः परमाणु गंध में भी रहता है। अतः लक्ष्य में लक्षण समन्वित होता है।

तर्क-संग्रह

त्वगिन्द्रियमात्र ग्राहयोगुणः स्पर्शः। स त्रिविधः शीतोष्णानुष्णाशीतभेदात्। पृथिवीजलतेजोवायुवृत्तिः। तत्र शीतो जले। उष्णस्तेजसि। अनुष्णाशीतः पृथिवीवाय्योः।

अनुवाद

केवल त्वक् इंद्रिय से ही गृहीत होने वाला गुण कहलाता है स्पर्श। वह शीतल, उष्ण एवं अनुष्णाशीत इन प्रभेदों के कारण त्रिविध है। स्पर्श पृथिवी जल तेज और वायु इन चार द्रव्यों में रहता है। शीतल स्पर्श जल में, उष्ण स्पर्श तेज में, एवं अनुष्णाशीत स्पर्श पृथिवी एवं वायु इन दोनों में रहता है।

दीपिका

स्पर्शलक्षयति त्वगिति। स्पर्शत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय गुणपदम्। संयोगादौ अतिव्याप्तिवारणाय मात्रपदम्।

अनुवाद

स्पर्श का लक्षण करते हैं 'त्वगिन्द्रिय' इत्यादि के द्वारा। स्पर्शत्व में अतिव्याप्ति निवारण के लिए गुणपद कहा गया है। संयोग आदि में अतिव्याप्ति के वारणार्थ मात्र पद दिया गया है।

विवरण

मूल ग्रंथ से यद्यपि त्वगिभन्नेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षाविषयत्वे सति त्वगिन्द्रियजन्य-प्रत्यक्षविषयत्वम् 'यह लक्षण स्पर्श का प्राप्त होता है किंतु रूप लक्षण की तरह लाघव के अनुरोध से यहां भी 'चक्षुरग्राह्यत्वग्ग्राह्य-गुणत्वव्याप्य-धर्मवत्व' यह स्पर्श का लक्षण ज्ञातव्य है। इसका अर्थ यह है कि चक्षु से गृहीत न होने वाली किंतु त्वक् से गृहीत होने वाली जो गुणत्व-व्याप्य जाति, तादृशजाति युक्तता है स्पर्श का लक्षण। यहां चक्षुरग्राह्य कहने के फलस्वरूप संयोगत्व आदि जातियां निराकृत होती हैं। और त्वग्ग्राह्य कहने से रूपत्व रसत्व आदि जातियां निराकृत होती हैं तथा गुणत्व व्याप्य कहने से वायुत्व जाति का निराकरण होता है। वायु के भी स्पार्शन प्रत्यक्ष को मान्यता देने वालों के पक्ष में। जाति पद समवाय संबंध से आश्रयता सूचनार्थ विवक्षित है। ऐसी जाति स्पर्शत्व जाति होती है जो कि स्पर्श में रहती है अतः लक्ष्य में लक्षण समन्वित होता है।

तर्क-संग्रह

रूपादिचतुष्टयं पृथिव्यां पाकजमनित्यं च। अन्यत्रापाकजं नित्यमनित्यं च। नित्यगतं नित्यमनित्यगतमनित्यम्।

अनुवाद

रूप रस गंध और स्पर्श ये चार पृथिवी में पाकज होते हैं अतः अनित्य होते हैं। अन्यत्र नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के होते हैं। नित्यगत नित्य होते हैं और अनित्यगत अनित्य होते हैं।

दीपिका

पाकस्तेजस्संयोगः। तेन पूर्वरूपं नश्यति, रूपान्तरमुत्पद्यते इत्यर्थः। अत्र परमाणुवेव पाको न द्वयणुकादौ। आमपाकनिःक्षिप्ते घटे परमाणुषु रूपान्तरोत्पत्तौ श्यामघटनाशे पुनर्द्वयणुकादिक्रमेण रक्तघटोत्पत्तिः। तत्र परमाणवः समवायिकारणम्। तेजस्संयोगोऽसमवायिकारणम्। अदृष्टादिकं निमित्तकारणम्। द्वयणुकादिरूपे कारणरूपसमवायिकारणमिति पीलुपाकवादिनो वैशेषिकाः। पूर्वघटनाशं विनैव अवयविनि अवयवेषु परमाणुपर्यन्तेषु युगपद्रूपान्तरोत्पत्तिरिति नैयायिकाः। अतएव पार्थिवपरमाणु रूपादिकमनित्यमित्यर्थः। अन्यत्रेति जलादौ। नित्यगतं-परमाणुगतमित्यर्थः। अनित्यगतं-द्वयणुकादिनिष्ठमित्यर्थः। रूपादिचतुष्टयं उद्भूतं प्रत्यक्षम्। अनुद्भूतमप्रत्यक्षम्। उद्भूतत्वं प्रत्यक्षत्वप्रयोजको धर्मः। तद्भावोऽनुद्भूतत्वम्।

अनुवाद

पाक है तेज का संयोग। उससे पूर्व रूप रस गंध और स्पर्श नष्ट होते हैं एवं दूसरे रूप आदि उत्पन्न होते हैं। पाक परमाणुओं में ही होता है द्वयणुक आदि द्रव्यों में नहीं। आवां के अंदर घड़े को रखने पर परमाणुओं में पूर्वरूप नष्ट हो जाते हैं पर जब ॰रूपान्तर की उत्पत्ति हो जाती है तक श्यामघट का नाश होकर फिर द्वयणुक आदि क्रम से रक्त घट की उत्पत्ति होती है। वहां नवीन रूप के प्रति, परमाणु होते हैं समवायिकारण, तेज का संयोग होता है असमवायिकारण, और अदृष्ट प्रभृति अन्य सभी होते हैं निमित्त कारण। द्वयणुक आदि गत रूप के प्रति परमाणु आदि गत रूप होते हैं असमवायिकारण। यह परमाणु में ही पाक मानने वाले वैशेषिक लोगों का मत है। पूर्व घट के नाश के बिना ही अवयवी एवं परमाणुपर्यन्त अवयवों तक में साथ ही रूपांतर ही उत्पत्ति हो जाती है यह अवयवी में पाक मानने वाले नैयायिकों का मत है। अतः पार्थिव परमाणुओं तक का रूप अनित्य होता है। अन्यत्र अर्थात् जल आदि में नित्यगत अर्थात् परमाणुगत। अनित्यगत अर्थात् द्वयणुक आदिगत उद्भूत ही रूपादि चतुष्टय का प्रत्यक्ष होता है अनुद्भूत का नहीं। प्रत्यक्षता का प्रयोजक धर्म है उद्भूतत्व, और उसका अभाव है अनुद्भूतत्व।

विवरण

'पाकः तेजस्संयोगः' यहां पर 'तेजसंयोग' पद से तेज का वह संयोग विवक्षित है जिससे रूप का परावर्तन होता है। यह इसलिए कि अन्यथा अग्नि परमाणु संयोग के होने पर भी 'घटः पक्वः अर्थात् घड़ा पक गया है यह प्रतीति

होने लगेगी। परावृत्ति या परावर्तन है बदलना। 'अत्र परमाणुष्वेव' इत्यादि के द्वारा पाक संबंधी वैशेषिक मत बतलाते हैं। इन लोगों का कहना यह है कि जब पकाने के लिए आग के अंदर घड़े को रखा जाता है तब अग्नि संयोग से घड़े के परमाणु में क्रिया उत्पन्न होती है जिससे परमाणु आपस में विभक्त हो उठते हैं जिसके फलस्वरूप द्वयणुक का नाश हो जाता है। अनन्तर समवायिकरण द्वयणुक के नाश प्रयुक्त त्र्यणुक का नाश होता है। इसी प्रकार घटतक का नाश होता है। प्रत्येक परमाणु विशकलित हो जाते हैं। फिर उन परमाणुओं में पाक-वश रूप रस आदि बदल जाते हैं। फिर उन पक्व परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है जिससे परमाणु-द्वय-संयोग होने पर द्वयणुक उत्पन्न होता है और क्रमा-नुसार त्र्यणुक आदि की उत्पत्ति-पूर्वक पुनः घट तक बन जाता है। अग्नि संयोगा-नन्तर होने वाले रूप रस आदि के प्रति समवायिकारण आदि कौन होते हैं? इसका परिचय दिया गया है 'तत्र परमाणवः' इत्यादि के द्वारा। तत्र का अर्थ है—परमाणु के रूप के प्रति। पाक के विषय में नैयायिकों का मत उपस्थित किया गया है—'पूर्वघटनाशं विनैव' इसके द्वारा। इन लोगों का कथन है कि अग्नि संयोग होने पर भी घटीय परमाणु में द्वयणुक-नाशानुकूल क्रिया नहीं होती है। इसलिए द्वयणुक आदि के नाश क्रम से घड़े तक में रूप आदि बदल जाते हैं। घड़ा पक जाता है। अनंत सूक्ष्म छिद्र होने के कारण घड़े का कोई भी अंश अपक्व नहीं रहता। लाघव को देखते हुए इन दोनों मतों के अंदर न्याय-मत सरल जंचता है। क्योंकि इस मत में मध्यवर्ती द्वयणुक त्र्यणुक आदि असंख्य अवयवियों का नाश और पुनः उत्पाद नहीं मानना पड़ता है। और इसलिए क्षण विलंब भी नहीं मानना पड़ता है। साथ ही 'सएवायं घटः' अर्थात् यह वही घड़ा है यह पक्व घट के संबंध में होने वाला प्रमाणिक व्यवहार भी उपपन्न होता है। तथा घट के प्रति नियत दंड चक्र आदि की कारणता भी व्यभिचरित नहीं हो पाती। वैशेषिक मत में निश्चित कार्यकारणभाव को संकुचित करना होगा। 'अन्यमपाकजं' यहां पर अन्यत्र शब्द का 'जलादि में' यह अर्थ करना यद्यपि असंगत है क्योंकि रूपादि चतुष्टयतो जल आदि में रहते नहीं। क्योंकि गंध का अस्तित्व पृथिवी में ही है। अन्यत्र नहीं। तथापि यथायोग्य अन्वय की विवक्षा करके संगति लगायी जा सकती है। सांकर्यदोषवश उद्भूतत्व जाति नहीं है यह सूचित किया गया है 'उद्भूतत्व प्रत्यक्षत्व' इत्यादि के द्वारा। किंतु जो लोग सांकर्य को जाति-बाधक मानते नहीं उनके मत में उद्भूतत्व भी जाति हो सकता है।

तर्क-संग्रह

एकत्वादिव्यवहारहेतुः संख्या। नवद्रव्यवृत्तिः। एकत्वादि परार्द्धपयन्ता।

एकत्वं नित्यमनित्यं च। नित्यगतं नित्यमनित्यगतमनित्यम्। द्वित्वादिकं तु सर्वत्रानित्यमेव।

अनुवाद

एकत्वद्वित्व आदि से संबंधित व्यवहार का हेतु है संख्या। संख्या नवों द्रव्यों में रहती है। संख्या एकत्व से आरंभ करके परार्धपर्यन्त होती है। एकत्व नित्य भी होता है और अनित्य भी। नित्यगत एकत्व नित्य होता है और अनित्यगत अनित्य। द्वित्व त्रित्व आदि संख्याएं सर्वत्र अनित्य ही होती हैं।

दीपिका

संख्यां लक्षयति एकेति।

अनुवाद

'एकत्वादि' इत्यादि के द्वारा संख्या का लक्षण किया जा रहा है।

विवरण

मूलगत 'एकत्व व्यवहार' पद से 'यह एक है' इत्यादि व्यवहारों का ग्रहण कर्तव्य है। यहां मूल ग्रंथ के अनुसार 'एकत्वादि व्यवहार हेतुत्व' संख्या का लक्षण प्राप्त होता है। किंतु ऐसा संख्या का लक्षण आकाश में अतिव्याप्त हो उठता है। क्योंकि शब्दात्मक व्यवहार अपने समवायिकारण आकाश में समवाय संबंध से रहता है। अतः लक्षण घटक हेतु पद को निमित्त कारण वाची समझना चाहिए। इससे उक्त अतिव्याप्ति का निराकरण इसलिए हो जाता है कि आकाश शब्द का समवायिकारण है निमित्त कारण नहीं। परंतु इस पर भी काल में अतिव्याप्ति आपन्न होती है। क्योंकि काल सबके प्रति निमित्त कारण होने के नाते शब्दात्मक व्यवहार के प्रति भी निमित्त कारण होता ही है। इसलिए हेतु पद का अर्थ असाधारण निमित्त कारण ज्ञातव्य है। अब काल में अतिव्याप्ति इसलिए वारित हो जाती है कि काल साधारण कारण है, उक्त व्यवहार के प्रति असाधारण नहीं। तब एकत्वादिव्यवहारासाधारणकारणत्व संज्ञा का लक्षण पर्यवसित होता है। इस प्रकार के विचार को परिमाण पृथकत्व और संयोग इनके लक्षणों में भी संचारणीय समझना चाहिए। एकं रूपम्, द्वे रूपे, इत्यादि प्रतीतियां होती हैं। किंतु गुण में गुण का अस्तित्व मान्य नहीं है अतः संख्या गुण नहीं किंतु पदार्थान्तर है ऐसा परवर्त्ती नैयायिकों का मत है। परंतु यहां उक्त प्रतीतियां एकार्थ-समवाय संबंध-मूलक हुआ करती हैं यह बात पहले बतलायी जा चुकी है।

तर्कसंग्रह

मानव्यवहारासाधारणकारणं परिमाणम् नवद्रव्यवृत्ति । तच्चतुर्विधं अणुमहद्दीर्घं ह्रस्वं चेति ।

अनुवाद

'इदं एतावत्' अर्थात् यह इतना है इस प्रकार होने वाला व्यवहार होता है मान-व्यवहार । उसके प्रति असाधारण रूप से कारण होने वाला है परिमाण । वह सभी द्रव्यों में रहता है । अणु महत् दीर्घ और ह्रस्व ये चार परिमाण के प्रभेद हैं ।

दीपिका

परिमाणं लक्षयति मानेति । परिमाणं विभजते तच्चेति । भावप्रधानो निर्देशः, अणुत्वं महत्त्वं दीर्घत्वं ह्रस्वत्वं चेति ।

अनुवाद

'मान व्यवहार' इत्यादि के द्वारा परिमाण का लक्षण करते हैं । परिमाण का विभाजन करते हैं 'तच्च' इत्यादि के द्वारा । अणुमहत् इत्यादि निर्देश को भाव-प्रधान समझना चाहिए । अतः अणुत्व महत्व दीर्घत्व और ह्रस्वत्व की प्राप्ति होती है ।

विवरण

यह छोटा है, यह बड़ा है, यह इतना बड़ा है, वह उतना बड़ा है इत्यादि व्यवहार कहलाते हैं मान-व्यवहार । अणुत्व महत्त्व आदि परिमाणों की अमान्यता होने पर तो यह अणु है और वह दीर्घ इत्यादि लोक-सिद्ध व्यवहार बन पायेंगें नहीं, अतः परिमाण गुण अवश्य मान्य हैं । अणुत्व महत्त्व आदि को मूल में 'अणु' 'महत्' आदि शब्दों से कैसे कहा गया ? इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए कहा गया है 'भावप्रधानो निर्देशः' । भाव है धर्म और निर्देश कथन । कहने का तात्पर्य यह कि अणु महत् आदि धर्मी वाची शब्द धर्म अर्थ में यहां मूल में प्रयुक्त हुए हैं । तदनुसार अणु महत् दीर्घ और ह्रस्व ये शब्द फलतः अणुत्व महत्त्व दीर्घत्व और ह्रस्वत्व इनके वाची होते हैं ।

तर्कसंग्रह

पृथग्व्यवहारासाधारणकारणं पृथत्कम् । सर्वद्रव्य वृत्ति ।

अनुवाद

'घट पट से पृथक् है' इत्यादि व्यवहारों के प्रति असाधारण रूप से कारण होने वाला है पृथक्त्व। यह पृथक्त्व सभी द्रव्यों में रहता है।

दीपिका

पृथक्त्वं लक्षयति पृथगिति। इदमस्मात्पृथगितिव्यवहार-कारणम्।

अनुवाद

पृथत्वक् का लक्षण करते हैं 'पृथग्व्यवहार' इत्यादि के द्वारा। फलतः यह इससे पृथक् है इस प्रकार होने वाले व्यवहार का कारण है पृथक्त्व।

विवरण

इस पृथक्त्व गुण के संबंध में कुछ लोगों का कहना यह है कि वह गुण नहीं अन्योन्याभाव है। क्योंकि अपने में अपना भेद भी नहीं रहता और पृथक्त्व भी अपने में अपना भेद रहता नहीं और जहां किसी का भेद स्वरूप अन्योन्याभाव रहता है वहां उसका पृथक्त्व भी रहता ही है। ऐसी परिस्थिति में पृथक्त्व को अन्योन्याभाव न मानकर एक स्वतंत्र गुण क्यों माना जाय ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि 'घटः पटात् पृथक्' घट पट से पृथक् है इस प्रकार प्रतीति एवं प्रामाणिक व्यवहार दोनों ही होते हुए पाये जाते हैं किंतु 'घटः पटात् न' इस प्रकार प्रतीति भी न होती है और व्यवहार भी नहीं होता है। यह प्रतीति एवं व्यवहारगत अंतर बतलाता है कि पृथक्त्व और अन्योन्याभाव ये दोनों एक नहीं हैं। पृथक् पद से पृथक्त्व समझा जाता है और 'न' से अन्योन्याभाव। इन दोनों वाच्य वस्तुओं में अंतर न मानने पर वाचक शब्द में इस तरह का अंतर होना असंभव होगा कि पृथक् पद के पूर्व में प्रयुक्त होने वाला नाम पद पंचमी विभक्त्यंत होगा नहीं। अतः पृथक्त्व को गुण ही मानना उचित है। अब प्रश्न यह उठ सकता है कि 'एकं रूपं रसात् पृथक्' इस प्रकार रूप गुण में रसावधिक पृथक्त्व गुण कैसे प्रतीत हो पायेगा ? क्योंकि गुण में तो गुण रहता नहीं ? तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि गुण में गुण की प्रतीति एकार्थ-समवाय संबंध से हुआ करती है यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है।

तर्क-संग्रह

संयुक्तव्यवहारहेतुः संयोगः सर्वद्रव्यवृत्तिः।

अनुवाद

'घट और पट परस्पर में संयुक्त हैं' इत्यादि व्यवहारों का हेतु भूत है संयोग। यह सभी द्रव्यों में रहता है।

दीपिका

संयोगं लक्षयति संयुक्तेति । 'इमौसंयुक्तौ' इति व्यवहारहेतुरित्यर्थः । संख्यादिलक्षणो सर्वत्र दिक्कालादावतिव्याप्तिवारणाय असाधारणेत्यपि-देयम् । संयोगोद्विविधः कर्मजः संयोगजश्च । आद्यो हस्तक्रियया पुस्तक-संयोगः । द्वितीयो हस्तपुस्तकसंयोगात् कायपुस्तकसंयोगः । अव्याप्यवृत्तिः संयोगः । स्वात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यं अव्याप्यवृत्तित्वम् ।

अनुवाद

'संयुक्त' इत्यादि के द्वारा संयोग का लक्षण किया गया है । 'ये दोनों संयुक्त हैं इस व्यवहार का कारण है संयोग यह अर्थ है । संख्या से लेकर संयोग तक के सभी लक्षणों में कालादिगत अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'असाधारण' यह विशेषण भी देय है । कर्मज और संयोगज रूप में संयोग द्विविध है । प्रथम होता है क्रिया से उत्पन्न और द्वितीय होता है संयोग से उत्पन्न । हाथ में क्रिया होकर पुस्तक के साथ होने वाला उसका संयोग होता है कर्मज । और हाथ के साथ पुस्तक का संयोग हो जाने पर जो शरीर के साथ पुस्तक का संयोग होता है, वह होता है संयोगज । संयोग अव्याप्यवृत्ती हुआ करता है । अपने अत्यन्ताभाव के साथ एक आधार में अपना रहना है अव्याप्यवृत्तिता ।

विवरण

'अव्याप्यवृत्ति' इसका अर्थ है पूरे अपने आश्रय को व्यापन करके न रहने वाला । यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है । उसी वास्तविकता को ध्यान में रखकर यहां अव्याप्य वृत्तिता की व्याख्या की गयी है 'स्वात्यन्ताभावसमानाधि-करण्य' । जभी कोई वस्तु अपने आश्रय को पूर्णरूप से व्यापन करके नहीं रहेगी तभी अपने आश्रय में उसका अभाव भी मिल जायगा । और जिसका अभाव लिया जाता है वह उसका प्रतियोगी हुआ करता है । तदनुसार वह वस्तु अपने आश्रय में रहने वाले अपने अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी हो जाती है । संयोग नियमतः दो वस्तुओं के एक-एक अंशों में ही हुआ करता है । अतः ऊपर अंशों में संयोग का अभाव भी उसी आश्रय में रह जाता है । जैसे पेड़ के अपर भाग में यदि बंदर का संयोग रहता है तो उस संयोग के आश्रयभूत उसी पेड़ में नीचे भाग को लेकर बंदर के संयोग का अभाव भी रहता ही है । अतः वह बंदर का संयोग अपने अत्यन्ताभाव का समानाधिकरण अर्थात् अपने अभाव के साथ एकत्र रहने वाला, फलतः स्वाश्रयनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी हो जाता है अतः अव्याप्यवृत्ती होता है । इसी प्रकार सभी संयोगों को अव्याप्यवृत्ती समझना चाहिए । अब प्रश्न एक यह उपस्थापित हो सकता है कि संयोगज-संयोग को भी

कर्मज ही क्यों न माना जाय ? संयोग के दो प्रभेद क्यों माने जायं ? क्योंकि मूलतः वहां भी क्रिया होती ही है । यतः क्रिया के बिना वह हस्तपुस्तक संयोग ही नहीं हो सकता । जिससे कायपुस्तक-संयोग स्वरूप संयोगज संयोग माना जाता है । इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि कारण और कार्य का सामानाधिकरण्य, अर्थात् एकत्र होना नितान्त आवश्यक होता है । काय-पुस्तक संयोग कायात्मक शरीर में होता है किंतु वहां क्रिया रहती नहीं । क्योंकि हाथ की क्रिया को शरीर की क्रिया इसलिए नहीं कहा जा सकता कि न्याय वैशेषिक सिद्धान्त में अवयव और अवयवी एक मान्य होते नहीं । क्योंकि अवयव होता है कारण और अवयवी कार्य । कारण और कार्य भला एक कैसे हो सकते ? अतः संयोगज-संयोग को कर्मज नहीं माना जा सकता ।

तर्क संग्रह

संयोगनाशको गुणो विभागः । सर्वद्रव्यवृत्तिः ।

अनुवाद

संयोग का नाशक गुण है विभाग । यह विभाग सभी द्रव्यों में होता है ।

दीपिका

विभागं लक्षयति संयोगेति । कालादावतिव्याप्तिवारणाय गुण इति । रूपादावतिव्याप्तिवारणाय संयोगनाशक इति । विभागोऽपि द्विविधिः कर्मजोविभागजश्च । आद्यो हस्तक्रियया हस्तपुस्तकविभागः । द्वितीयो हस्तपुस्तकविभागात् कायपुस्तकविभागः ।

अनुवाद

विभाग का लक्षण करते हैं 'संयोगनाश' इत्यादि के द्वारा । काल में अति-व्याप्ति के वारणार्थ 'गुण' कहा गया है । रूप आदि गुणों में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'संयोगनाशक' यह कहा गया है । कर्मज और विभागज इस रूप में विभाग भी दो प्रकारों का है । हाथ की क्रिया से होने वाला हस्तपुस्तक-विभाग है कर्मज और उस पुस्तकविभाग से होने वाला शरीरपुस्तक-विभाग है विभागज ।

विवरण

'संयोगनाशकत्वेसति गुणत्व' अर्थात् संयोग का नाशक होता हुआ गुण होने वाला है विभाग यह विभाग का लक्षण है । यहां 'गुणत्व' न कहने पर काल में अतिव्याप्ति हो जाती है । क्योंकि काल सब कार्य के प्रति कारण होने के

कारण संयोगनाश के प्रति भी कारण होता ही है। गुणत्व कहने पर अतिव्याप्ति का निराकरण इसलिए हो जाता है कि काल द्रव्य होने के कारण गुण हो पाता नहीं। यद्यपि गुणत्व कहने पर भी ईश्वर की इच्छा अतिव्याप्ति आपन्न होती है। क्योंकि वह काल की तरह सब कार्य के प्रति कारण होते हुए गुण भी है। किंतु गुण का अर्थ यहां जन्य गुण है। विभाग नियमतः जन्य ही होता है इसलिए लक्ष्य में अपेक्षित लक्षण समन्वय में कोई वाधा प्राप्त होती नहीं और ईश्वर की इच्छा में अतिव्याप्ति भी वारित हो जाती है। क्योंकि वह नित्य है जन्य नहीं। कुछ लोग विभाग के संबंध में यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि इसे गुण न मानकर संयोग का अभाव ही क्यों न माना जाय? किंतु यह इसलिए खण्डित हो जाता है कि उक्त प्रश्न के विरुद्ध संयोग को ही विभाग का अभाव क्यों न माना जाय? इस प्रश्न का उत्तर कुछ दिया नहीं जा पाता है? यदि यह कहा जाय कि 'इमौ संयुक्तौ' अर्थात् ये दोनों संयुक्त हैं इस प्रकार भावमुख प्रतीति एवं व्यवहार के बल पर संयोग को गुण मानना अनिवार्य है तो 'इमौ विभक्तौ' अर्थात् ये दोनों विभक्त हैं इस भावमुख-प्रतीति एवं प्रामाणिक व्यवहार के आधार पर विभाग को भी गुण मानना होगा। विभागज-विभाग को भी कर्मज ही क्यों न माना जाय? इस प्रश्न का उत्तर उक्त संयोगज-संयोगस्थलीय प्रश्नस्थल के समान ज्ञातव्य है। अभिप्राय यह कि हस्तपुस्तक-विभाग के अनन्तर होने वाला कायपुस्तक विभाग काय में भी होता है जहां कर्म रहता नहीं। हस्तकर्म को कायकर्म नहीं कहा जा सकता, यह बात बतलायी जा चुकी है।

तर्क-संग्रह

परापरव्यवहारासाधारणकारणे परापरत्वे। पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिनी। ते द्विविधे द्विक्कृते कालकृतेत्र च। दूरस्थे द्विक्कृतं परत्वं समीपस्थे द्विक्कृतमपरत्वम्। ज्येष्ठे कालकृतं परत्वं कनिष्ठे कालकृतमपरत्वम्।

अनुवाद

यह इससे पर है अर्थात् दूर अथवा ज्येष्ठ है, यह इससे अपर है अर्थात् निकट अथवा कनिष्ठ है इन व्यवहारों के प्रति असाधारण रूप से कारण होने वाले हैं परत्व एवं अपरत्व। दैशिक एवं कालिक के आधार पर परत्व एवं अपरत्व दोनों ही विविध होते हैं। दूरस्थ वस्तुओं में दैशिक परत्व होता है और निकटस्थ वस्तुओं में दैशिक अपरत्व। इसी प्रकार ज्येष्ठ में अर्थात् पूर्वोत्पन्न में कालिक परत्व होता है और कनिष्ठ अर्थात् पश्चादुत्पन्न में कालिक अपरत्व।

दीपिका

परत्वापरत्वयोर्लक्षमाह परापरेति। परव्यवहारकारणं परत्वम्। अपरव्यवहारकारणमपरत्वमित्यर्थः। ते विभजते द्विविधेति। दिक्कृत-योरूदाहरणमाह-दूरस्थ इति। कालकृते उदाहरति ज्येष्ठ इति।

अनुवाद

परत्व एवं अपरत्व का लक्षण बतलाते हैं 'परापरव्यवहार' इत्यादि के द्वारा। परव्यवहार का असाधारण कारण है परत्व और अपरव्यवहार का असाधारण कारण है अपरत्व। ये दोनों दो दो प्रकार के होते हैं। दिक्कृत परत्वापरत्व को बतलाते हैं 'दूरस्थे' इत्यादि के द्वारा तथा 'समीपस्थे' इत्यादि के द्वारा। कालिक का परिचय देते हैं 'ज्येष्ठे' इत्यादि के द्वारा।

विवरण

परत्व एवं अपरत्व दिक्कृत हों अथवा कालकृत दोनों ही संयोग और विभाग के समान नियमतः जन्य ही होते हैं अर्थात् उत्पत्तिशील ही होते हैं। क्योंकि 'यह एक है और यह एक' इस प्रकार होने वाली अपेक्षाबुद्धि इन दोनों के लिए उसी प्रकार अवश्य अपेक्षित होती हैं जिस प्रकार द्वित्व त्रित्व आदि संख्याओं के लिए। इनकी एक विशेषता यह होती है कि यदि किसी में परत्व उत्पन्न होता है तो साथ ही किसी विवक्षित अन्य में अपरत्व भी अवश्य ही उत्पन्न होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि केवल परत्व ही उत्पन्न होकर रह गया अन्य किसी में अपरत्व उत्पन्न नहीं हुआ। इसी प्रकार यह भी कभी होता नहीं कि केवल किसी में अप-रत्व ही उत्पन्न हो गया और अन्य विवक्षित में परत्व उत्पन्न हुआ ही नहीं। ऐसा होने का कारण यह है कि परत्व और अपरत्व कालिक हों या दैशिक, दोनों पर-स्पर में नियमतः सापेक्ष होते हैं। अधिक मूर्तव्यवहित वस्तु में दिक्कृत परत्व उत्पन्न होता है और अल्प मूर्तव्यवहित वस्तु में अपरत्व। इसी प्रकार अधिक-सूर्यपरिस्पन्दव्यवहित में कालिक परत्व उत्पन्न होता है जिसे अन्य शब्द में ज्ये-ष्ठत्व भी कहा जाता है और अल्प सूर्य-परिस्पन्दव्यवहित वस्तु में कालिक अपरत्व उत्पन्न होता है जिसे अन्य शब्द में कनिष्ठत्व भी कहा जाता है।

तर्क-संग्रह

आद्यपतनासमवायिकारणं गुरुत्वम्। पृथिवीजलवृत्ति।

अनुवाद

प्रथम पतन का असमवायिकारण है गुरुत्व। वह पृथिवी और जल इन दोनों में रहता है।

दीपिका

गुरुत्वं लक्षयति आद्येति। द्वितीयादिपतनस्य वेगासमवायिकारणकत्वादाद्येति।

अनुवाद

गुरुत्व का लक्षण करते हैं 'आद्य' इत्यादि के द्वारा। द्वितीय आदि पतनों के प्रति वेग असमवायिकारण होता है इसलिए 'आद्य' कहा गया है।

विवरण

गुरुत्व अतीन्द्रिय है। उसका प्रत्यक्ष किसी इंद्रिय से होता नहीं। तुलादंड के नमन एवं उन्नमन से गुरुत्व का अनुमान होता है। पतन है निम्न-संयोगानुकूल क्रिया। जब कोई भी वस्तु गिरती है तो उसमें उत्पन्न होने वाला पतन एक नहीं होता है। अनेक पतन उसमें होते हैं। क्योंकि अधिकतर क्रियाएं अपनी उत्पत्ति क्षण से पंचम क्षण में नष्ट हुआ करती हैं। परन्तु वस्तु दूरी और नैकट्य के आधार पर सेकेन्डों मिनटों आदि में गिरती हैं। अतः गिरना स्वरूप पतन को उतने कालों तक नहीं रोक रखा जा सकता। अतः प्रत्येक पतनस्थल में पतन क्रिया की धारात्मक परिस्थिति अवश्य माननी होगी। उन धारापन्न पतनों के अंदर द्वितीय, तृतीय आदि सारे पतन वेग से उत्पन्न होते हैं वस्तुगत गुरुत्व के कारण नहीं किंतु सर्वप्रथम होने वाला पतन गुरुत्व के कारण ही होता है। भारीपन के बिना कोई वस्तु गिरती नहीं। इस परिस्थिति के अनुसार लक्षण में 'आद्य' पद न देने पर द्वितीय आदि पतनों के प्रति असमवायिकारणभूत वेग में गुरुत्व लक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न होगी। अतः 'पतनासमवायिकारणं' न कहकर 'आद्यपतनासमवायिकारणं' कहा गया है। उक्त वस्तु स्थिति के अनुसार गुरुत्व ही प्रथम पतन का असमवायिकारण होता है अतः लक्ष्य में लक्षण समन्वय होता है।

तर्क-संग्रह

आद्यस्पन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वम्। पृथिवीजलतेजोवृत्ति। तद्द्विविधं सांसिद्धिकं नैमित्तिकंचेति। सांसिद्धिकं जले, नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोः। पृथिव्यां घृतादौ अग्निसंयोगजं द्रवत्वम्। तेजसि सुवर्णादौ।

अनुवाद

प्रथम स्पंदन के प्रति अर्थात् पसीजने के प्रति असमवायिकारण है द्रवत्व। द्रवत्व पृथिवी और जल में रहता है। सांसिद्धिक और नैमित्तिक इस प्रकार द्रवत्व

के दो प्रभेद हैं। जल में रहता है सांसिद्धिक द्रवत्व और पृथिवी तथा तेज में रहता है नैमित्तिक द्रवत्व। पृथिवी के अंदर घृत आदि में अग्निसंयोगज द्रवत्व रहता है और तेज के अंदर सुवर्ण आदि में।

दीपिका

द्रवत्वं लक्षयति स्पन्दनेति। स्पन्दनं प्रस्रवणम्। तेजस्संयोगजं नैमित्तिकम्। तद्भिन्नं सांसिद्धिकम्। पृथिव्यां नैमित्तिकमुदाहरति घृतादाविति। तेजसि तदाह सुवर्णादाविति।

अनुवाद

द्रवत्व का लक्षण करते हैं 'आद्यस्पन्दन' इत्यादि के द्वारा। स्पंदन है परसना अर्थात् तरल वस्तु का फैलना। तेज के संयोग से उत्पन्न होने वाला द्रवत्व कहलाता है नैमित्तिक और उससे भिन्न द्रवत्व कहलाता है सांसिद्धिक। पृथिवी के अंदर नैमित्तिक द्रवत्व का उदाहरण देते हैं 'घृतादौ' इत्यादि के द्वारा। तेज के अंदर नैमित्तिक उदाहरण उपस्थित करते हैं 'सुवर्णादौ' इत्यादि के द्वारा।

विवरण

कहीं कहीं मूल पाठ में यहां 'आद्य' पद पाया जाता नहीं। परंतु विचार करने पर स्पंदन के विशेषण रूप में 'आद्य' का द्रवत्व लक्षण में निवेश उसी प्रकार आवश्यक प्रतीत होता है, जिस प्रकार गुरुत्व के लक्षण में वह आवश्यक बतलाया गया है। क्योंकि स्पंदन है प्रस्रवण, परसना अर्थात् तरल पदार्थ का दिगनपेक्ष भाव से फैलना स्वरूप क्रिया। यहां भी प्रस्रवण काल को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि पतन स्थल की तरह क्रियाधारा मानी जाय। क्रियाधारा का अर्थ होगा निरंतर भाव से उत्पन्न होने वाली क्रियाएं। उन क्रियाओं के अंदर द्वितीय तृतीत आदि स्पंदन क्रियाएं वेग प्रयुक्त भी हो सकती हैं। इसलिए 'स्पंदनासमवायिकारणम्' इतना ही कहने पर वेग में द्रवत्व लक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न हो सकती है, अतः उसके निवारणार्थ द्रवत्व के उक्त लक्षण में स्पंदन के पूर्व आद्य का निवेश उचित है। तदनुसार यहां लक्षण का स्वरूप निर्धारित हुआ है।

तर्क-संग्रह

चूर्णादिपिण्डीभाव-हेतुर्गुणः स्नेहः। जलमात्रवृत्तिः।

अनुवाद

चूर्णीकृत वस्तुओं के पिण्डीभाव का हेतुभूत गुण है स्नेह जो कि जलमात्र में रहता है।

दीपिका

स्नेहं लक्षयति चूर्णेति। कालादावतिव्याप्तिवारणाय गुण इति। रूपादावतिव्याप्तिवारणाय पिण्डीभावेति।

अनुवाद

स्नेह का लक्षण करते हैं 'चूर्णादि' इत्यादि के द्वारा। काल आदि में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'गुण' यह कहा गया है और रूप रस आदि गुणों में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'चूर्णादिपिण्डीभाव' यह कहा गया है।

विवरण

चूर्ण पद से प्रकृत में विवक्षित है चूर्णीभूत आंटा धूल आदि। पिंडीभाव है वह एक प्रकार का घनिष्ठ संयोग, जिसके कारण पिंडीभूत वस्तु के एक देश के धारण से पूरे का धारण एवं एक देश के आकर्षण से पूरे का आकर्षण होता है। उक्त घनिष्ठ संयोगात्मक पिंडीभाव इसीलिए आंटा आदि चूर्णीभूत वस्तुओं में हो पाता है कि उनमें मिलाये गये जल में स्नेह नाम का गुण रहता है। द्रवत्व को स्नेह का स्थान इसलिए नहीं दिया जा सकता कि द्रवीकृत कांच एवं सोने को चूर्णीकृत वस्तु में डालने पर उससे पिंडीभाव होता हुआ पाया जाता नहीं। यहां यह ध्यान में रखने की बात है कि—यदि द्रवत्व मात्र को स्नेह का स्थान न देकर जलीय द्रवत्व को स्नेह का स्थान दिया जाय, अर्थात् पिंडीभाव का संपादक माना जाय तो इसका विरोध करना कठिन होगा। क्योंकि उक्त गलाये गये कांच या सोने के द्रवत्व को जलगत द्रवत्व कहा नहीं जा सकता। अतः उन द्रवत्वों से पिंडीभाव न होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि जलगत द्रवत्व पिंडीभाव का कारण नहीं। ऐसी परिस्थिति में स्नेह का यह लक्षण उपपन्न नहीं ठहराया जा सकता। परंतु तब स्नेह का लक्षण 'स्निग्धव्यवहारहेतुर्गुणः स्नेहः' अर्थात् जिस गुण के अस्तित्व के कारण 'जल स्निग्ध है' 'तैल स्निग्ध गुण है' 'घृत स्निग्ध है' इस प्रकार प्रामाणिक प्रतीति एवं प्रामाणिक व्यवहार हुआ करते हैं वह गुण है स्नेह, इस प्रकार स्नेह का लक्षण किया जा सकता है। प्रतीति एवं व्यवहार मूलक लक्षण यदि संयोग आदि के हो सकते हैं तो स्नेह का तन्मूलक लक्षण नहीं हो सकता यह नहीं कहा जा सकता। साथ ही प्रकृत मूलगत लक्षण में 'चूर्णादि' यह भी सप्रयोजन नहीं दीख पड़ता। क्योंकि पिंडीयभाव नियमतः विश्रृंखलता प्राप्त चूर्णीभूत वस्तु का ही होता पाया जाता है अतः 'पिण्डीभाव हेतुर्गुणः स्नेहः' इतना कहना ही पर्याप्त होता है।

तर्क-संग्रह

श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः। आकाशमात्रवृत्तिः। स द्विविधो ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्चेति। ध्वन्यात्मको भेर्यादौ। वर्णात्मकः संस्कृत-भाषादिरूपः।

अनुवाद

कान से गृहीत होने वाला गुण है शब्द। वह आकाश में ही रहता है। शब्द ध्वनि और वर्ण के भेद से दो प्रकार के हैं। भेरी आदि वाद्यों का शब्द होता है ध्वनि और संस्कृत आदि भाषात्मक शब्द होते हैं वर्णात्मक।

दीपिका

शब्दं लक्षयति श्रोत्र इति। शब्दत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय गुण इति। रूपादावतिव्याप्तिवारणाय श्रोत्रेति। शब्दस्त्रिविधः। संयोगजो विभागजः शब्दजश्च। तत्राद्यो भेरीदण्डसंयोगजन्यः। द्वितीयो वंशे पाटयमाने दण्ड-द्वयविभागजन्यश्चटचटाशब्दः। भेर्यादिदेशमारभ्य श्रोत्रपर्यन्तं द्वितीयादि शब्दाः शब्दजाः।

अनुवाद

शब्द का लक्षण करते हैं 'श्रोत्रग्राह्य' इत्यादि के द्वारा। शब्दत्व में अति-व्याप्ति के वारणार्थ 'गुण' कहा गया है। रूप आदि गुणों में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'श्रोत्रग्राह्य' कहा गया है। संयोगज, विभागज और शब्दज, इस प्रकार शब्द के तीन प्रभेद हैं। प्रथम अर्थात् 'संयोगज' शब्द है भेरीदण्डसंयोगज आदि, बांस आदि को फाड़ने पर दलद्वय के विभाग से होने वाला चटचट आदि शब्द होते हैं 'विभागज'। भेरी आदि वाद्यस्थान से लेकर कान तक धारावाहिक रूप में उत्पन्न होने वाले शब्द होते हैं 'शब्दज'।

विवरण

'श्रवणेन्द्रियजन्य-प्रत्यक्ष-विषयत्वे सति गुणत्व' शब्द का लक्षण मूल ग्रंथ से प्राप्त होता है। यहां यदि सति पर्यन्त न कहा जाय तो गुणत्व रूप रस आदि गुणों में भी रहने के कारण लक्षण अतिव्याप्ति-दोषग्रस्त हो जायेगा और यदि 'गुणत्व' न कहा जाय तो श्रवणेन्द्रियजन्य-प्रत्यक्ष-विषयता शब्दत्व में जाने के कारण लक्षण अतिव्याप्ति-दोष-ग्रस्त हो जाता है। अतः उक्त पूर्णलक्षण शब्द का माना गया है। इसी बात को दीपिकाकार ने भी बतलाया है। परंतु इतना कहने पर भी अस्फुट शब्दों में अव्याप्ति हो सकती है। क्योंकि अस्फुट शब्द सुने नहीं जाते। अतः 'श्रवणेन्द्रियजन्य-प्रत्यक्ष-विषयजातिमद्‌गुणत्व' यह लक्षण शब्द का ज्ञातव्य है। ऐसा कहने पर अस्फुट शब्द में अव्याप्ति इसलिए वारित हो जाती है कि उक्त जाति पद से ग्राह्य जाति होती है शब्दत्व जाति, सो अस्फुट शब्दों में भी रहती है। इस पर भी यदि यह कहा जाय कि श्रवणेन्द्रियजन्य-प्रत्यक्षविषयजाति तो शब्दत्व की तरह सत्ता एवं गुणत्वजाति भी होगी जो कि

रूप आदि गुणों में भी रहती है अतः फिर अतिव्याप्ति अनिवारित रह जाती है, तो इसका उत्तर इस प्रकार समझना चाहिए कि 'श्रवणेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष विषय' इसकी व्याख्या 'श्रवणेन्द्रियजन्य-प्रत्यक्षमात्र विषयजातिमान्' ज्ञातव्य है। सत्ता एवं गुणत्व ये दोनों जातियां अन्य इंद्रियों से भी गृहीत होती हैं। क्योंकि ये जातियां अन्य इंद्रियग्राह्य रूप रस आदि में भी रहती हैं। परन्तु इतना कहने पर फिर लक्षण में 'गुणत्व कहने का प्रयोजन नहीं रह जाता। क्योंकि उक्त प्रकार शब्दत्व जाति स्फुट और अस्फुट सभी शब्दों में ही रहती है अन्य में नहीं इसलिए 'गुणत्व' न कहने पर भी शब्दत्व में अतिव्याप्ति आपन्न हो नहीं पाती, जिसके निवारणार्थ लक्षण में 'गुणत्व' भी कहा जाय। भेरी आदि वाद्य और दंड आदि साधन के संयोग से उत्पन्न होने वाले शब्द के प्रति भेरी-दण्ड-संयोग आदि होते हैं निमित्त-कारण, भेरी आदि वाद्यों के साथ होने वाला आकाश का संयोग होता है असमवायिकारण और आकाश होता है समवायिकारण। द्वितीय वंशदल-विभागज आदि शब्द-स्थलों में वंश-दलद्वय आदि का विभाग होता है निमित्त-कारण, वंशदल आदि के साथ होने वाला आकाश का विभाग होता है असम-वायिकारण और आकाश होता है समवायिकारण। तृतीय शब्दज-शब्द-स्थलों में शब्द धारान्तः पाती पूर्व शब्द होता है अव्यवहित उत्तरवर्ती शब्द के प्रति असमवायिकारण, वायु आदि होते है निमित्त कारण और आकाश होता है सम-वायिकारण। शब्दज शब्द इसलिए माना जाता है कि उसे न मानने पर दूरवर्ती शब्द नहीं सुना जा पायेगा जो कि सुना ही जाता है। इस शब्दज शब्द की उत्पत्ति के संबंध में दो मत पाये जाते हैं। एक मत में पूर्व शब्द से एक ही अधिक स्थान-व्यापक शब्द उत्पन्न होता है और द्वितीय मत में एक पूर्व शब्द से दशों दिशाओं में दश उत्तर-वर्ती शब्द उत्पन्न होते हैं, जिनके अंदर प्रत्येक शब्द फिर उसी प्रकार दस शब्दों को उत्पन्न करता है।

तर्क संग्रह

सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्। सा द्विविधा स्मृतिरनुभवश्च। संस्कारमात्र-जन्यं ज्ञानं स्मृतिः।

अनुवाद

सभी व्यवहारों के प्रति कारण होने वाला गुण है बुद्धि, वही है ज्ञान। बुद्धि दो प्रकारों से युक्त है, एक है स्मरण और दूसरा अनुभव। संस्कार मात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है स्मरण।

दीपिका

बुद्धेर्लक्षणमाह सर्वेति। कालादावतिव्याप्तिवारणाय गुण इति।

रूपादावतिव्याप्तिवारणाय सर्वव्यवहारेति । जानामीत्यनुव्यवसायगम्य-ज्ञानत्वं लक्षणम्। बुद्धिं विभजते सति । स्मृतेर्लक्षणमाह संस्कारेति । भावनाख्यः संस्कारः। संस्कारध्वंसेऽतिव्याप्तिवारणाय ज्ञानमिति । घटादिप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिवारणाय संस्कारजन्यमिति । प्रत्यभिज्ञायामति-व्याप्तिवारणाय मात्रेति ।

अनुवाद

'सर्वव्यवहार हेतु' इत्यादि के द्वारा बुद्धि का लक्षण कहा जा रहा है । काल आदि में होने वाली अतिव्याप्ति के निवारणार्थ गुण पद कहा गया है । रूप आदि में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए सर्वव्यवहार हेतु यह कहा गया है । 'मैं जानता हूँ' इस प्रकार होने वाले अनुव्यवसाय ज्ञान का विषय होने वाला ज्ञानत्व है बुद्धि का लक्षण । बुद्धि का विभाजन करते हैं 'सा द्विविधा' इसके द्वारा । स्मृति का लक्षण बतलाते हैं 'संस्कार मात्र' इत्यादि के द्वारा । संस्कार पद से भावना नामक संस्कार ग्राह्य है । संस्कार-ध्वंस में अतिव्याप्ति के निवा-रणार्थ 'ज्ञान' यह कहा गया है । घट आदि के प्रत्यक्ष में अतिव्याप्ति निवारणार्थ 'संस्कार जन्य' यह कहा गया है । और प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति वारणार्थ मात्र पद दिया गया है ।

विवरण

यहां बुद्धि पद से सांख्य-शास्त्रोक्त अन्तःकरण-विशेष नहीं ज्ञातव्य है, इसके स्पष्टीकरणार्थ मूल लक्षण वाक्य में ज्ञान पद निविष्ट हुआ है । फलतः 'यावद्व्य-वहारकारणत्वे सति गुणत्वम् बुद्धि लक्षणम्' यह सूचित होता है । यहां सति पर्यन्त प्रथम दल उक्त न होने पर, गुणत्व रूप आदि गुणों में चला जायेगा, अति व्याप्ति हो उठेगी, और द्वितीय दल न देने पर यावद्व्यवहार के प्रति कारण होने वाले काल आदि में प्रकृत बुद्धि का लक्षण चला जायेगा अतः उक्त लक्षण वाक्य में किसी भी प्रकार कमी नहीं की जा सकती यह बतलाया गया है 'कालादौ' इत्यादि के द्वारा । परंतु ईश्वर की इच्छा में इस लक्षण की अतिव्याप्ति अब भी अवारित है । क्योंकि ईश्वर की इच्छा गुण भी है और सारे व्यवहारों के प्रति कारण भी । अतः दीपिका में 'जानामि' इत्यादि के द्वारा ज्ञान का लक्षणांतर बतलाया गया है । या यह कहा जा सकता है कि प्रदर्शित ज्ञान-लक्षण है गौरव-दोषयुक्त । क्योंकि लक्षण-घटक कार्यकारणभाव नियमतः अति गौरव-युक्त व्याप्य-व्यापक-भाव-घटित ही होगा । अतः 'जानामि' इत्यादि के द्वारा ज्ञान का लघु लक्षण बतलाया गया है । सभी विशिष्ट बुद्धि स्थलों में पहले निर्विकल्प-कात्मक विशेषण-ज्ञान होता है, फिर विशिष्ट बुद्धि होती है और तदनन्तर उस विशिष्ट बुद्धि का मानस प्रत्यक्ष होता है वही बतलाता है अनुव्यवसाय ।

उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि सर्वप्रथम 'घट घटत्वे' अर्थात् 'घट और घटत्व' इस प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान होता है, इसके अव्यवहित उत्तरवर्ती क्षण में 'अयं घटः' अर्थात् 'यह घड़ा है' इस प्रकार घटत्व-विशेषण-युक्त रूप में घड़े का ज्ञान होता है। यह ज्ञान कहलाता है 'व्यवसाय'। तदनन्तर 'घटमहं जानामि' अर्थात् 'घड़े को मैं जानता हूँ' इस प्रकार होने वाला घट-ज्ञान-विषयक मानस-प्रत्यक्ष कहलाता है अनुव्यवसाय। इस अनुव्यवसाय ज्ञान के विषय पूर्ववर्ती व्यवसायात्मक ज्ञान और तद्गत ज्ञानत्व ये दोनों होते हैं। इसलिए एतादृश ज्ञानत्व जाति को ज्ञानात्मक सभी बुद्धियों का लक्षण अनायास माना जा सकता है। यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि यों तो ज्ञानत्व जाति मात्र समग्रबुद्धियों का लक्षण है परंतु ज्ञानत्व जाति को प्रामाणिक बतलाने के लिए उसे 'अनुव्यवसाय गम्य' कहा गया है। मूल ग्रंथ में 'संस्कारमात्र जन्यं' इत्यादि के द्वारा स्मरणात्मक ज्ञान का लक्षण बतलाया गया है तदनुसार 'संस्कारेतराजन्यत्वे सति संस्कारजन्यत्वम्' यह स्मृति का लक्षण प्राप्त होता है। किंतु यह लक्षण असंभव दोषग्रस्त होता हुआ दीख पड़ता है। क्योंकि संस्कार से अन्य होने वाले काल अदृष्ट ईश्वर एवं ईश्वरेच्छा ये सभी कार्यों के प्रति साधारण रूप से कारण मान्य होने के कारण स्मरण के प्रति भी कारण होते ही हैं। ऐसी परिस्थिति में लक्ष्य स्मृति के अंदर 'संस्कारेतराजन्यत्व' किसी प्रकार आ नहीं सकता। अतः 'इन्द्रियाजन्यं सत् संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' यह स्मृति का लक्षण मान्य रूप से ज्ञातव्य है। इस स्मृति लक्षण में 'ज्ञान' पद का निवेश न करने पर संस्कार-ध्वंस में अतिव्याप्ति आपन्न होगी। क्योंकि ध्वंस के प्रति प्रतियोगी भी कारण रूप से मान्य होने के कारण संस्कार-ध्वंस भी संस्कार-जन्य होता है और वह इन्द्रिय जन्य न होने के कारण इंद्रियाजन्य भी होता ही है। ज्ञान पद के निवेश से अतिव्याप्ति इसलिए निवारित हो जाती है कि ध्वंस, अभाव होने के कारण ज्ञानात्मक गुण हो पाता नहीं। 'प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्ति' इत्यादि के द्वारा मूल लक्षण स्थित मात्र पद निवेश का प्रयोजन टीकाकार ने दिखलाया है। स्मृति-विषयपदार्थ का इंद्रिय-संयोगजन्य ज्ञान कहलाता है प्रत्यभिज्ञा। पदार्थ संस्कार के बिना स्मृत नहीं हो सकता इसलिए प्रत्यभिज्ञा को भी संस्कार जन्म मानना आवश्यक है, तदनुसार संस्कार-जन्यत्व प्रत्यभिज्ञा में भी होती ही है मात्र पद के निवेशानन्तर अतिव्याप्ति इसलिए निवारित हो जाती है कि प्रत्यभिज्ञा संस्कारजन्य होने के साथ इंद्रिय जन्य भी होती है अतः इंद्रियाजन्य हो पाती नहीं।

तर्क-संग्रह

तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः। स द्विविधः, यथार्थोऽयथार्थश्चेति। तद्वतितत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः। यथा अयं घट इति ज्ञानम्। सैव प्रमेत्युच्यते।

अनुवाद

स्मरणभिन्न ज्ञान कहलाता है अनुभव। वह दो प्रकार है यथार्थ और अयथार्थ। तदधिकरण में तद्विशेषणक होने वाला अनुभव ज्ञान होता है यथार्थ, जैसे 'अयं घटः' अर्थात् यह घड़ा है यह ज्ञान। यह 'प्रभा' भी कहलाता है।

दीपिका

अनुभवं लक्षयति तद्भिन्नमिति। स्मृतिभिन्नं ज्ञानमनुभवः, इत्यर्थः। अनुभवं विभजते स द्विविध इति। यथार्थानुभवं लक्षयति तद्वतीति। ननु घटे घटत्वम् इति प्रमायामव्याप्तिः, घटत्वे घटाभावादिति चेन्न। यत्र यत्सम्बन्धोऽस्ति तत्र तत्सम्बन्धानुभवः इत्यर्थात् घटत्वेऽपि घटसम्बन्धोऽस्तीति नाव्याप्तिः। सैवेति यथार्थानुभव एव शास्त्रे प्रमा इत्युच्यते इत्यर्थः।

अनुवाद

अनुभव का लक्षण करते हैं 'तद्भिन्नं' इत्यादि के द्वारा। इसका अर्थ यह है कि स्मरण से भिन्न ज्ञान है अनुभव। अनुभव का विभाजन करते हैं 'सद्विविधः' इस कथन के द्वारा 'तद्वतितत्प्रकारको' इत्यादि के द्वारा यथार्थ अनुभव का लक्षण किया गया है। 'घटे घटत्वम्' अर्थात् घड़े में घटत्व है, इस ज्ञान में जो कि यथार्थ अनुभव है अव्याप्ति इसलिए आपन्न होती है कि घटत्व में घड़ा रहता नहीं, यह कथन इसलिए सही नहीं कि 'जिसमें जिसका संबंध हो उसमें उसके संबंध का अनुभव है प्रभा यह उक्त लक्षण वाक्य का अर्थ विवक्षित है। अब अव्याप्ति इसलिए आपन्न हो सकती नहीं कि घटत्व में घट का संबंध है ही। यथार्थ अनुभव ही शास्त्र में प्रभा शब्द से कहा जाता है।

विवरण

'स्मृतिभिन्नत्वे सति ज्ञानत्वम्' यह अनुभव का लक्षण ज्ञातव्य है। कहने का आशय यह है कि ज्ञान के प्रभेद जब कि अनुभव और स्मरण ये दो ही हैं तब अनुभव का–परिचय अनायास इस प्रकार दिया जा सकता है कि स्मरणभिन्न ज्ञान है अनुभव। उक्त लक्षण में 'स्मृतिभिन्नत्वे सति' इतना न कहने पर स्मरण में भी अनुभव का लक्षण चला जायेगा अतिव्याप्ति हो उठेगी और 'ज्ञानत्व' के न कहने पर स्मरण भिन्न घटपट आदि में अनुभव का लक्षण चला जायेगा अतिव्याप्ति आपन्न होगी। मूल में आये हुए 'तद्वति' इसके अंदर सप्तमी का अर्थ विवक्षित है 'विशेष्यकत्व' तदनुसार 'तद्वद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकानुभवत्वं' यथार्थानुभवत्वम्, अर्थात् जो अनुभवात्मक ज्ञान तद्वद्विशेष्यक होता हुआ तद्विशेषणक हो वह होगा यथार्थानुभव, यह याथार्थानुभव का निर्वचन ज्ञातव्य है। कहने का सारांश यह है कि जहां जो पदार्थ वस्तुतः रहता हो

वहां किया जाने वाला उसका अनुभव होता है यथार्थानुभव। जिस घर में घड़ा वस्तुतः विद्यमान हो उसमें यदि घड़े को समझा जाय, 'घटवद्गृहम्' अर्थात् घर घटयुक्त है ऐसा समझा जाय, तो यह ज्ञान होगा यथार्थानुभव। 'तद्वद्विशेष्य-कत्वे सति तत्प्रकारकानुभवत्वम्' यहां पर दोनों 'तत्' पदों से ग्राह्य है विशेषण रूप से विवक्षित होने वाली वस्तु। तदनुसार 'घटवद्गृहम्' इस यथार्थ अनुभव में लक्षण समन्वय करते समय 'तत्' पद से ग्राह्य होगा घट। तद्वान् होगा वस्तुतः घटयुक्त होने वाला घर जो कि 'घटवद्गृहम्' इस ज्ञान में सचमुच विशेष्य है इसलिए 'घटवद्गृहम्, यह ज्ञान तद्वद्विशेष्यक है, और 'तत्' अर्थात् घट प्रकार है अर्थात् विशेषण है इसलिए 'तत्प्रकारक' भी है। अतः 'तद्वद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकत्व' स्वरूप यथार्थानुभव-लक्षण लक्ष्यभूत 'घटवद्गृहम्' इस यथार्थानुभव में समन्वित होता है। वस्तुतः प्रकृत लक्षण का आकार 'तद्वद्विशेष्यकत्वावच्छिन्न-तत्प्रकारकत्व' ऐसा समझना चाहिए। यह इसलिए कि अन्यथा क्रम से निहित रांगे और चांदी के दो टुकरों में, स्थिति के प्रतिकूल किया जाने वाला 'ये चांदी और रांगे हैं' यह भ्रमात्मक अयथार्थ अनुभव भी यथार्थ अनुभव कहलाने लगेगा, उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो उठेगी। क्योंकि उक्त भ्रमात्मक ज्ञान में रांगा और चांदी दोनों ही विशेष्य होंगे और रंगत्व एवं रजतत्व ये दोनों प्रकार अर्थात् विशेषण। इसलिए 'रंगत्ववद्विशेष्यकत्वे सति रंगत्व-प्रकारकत्व और रजतत्ववद्विशेष्यकत्वे सति रजतत्वप्रकारकत्व' वहां रहेंगे ही। तद्वद्विशेष्यकत्वावच्छिन्न तत्प्रकारकत्व को यथार्थानुभव का लक्षण मानने पर उक्त भ्रमात्मक अनुभव में उक्त प्रकार अतिव्याप्ति इसलिए नहीं होती है कि वहां रंगत्ववद्विशेष्यकत्व रंगत्वप्रकारकत्व, एवं रजतत्ववद्विशेष्यकत्व रजतत्व-प्रकारकत्व के रहने पर भी रंगत्ववद्विशेष्यकत्वावच्छिन्न रंगत्वप्रकारकत्व, रजत-त्ववद्विशेष्यकत्वावच्छिन्नरजतत्वप्रकारत्व रहता नहीं। क्योंकि यत्प्रकारता और यद्वद्विशेष्यता इन दोनों के बीच निरुप्य-निरुपक-भाव होता है तत्प्रकारकत्व और तद्वद्विशेष्यकत्व के बीच ही अवच्छेद्यावच्छेदक–भाव मान्य होता है। उक्त भ्रमात्मक ज्ञान को भ्रान्त-व्यक्ति रांगें को चांदी और चांदी को यतः रांगा समझता हुआ करता है। अतः रंगनिष्ठविशेष्यता रजतत्वनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित नहीं हो पाती है, और रजत-निष्ठा-विशेष्यता रजतत्वनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित नहीं हो पाती है, किंतु इसके विपरीत रंगनिष्ठविशेष्यता होती है, रजतत्व-निष्ठ-प्रकारता-निरूपित और रजत-निष्ठ-विशेष्यता हो जाती है रंगत्वनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित। इसलिए रंग खंड और रजत खंड को विशेष्य रूप में लेकर विपरीत-भाव से किये जाने वाले 'इमे रजत रंगे' अर्थात् ये क्रमशः चांदी और रांगे हैं इस भ्रमात्मक अनुभव में रंगत्ववद्विशेष्यकत्वावच्छिन्न-रंगत्वप्रकारकत्व, एवं

रजतत्ववद्विशेष्यकत्वावच्छिन्न रजतत्वप्रकारकत्व रह पाता नहीं, अलक्ष्यभूत उस भ्रम ज्ञान में उक्त यथार्थानुभव लक्षण जा पाता नहीं, अतिव्याप्ति होती नहीं। 'ननु घटे घटत्वम्' इत्यादि लेख द्वारा यथार्थानुभव के उक्त परिष्कृत एवं अपरिष्कृत द्विविध लक्षण में अव्याप्ति दोष उद्भावित हुआ है। शंका ग्रंथ का आशय यह है कि 'घटे घटत्वम्' इस ज्ञान में घट होता है विशेषण रूप से विषय और घटत्व विशेष्य रूप से। किंतु विशेष्य भूत घट विशेष्य भूत घटत्व में रहता नहीं, यतः घटत्व घट में समवाय संबंध से रहता है। ऐसी परिस्थिति में घटवद्विशेष्यकत्व 'घटे घटत्वम्' इस यथार्थ अनुभव में जा पाता नहीं। सुतरां तद्वद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकत्व एवं तद्वद्विशेष्यकत्वावच्छिन्न तत्प्रकारकत्व जो कि यथार्थानुभव का लक्षण है स्वकीय लक्ष्यभूत उक्त घटे घटत्वम् इस यथार्थ अनुभव में जाता नहीं, समन्वित हो पाता नहीं। सारांश ज्ञातव्य यह है कि जो संबंध किसी आधार में आधेय की वृत्तिता का नियामक होता है अर्थात् आधेय के अस्तित्व का नियामक होता है, फलतः आधार में जिस संबंध से आधेय का अस्तित्व प्रमात्मक रूप में प्रतीत होता है वही संबंध विशेषण का संबंध बन पाता है अन्य उक्त प्रकार वृत्तिता का अनियामक संबंध नहीं, 'घटे घटत्वम्' इस ज्ञान के अंदर घटात्मक विशेषण का घटत्व में प्रतीत होने वाला आधेयता-संबंध वृत्तिता का नियामक इसलिए मान्य नहीं हो पाता कि कोई भी अभ्रांत व्यक्ति घटत्व आधेयता संबंध से घट वाला है इस प्रकार भ्रमात्मक प्रतीति करता नहीं। इसलिए वृत्तिता के अनियामक भूत आधेयता संबंध को लेकर उस संबंध से घटत्व में घट को रहने वाला नहीं माना जा सकता, घटत्व को घटवान् नहीं कहा जा सकता। सुतरां घटवद्विशेष्यकत्व स्वरूप तद्वद्विशेष्यकत्व 'घटे घटत्वम्' इस यथार्थ ज्ञान में जा पाता नहीं, इसलिए यथार्थानुभव लक्षण की अव्याप्ति वहां हो रही है, उक्त यथार्थानुभव लक्षण अव्याप्ति दोष-से दुष्ट हो रहा है।

इसी शंका के समाधान में 'न, यत्र यत्सम्बन्धोऽस्ति तत्र' इत्यादि कहा गया है दीपिका के अंदर। इस उत्तर ग्रंथ का आशय यह है कि 'तद्वद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकानुभवत्व' का अर्थ विवक्षित है 'तत्सम्बन्धवद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारत्व'। ऐसा कहने पर उक्त अव्याप्ति इसलिए नहीं हो पाती है कि घट 'मल' ही आधेयता संबंध से घटत्व में अस्तित्वशील न माना जाय, परंतु घट निरुपित आधेयता तो घटत्व में रहती ही है, घट का आधेयता संबंध घटत्व में रहता ही है अतः घटत्व को घट संबंधवान् कहना ही होगा और ऐसा होने पर 'घटेघटत्वम्' इस यथार्थ अनुभव में घट संबंधवद्विशेष्यकत्व और घट प्रकारकत्व रह जायेगा, अवच्छेद्यावच्छेदक भावापन्न रूप में भी घट संबंधवद्विशेष्यकत्व और घटप्रकार

कत्व रह जायेगें। तत्संबंधद्विशेष्यकत्वावच्छिन्न तत्प्रकारकत्व स्वरूप यथार्थानुभव लक्षण समन्वित हो जायेगा। अव्याप्ति की शंका नहीं रह पायेगी।

तर्क-संग्रह

तदभाववति तत्प्रकारकश्चायथार्थः।

अनुवाद

जहां जो नहीं हो वहां होने वाला उसका ज्ञान होता है अयथार्थ।

दीपिका

अयथार्थानुभवं निरूपयति—तदभाववतीति। ननु इदं संयोगीति प्रमायामतिव्याप्तिः इति चेत् न यदवच्छेदेन यत्सम्बन्धाभावः, तदवच्छेदेन तत्सम्बन्धज्ञानस्य विवक्षितत्वात्। संयोगाभावावच्छेदेन संयोगज्ञानस्य भ्रमत्वात्, संयोगावच्छेदेन संयोगसम्बन्धस्य सत्त्वात् नातिव्याप्तिः।

अनुवाद

अयथार्थ अनुभव का अर्थात् भ्रम का निरुपण करते हैं 'तदभाववति' इत्यादि के द्वारा। 'इदं संयोगि' अर्थात् यह संयोगवान् है, इस प्रमाज्ञान में भ्रमलक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न हो रही है, यह कहना उचित नहीं। क्योंकि यद्देशावच्छेदेन जिसमें जिसका संबंध न हो तद्देशावच्छेदेन उसमें उसका संबंध ज्ञान है भ्रम, यही भ्रम का निर्वचन विवक्षित है। तदनुसार संयोगाभावावच्छेदेन होने वाला संयोग का ज्ञान ही भ्रम कहलायेगा। 'इदं संयोगि' अर्थात् यह संयोगवान् है, इस प्रकार किया जाने वाला ज्ञान तो संयोगावच्छेदक देश में संयोग युक्तता के अभिप्राय से ही किया जा रहा है अतः उक्त अतिव्याप्ति आपन्न नहीं हो सकती।

विवरण

यहां भी 'तद्भाववति' यहां यह सप्तमी का अर्थ विशेष्यत्व करके 'तद्भाववद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकानुभववत्त्वं अयथार्थानुभववत्त्वम्' ऐसा अयथार्थानुभव का लक्षण ज्ञातव्य है। रांगे में किये जाने वाले 'इदं रजतम्' अर्थात् यह चांदी है इस भ्रमात्मक ज्ञान में भ्रमलक्षण का समन्वय इस प्रकार ज्ञातव्य है कि 'तत्' पद से ग्राह्य होगा उक्त ज्ञान में विशेषण रूप से विषय होने वाला रजतत्व, तदभाववान् होगा 'इदं' रूप से गृहीत होने वाला विशेष्यभूत रांगा, इसलिए रांगे में किये जाने वाला 'इदं रजतम्' यह चांदी है, इस ज्ञान में रजतत्वाभाववद्विशेष्यकत्व स्वरूप तद्भाववद्विशेष्यकत्व भी रह जाता है, और 'रजतम्' इसके द्वारा रजतत्व को जो कि तत्त्वतः रांगे में रहता नहीं विशेषण बनाया जा रहा है अतः

रजतत्वविशेषणकत्व स्वरूप रजतत्व-प्रकारकत्व भी रह जाता है । यहां भी उक्त प्रमालक्षणस्थल के अनुसार तदभाववद्विशेष्यकत्व और तत्प्रकारकत्व के बीच अवच्छेद्यावच्छेदकभाव को जोड़कर तदभाववद्विशेष्यकत्वावच्छिन्न तत्प्रकारकत्व निवेश समझना चाहिए । तदनुसार एतादृश तत्प्रकारकत्वयुक्त अनुभव है अयथार्थानुभव, यह अयथार्थानुभव का निर्वचन ज्ञातव्य है । अन्यथा क्रमिक रूप से अवस्थित चांदी-खंड और रांग-खंड में किया जाने वाला 'ये चांदी और रांगे हैं' यह यथार्थ अनुभव भी अयथार्थानुभव हो उठेगा, भ्रमलक्षण की उसमें अतिव्याप्ति आपन्न हो उठेगी । क्योंकि इस भ्रम ज्ञान में विशेष्य रूप से विषय होने वाले रांगे में रजतत्व का और चांदी में रंगत्व का अभाव रहता ही है इसलिए तदभाववद्विशेष्यकत्व रह जाता है और रंगत्व तथा रजतत्व दोनों ही उक्त ज्ञान में विशेषण रूप से विषय होते हैं, इसलिए तत्प्रकारकत्व भी रह जाता है । अवच्छेद्यावच्छेदकभाव के निदेशानन्तर अतिव्याप्ति का निवारण यथार्थानुभव लक्षणस्थल में प्रदर्शिक प्रक्रिया से करणीय ज्ञातव्य है । इस भ्रम निर्वचन में अतिव्याप्ति की शंका उठायी गई है 'नन्विदंसंयोगीति' इत्यादि के द्वारा । इस प्रश्न का आशय यह है कि संयोगयुक्त किसी वस्तु में होने वाला 'इदं संयोगि' अर्थात् यह संयोग युक्त है यह अवश्य प्रमा मान्य है, क्योंकि संयोग तत्वतः वहां है । किंतु संयोग गुण की नियमित अव्यावृत्तिता स्वभाव के कारण उस संयोग का अभाव भी उस संयोगाश्रय वस्तु में तत्वतः रहता है । अतः 'इदं संयोगि' इस यथार्थ ज्ञान को संयोगावद्विशेष्यक और संयोग-प्रकारक की तरह संयोगाभाववद्विशेष्यक और संयोगप्रकारक भी मानना ही होगा । ऐसी परिस्थिति में यह भी मानना ही होगा कि वह संयोगाभाववद्विशेष्यकत्वावच्छिन्न संयोगप्रकारकत्व उक्त 'इदं संयोगि' इस प्रमाज्ञान में रह जाता है जो कि भ्रम ज्ञान रूप में निर्धारित हुआ है । इसलिए अलक्ष्य में लक्षण-गमन-प्रयुक्त अतिव्याप्ति आपन्न होती है । इस शंका का उत्तर बतलाया गया है 'न, यदवच्छेदेन' इत्यादि के द्वारा । इस उत्तर ग्रंथ का आशय यह है कि 'तत्प्रतियोगिकसम्बन्धाभावावच्छेदक-देश-विशेष्यक तदवच्छेदकत्व प्रकारक-ज्ञानत्वं अयथार्थानुभवत्वम्' ऐसा लक्षण भ्रम का विवक्षित है । इसके अनुसार उक्त अतिव्याप्ति अनायास वारित हो जाती है । क्योंकि उक्त 'इदं संयोगि' यह ज्ञान संयोगाभाव के अवच्छेदक अंश को आधार बनाकर संयोगावच्छेदकत्व का नहीं किया गया है, और यदि ऐसा अभिप्राय रखते हुए वैसा ज्ञान किया जाय तो इसे भ्रमत्व भी इष्ट ही होगा, अतः उसे लक्ष्य में होने वाला लक्षण समन्वय ही कहा जायगा अतिव्याप्ति नहीं । किंतु यहां यह आवश्यक रूप से ज्ञातव्य है कि यह अवच्छेदक-देश-घटित लक्षण केवल अव्याप्यवृत्तिसंयोग आदि को विशेषण करके किये जाने वाले ज्ञान-स्थल के लिए ही विवक्षित हो सकता

है सार्वत्रिक नहीं। क्योंकि व्याप्यवृत्तिविशेषणक ज्ञानस्थल में अवच्छेदक देश ही अप्रसिद्ध हो उठेगा, तदनुसार यह लक्षण असंभव दोष ग्रस्त हो जाएगा। सुतरां तादृश स्थलों में पूर्वोक्त लक्षण ही वांछनीय होगा।

तर्क-संग्रह

यथार्थानुभवः चतुर्विधः, प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दभेदात्। तत्कारणमपि चतुर्विधम्, प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात्।

अनुवाद

प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, और शाब्दबोध, इन प्रभेदों के कारण यथार्थ अनुभव चार प्रकार के हैं। तदनुसार यथार्थानुभव के कारण भी प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और शब्द ये चार हैं।

दीपिका

यथार्थानुभवं विभजते यथार्थेति। प्रसंगात् प्रमाकरणं विभजते तत्करणमिति। प्रमाकरणमित्यर्थः। प्रमाकरणं प्रमाणम् इति प्रमाण-सामान्यलक्षणम्।

अनुवाद

यथार्थानुभव का विभाजन करते हैं 'यथार्था' इत्यादि के द्वारा। प्रसंगवश प्रमाकरण का विभाजन करते हैं 'तत्करणं' इत्यादि के द्वारा। तत्करण का अर्थ है प्रमा का कारण। प्रमा के प्रति करण होने वाला होता है प्रमाण, यह सामान्यतः प्रमाण का निर्वचन ज्ञातव्य है।

तर्क-संग्रह

असाधारणं कारणं करणम्।

अनुवाद

कार्य के प्रति असाधारण रूप से कारण होने वाला होता है करण।

दीपिका

करणलक्षणमाह असाधारणेति। साधारणकारणे दिक्कालादौ अतिव्याप्तिवारणाय असाधारणेति।

अनुवाद

करण का लक्षण करते हैं 'असाधारण' इत्यादि के द्वारा। काल अदृष्ट आदि साधारण कारणों में अतिव्याप्तिवारण के लिए 'असाधारण' कहा गया है।

विवरण

'कार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपित-कारणत्वं साधारणकारणत्वम्' यह साधारण कारण का लक्षण होता है। और 'कार्यत्वातिरिक्त कार्यता-समानाधिकरण-धर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपित-कारणत्वं असाधारण-कारणत्वम्' यह होता है असाधारण कारण का निर्वचन। प्रकृत में कार्यत्व से अतिरिक्त और कार्यता का समानाधिकरण धर्म पद से ग्राह्य होता है प्रत्यक्षप्रमात्व, अनुमितित्व उपमितित्व और शाब्दबोधत्व। इनके अंदर प्रत्यक्षत्व धर्म को लेकर तदवच्छिन्न कार्यता निरुपित कारणता रूप प्रत्यक्ष-प्रमाणत्व सम्पन्न होता है इंद्रियात्मक प्रत्यक्ष प्रमाणों में, अनुमित्व धर्म को लेकर तदवच्छिन्न कार्यतानिरुपित कारणता स्वरूप अनुमानत्व व्याप्तिज्ञानात्मक अनुमान में, उपमितित्व धर्म को लेकर तदवच्छिन्न कार्यता-निरूपित कारणतात्मक उपमानत्व सादृश्यज्ञानात्मक उपमान में, और शाब्दत्व अर्थात् शाब्दबुद्धित्व को लेकर तदवच्छिन्नकार्यता निरूपित कारणतात्मक शब्द प्रमाणत्वं शब्द प्रमाण में सम्पन्न होता है। काल अदृष्ट आदि तो सभी कार्यों के प्रति कारण होते हैं अतः उनमें कार्यत्वावच्छिन्न-कार्यतानिरूपित-कारणतात्मक साधारण-कारणता जाती है, कार्यत्वातिरिक्त उक्त प्रकार धर्मावच्छिन्नकार्यता-निरुपित कारणतात्मक असाधारण कारणता नहीं। अतः काल अदृष्ट आदि में प्रमाण लक्षण की अतिव्याप्ति होती नहीं। यहां विशेष ज्ञातव्य यह है कि प्राचीन लोग करण के लक्षण में व्यापारवत्व का भी निवेश मानते हैं। तदनुसार 'व्यापारवत्त्वे सति तदसाधारणकारणत्वम् तत्करणत्वम्' ऐसा लक्षण करण का उन लोगों के मत में होता है। इस प्रकार व्यापारवत्व का निवेश इसलिए वे लोग करण-लक्षण-शरीर में करते हैं कि इंद्रिय-सन्निकर्ष आदि को प्रत्यक्ष प्रमाणता आदि न आपन्न हो। किंतु ऐसा मानने पर इंद्रियों में प्रत्यक्ष प्रामाणता लाने के लिए चक्षुः संयोग आदि सन्निकर्षा में तो व्यापरता बन पाती है। क्योंकि तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्व ही मान्य होता है व्यापारत्व, सो चक्षुः संयोग आदि सन्निकर्षों में इसलिए उपपन्न होता है कि वे चक्षुः संयोग आदि सन्निकर्ष चक्षु आदि इंद्रियों से उत्पन्न भी होते हैं और चक्षु आदि से उत्पन्न होने वाली प्रत्यक्ष-प्रमा आदि के प्रति उत्पादक भी होते हैं। परन्तु श्रावण-प्रत्यक्ष-स्थल में श्रव्य के साथ आकाशात्मककान का सन्निकर्ष होने वाला समवाय, नित्य मान्य होने के कारण कान से उत्पन्न होने वाला हो पाता नहीं, अतः कर्णजन्यत्वे सति कर्णजन्यजनकत्व स्वरूप व्यापारत्व उक्त समवाय में उपपन्न होता नहीं। ऐसी परिस्थिति में कर्णेन्द्रिय को शब्द प्रत्यक्ष के प्रति करण रूप में प्रमाण कैसे कहा जा सकता ? यह प्रश्न कुछ जटिल सा उपस्थित होता है। परंतु इसका उत्तर करण लक्षण में व्यापारवत्व निवेश के पक्षपाती प्राचीन

लोग यह देते हैं कि उक्त युक्ति के अनुसार समवाय व्यापार नहीं बन सकता यह बात तो सही है किंतु यह कथन सही नहीं कि कान प्रमाण नहीं हो पायेगी। क्योंकि कर्णमनः संयोग को या श्रव्यशब्द को ही व्यापार रूप अनायास लिया जा सकता है। संयोग नियमतः अपने आश्रय में ही समवाय संबंध से उत्पन्न होता है, इसलिए कर्णमनः संयोग को कर्णू जन्य मानना ही होगा और वह कर्णमनः-संयोग कर्णजन्य शब्द-प्रत्यक्षात्मक कार्य का उत्पादक भी होता है। इसलिए कर्णजन्यत्वेसति कर्णजन्यजनकत्व कर्णमनः संयोग में उपपन्न होता ही है। श्रव्य शब्द को व्यापार इसलिए कहा जा सकता है कि शब्द आकाश में उत्प न होने वाला गुण है और कान आकाश ही है इसलिए शब्द में 'कर्णजन्यत्व' भी आता है, और कान से होने वाले शब्द प्रत्यक्ष के प्रति शब्द विषय रूप से कारण होता है इसलिए 'कर्णजन्यजनकत्व' भी शब्द में उपपन्न होता है। कहने का सारांश यह कि कान को प्रमाण होने के लिए कोई मध्यवर्ती व्यापार चाहिए ही तो? सो कर्ण मनः संयोग या शब्द, व्यापार रूप से गृहीत हो ही सकता है अतः कान में प्रत्यक्ष-प्रमाणता की अनुपत्ति नहीं कही जा सकती। नवीन लोग करण लक्षण-शरीर में व्यापारवत्व का निवेश मानते नहीं। अतः मूल ग्रंथ में उक्त करण का यथाश्रुतलक्षण ही सही होता है। इसका फल यह होता है कि सन्निकर्ष आदि को भी प्रत्यक्ष आदि के प्रति करणता प्राप्त होने के कारण प्रमाणता इष्ट ही मान्य होती है।

तर्क-संग्रह

कार्यनियतपूर्ववर्त्ति कारणम्।

अनुवाद

कार्य का कारण वह होता है जो नियमतः कार्य का पूर्ववर्ती होता है।

दीपिका

कारणलक्षणमाह कार्यनियतेति। पूर्ववृत्तिकारणमित्युक्ते रासभादौ अतिव्याप्तिः स्यादतो नियतेति। तन्मात्रे कृते कार्येऽतिव्याप्तिरतः पूर्ववृत्तीति। ननु तन्तुरूपमपि पटं प्रति कारणं स्यादिति चेन्न अनन्यथासिद्धत्वे सतीति विशेषणात्। अनन्यथासिद्धत्वं अन्यथासिद्धिविरहः। अन्यथासिद्धिः त्रिविधा येन सहैव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वमवगम्यते तत् तेनान्यथासिद्धम्। यथा तन्तुना तन्तुरूपं तन्तुत्वं च पटं प्रति। अन्यं प्रति पूर्ववर्त्तित्वे ज्ञाते एव यस्य यं प्रति पूर्ववर्त्तित्वं अपगम्यते तं प्रति तदन्यथा सिद्धम्। यथा शब्दं प्रति पूर्ववर्त्तित्वे ज्ञाते एव पटं प्रति आकाशस्य। अन्यत्र क्लृप्त

नियतपूर्ववर्त्तिन एवं कार्यसम्भवे तत्सहभूतमन्यथासिद्धम् । यथा पाकजस्थले गन्धं प्रतिरूपप्रागभावस्य । एवं च अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्त्तित्वं कारणत्वम् ।

अनुवाद

कारण का लक्षण करते हैं 'कार्यनियत' इत्यादि के द्वारा । कारण वह होता है जो कार्य के प्रति पूर्ववर्ती होता है ऐसा निर्वचन कारण का मानने पर रासभ आदि में अतिव्याप्ति आपन्न होगी अतः 'नियत' यह कहा गया है । उतना ही कहने पर कार्य में अतिव्याप्ति होगी अतः 'पूर्ववर्ती' कहा गया है । पट के प्रति तन्तुरूप कारण हो उठेगा, यह इसलिए नहीं कहा जा सकता कि प्रकृत लक्षण शरीर में अनन्यथासिद्धत्व भी विशेषण रुप से देय है । अन्यथासिद्धि का अभाव कहलाता है अनन्यथासिद्धत्व । अन्यथासिद्धि त्रिविध है । जिसके साथ ही पूर्ववर्त्तिता जिस कार्य के प्रति कारण में ज्ञात हो, वह उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्धि होता है । जैसे तंतु से तंतुत्व एवं तंतु रूप पट के प्रति अन्यथासिद्ध स्वीकरणीय होता है । अन्य किसी के प्रति पूर्ववृत्तिता ज्ञात होने के अनंतर ही जिसमें जिस कार्य के प्रति पूर्ववृत्तिता गृहीत हो वह उस कार्य के प्रति अन्यथा सिद्ध होगा । जैसे आकाश में शब्द-नियतपूर्ववृत्तिता ज्ञात होने के अनंतर ही पट आदि के प्रति पूर्ववर्तिता ज्ञात होती है अतः आकाश पट आदि के प्रति अन्यथा सिद्ध होता है । अन्यत्र क्लृप्तनियतपूर्ववर्ती से ही कार्य हो सकने पर तत्सहभूत अन्य अन्यथा-सिद्ध हो जाता है । जैसे पाकज गुणोत्पत्ति स्थल में गंध के प्रति रूप का प्रागभाव अन्यथा सिद्ध होता है । सारांश यह कि 'अनन्यथासिद्धत्वे सति नियतपूर्ववर्तित्व' है कारणत्व यही कारण का निर्वचन मान्य है ।

विवरण

मूल ग्रंथ के अनुसार 'कार्यनियतत्वे सति पूर्ववर्तित्वं कारणत्वम्' यह कारण का निर्वचन प्राप्त होता है । तदन्तर्गत 'नियतत्व' की व्याख्या व्यापकत्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती । इसलिए 'कार्यव्यापकत्वेसति कार्यपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम्' यही निर्वचन कारण का लब्ध होता है । इसका अभिप्रेत अर्थ यह होता है कि जो कार्य के प्रति व्यापक होता हुआ कार्य का पूर्ववर्ती हो उसे उस कार्य के प्रति कारण मानना चाहिए । इसके अंदर आने वाले व्यापकत्वात्मक नियतत्व निवेश का प्रयोजन दीपिकाकार ने बतलाया है । 'पूर्ववृत्तिकारणमित्युक्ते' इत्यादि के द्वारा । व्यापकत्व निवेश करने पर रासम में अतिव्याप्ति इसलिए नहीं हो पाती कि रासभ घट पट आदि की उत्पत्ति के स्थलों में क्वचित् भले ही रहे किंतु नियमतः रहता नहीं । अतः वह घट पट आदि कार्य का व्यापक हो पाता

नहीं। यदि 'कार्यव्यापकत्वं कारणत्वम्' इतना ही निर्वचन माना जाय तो कार्य के प्रति उसी कार्य को कारण मानना इसलिए आवश्यक रूप में स्वीकर्तव्य हो उठेगा कि कोई भी स्वयं अपना व्यापक होता ही है। क्योंकि अपने आधार में अपना अत्यन्ताभाव कभी पाया जा सकता नहीं। किंतु उसी को उसके प्रति कारण माना जा सकता नहीं। पूर्ववृत्ति निवेश करने पर यह अतिव्याप्ति अनायास इसलिए निवारित हो जाती है कि कोई भी स्व का पूर्ववर्ती होता नहीं। सुतरां कार्य का पूर्ववर्ती होता नहीं। कारण का पर्यवसित निर्वचन 'अव्यवहित पूर्वत्वसम्बन्धेन कार्याधिकरणवृत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व' ज्ञातव्य है। कोई भी उत्पत्तिशील वस्तु, जिसे कि ऊपर शब्द में काल कहा जाता है अव्यवहित पूर्वत्व संबंध से रहता है अपने उत्पत्तिक्षण से अव्यवहित पूर्व क्षण में, वहां कारण नियमतः रहता ही है। इसलिए कारण का अत्यन्ताभाव वहां रह नहीं पाता है। जो अन्य उदासीन वस्तुओं का अत्यन्ताभाव वहां रहता है, उसका प्रतियोगित्व उन उदासीन वस्तुओं में ही जा पाता है, कारण में नहीं। इसलिए उक्त प्रकार अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगित्व भली भांति कारण में आ जाता है लक्षण समन्वय अनिवारित रूप में होता है। अन्यत्र अन्यथासिद्धि की पंचविधता कथित होने पर भी यहां उसकी त्रिविधता ही बतलायी जा रही है जैसा कि नव्य न्याय के प्रवर्तक गंगेशोपाध्याय ने भी माना है। 'येन सह' इत्यादि के द्वारा प्रथम अन्यथासिद्धि का निर्वचन 'कार्याव्यवहितपूर्ववृत्तितावच्छेदकत्व-प्रकारक-ज्ञानविशेष्यत्व' ज्ञातव्य है। तंतुओं को पट के प्रति पूर्ववृत्ती समझने पर तंतुत्व और तंतुरूप को पट-नियत-पूर्ववर्तिता का अवच्छेदक समझना स्वाभाविक है, इसलिए पट-नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकत्व-प्रकारकज्ञानाविशेष्यत्व तंतुत्व एवं तंतुरूप आदि में जाता है, प्रथम अन्यथासिद्धि उनमें समन्वित होती है। द्वितीय अन्यथा सिद्धि का निर्वचन बतलाया गया है 'अन्यंप्रति' इत्यादि के द्वारा। फलितार्थ यह कि 'कार्यपूर्ववृत्तित्व प्रकारक-ज्ञान-विशेष्यतावच्छेदकभूत-किंचित्पूर्ववर्तित्व-प्रकारक-ज्ञान-विशेष्यत्व है द्वितीय अन्यथासिद्धि। आकाशः पटनियतपूर्ववृत्तिः' इसका परिष्कृत रूप होगा 'शब्दनियत पूर्ववृत्तिः पटनियतपूर्ववृत्तिः'। इसके अनुसार पटनियतपूर्ववृत्तिता का अवच्छेदकीभूत शब्दनियतपूर्ववृत्तित्व आकाश में रहता है अतः आकाश पट के प्रति अन्यथासिद्ध हो जाता है, कारण हो पाता नहीं। तृतीय अन्यथासिद्धि बतलायी है 'अन्यत्र' इत्यादि के द्वारा अन्यत्र अर्थात् पाकजस्थल में। इससे यह सूचित किया गया है कि जहां उक्त दो अन्यथासिद्धियों से कारणता नहीं निवारित हो पायेगी अथवा वह निवारणीय होगी वहां के लिए तृतीय अन्यथा सिद्धि अवश्य मान्य होगी। कार्य के प्रति कार्य का प्रागभाव भी कारण रूप से मान्य होने के कारण पाकज रूप रस आदि की उत्पत्ति स्थल में रूप के प्रति रूप का प्रागभाव, और रस के

प्रति रस का प्रागभाव कारण होता है, रूप के प्रति रस का प्रागभाव कारण नहीं होता। किंतु पूर्ववृत्तिता रूप के प्रति रूप प्रागभाव की तरह रस-प्रागभाव में भी होती है। अतः रूप के प्रति रस-प्रागभाव को और रस के प्रति रूपप्रागभाव को कारणता न आपन्न हो एतदर्थ इस तृतीय अन्यथा सिद्धि की मान्यता आवश्यक होती है। इसका सरल निर्वचन 'अन्यत्रक्लृप्त नियतपूर्ववर्तिसहभूतत्व' कहा जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अपाकजलस्थल में रूप रस आदि की परावृत्ति युगपत् न होने के कारण वहां रूप के प्रति रूप-प्रागभाव ही नियतपूर्ववर्ती हो पाता है रस प्रागभाव नहीं। इसी प्रकार रस के प्रति रस-प्रागभाव ही नियत पूर्ववृत्ती होगा रूप-प्रागभाव नहीं। किंतु पाकाज स्थल में रूप-प्रागभाव और रस प्रागभाव नियतपूर्ववृत्ती-रूप-प्रागभाव का सहभूत हो जाता है। इसी प्रकार रस के प्रति रूप प्रागभाव को भी समझना चाहिए। कारण का पर्यवसित लक्षण बतलाया गया है 'अन्यथासिद्ध' इत्यादि के द्वारा। इसका अर्थ पूर्वोक्तानुसार अन्यतमान्यथासिद्धभिन्नत्वेसति कार्य प्रति व्यापकत्वे सति पूर्ववृत्तित्वम्' कारणत्व यह निर्वचन कारण का समझना चाहिए। अब यहां प्रश्न यह एक उपस्थित होता है कि उक्त कारण लक्षण में अनन्यथासिद्धत्व विशेषण अनिवार्य रूप से देय होने पर रासभ आदि अनियतों का वारण अनायास उसी से हो जायेगा फिर 'नियत' यह उक्त कारण-लक्षण में क्यों निविष्ट किया जाय? तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि 'अनन्यथासिद्धत्व' का अर्थ होगा अन्यथासिद्धभिन्नत्व, तदनुसार एक कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होने वाले करोड़ों व्यक्तियों का भेद एक कारण को कारण समझने के लिए ज्ञातव्य होंगे, यतः महान् गौरव उपस्थित होगा। 'नियत' के निवेश से लाभ यह होगा कि कार्य के प्रति अनियत रूप से पूर्ववर्ती होने वाले असंख्य अन्यथासिद्ध तो 'नियत' पद से ही निवारित हो जायेंगे, अतः उन अन्यथासिद्धों के भेद उक्त कारण शरीर में निवेश्य होंगे नहीं, महान लाघव होगा। इसलिए 'नियत' का निवेश अपेक्षित है। फिर भी एक प्रश्न यह उपस्थापित हो सकता है कि कार्य का एक प्रति अन्यथासिद्ध होने के कारण अनन्यथासिद्ध होने के कारण अनन्यथासिद्ध पद से ही वारित हो जायेगा, फिर उसमें कारणत्व के निवारणार्थ 'पूर्ववर्ती' क्यों कहा जाय? तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध के उक्त तृतीय लक्षण के अनुसार ही होता है उक्त दो पूर्व लक्षणों के अनुसार नहीं। ऐसी परिस्थिति में उक्त कारण शरीरगत अन्यथासिद्धि यह पूर्व लक्षणद्वयानुसारी ली जाय तो कार्य के प्रति कार्य में आपन्न होने वाले कारणत्व के निवारणार्थ पूर्ववर्तित्व देना ही होगा। और यदि तृतीय लक्षणोक्त अन्यथासिद्धि ली जाय तो तद्ग्रहण की आवश्यकता के सूचनार्थ ही 'पूर्ववर्ती' यह कहा गया है ऐसा ज्ञातव्य है, अतः उसका वैयर्थय नहीं बतलाया जा सकता।

तर्क संग्रह

कार्यं प्रागभावप्रतियोगि ।

अनुवाद

प्रागभाव का प्रतियोगी होने वाला कहलाता है कार्य ।

दीपिका

कार्यलक्षणमाह कार्येति ।

अनुवाद

'कार्य' इत्यादि के द्वारा कार्य का लक्षण बतलाते हैं ।

तर्क-संग्रह

कारणं त्रिविधं समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात् । यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम् । यथा तन्तवः पटस्य पटश्च स्वगतरूपोदः । कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् यत् कारणं तदसमवायिकारणम् । यथा तन्तुसंयोगः पटस्य, तन्तुरूपं पटरूपस्य । तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणं यथा तुरीवेमादिकं पटस्य ।

अनुवाद

समवायिकरण, असमवायिकारण और निमित्तकारण इन प्रभेदों के कारण, कारण के तीन प्रकार है । समवायिकारण वह कहलाता है जिसमें कार्य समवाय संबंध से उत्पन्न होता है जैसे तंतु पट के प्रति, और पट स्वगत रूप आदि के प्रति समवायिकारण होता है । कार्य के साथ अथवा कारण के साथ एक वस्तु में समवेत होता हुआ कारण होने वाला कहलाता है असमवायिकारण । जैसे तन्तुसंयोग पट के प्रति और तन्तुरूप पट-रूप के प्रति असमवायिकारण होता है । इन दोनों कारणों से भिन्न होने वाला कारण होता है निमित्त कारण ।

दीपिका

कारणं विभजते कारणमिति । समवायिकारणलक्षणमाह यत्समवेतेति । यस्मिन् समवेतमित्यर्थः असमवायिकारणलक्षणमाह कार्येणेति । कार्येणेत्युदाहरति तन्तुसंयोग इति । कार्येण पटेन सह एकस्मिन् तन्तौ समवेतत्वात् तन्तुसंयोगः पटस्यासमवायिकारणम् इत्यर्थः । कारणेन सहेत्युदाहरति तन्तुरूपमिति । कारणेन पटेन सह एकस्मिन् तन्तौ समवेतत्वात् तन्तुरूपं पटरूपं प्रत्यसमवायिकारणमित्यर्थः । निमित्त-कारणं लक्षयति तदुभ्येति। समवायिभिन्नं कारणं निमित्तकारणमित्यर्थः ।

अनुवाद

कारण का विभाग करते हैं 'कारण' इत्यादि के द्वारा । समवायिकारण का

लक्षण बतलाते हैं 'यत्समवेतं' इत्यादि के द्वारा। 'यत्समवेतं' इसका अर्थ है जिसमें समवाय संबंध से रहने वाला। असमवायि कारण का लक्षण करते हैं 'कार्येण' इत्यादि के द्वारा और उदाहरण उपस्थित करते हैं 'तन्तुरूपं' इत्यादि के द्वारा पटरूपात्मक कार्य के प्रति कारण होने वाले पट के साथ तंतुरूप तंतु में रहता है अतः तंतुरूप पट रूप के प्रति असमवायिकारण होता है। निमित्त कारण का लक्षण करते हैं—'तदुभयभिन्नं कारणं' इत्यादि के द्वारा। अर्थात् समवायिकारण और असमवायिकारण इन दोनों से भिन्न होने वाला कारण होता है निमित्त कारण।

विवरण

समवाय से होने वाले कार्य के प्रति तादात्म्य संबंध से द्रव्य होता है कारण। जैसे समवायेन घट के प्रति तादात्म्य संबंध से कपाल होता है कारण। ऐसा कार्य-कारण-भाव आवश्यक रूप से मान्य इसलिए होता है कि ऐसा न मानने पर गुण आदि निर्गुणों में भी गुणोत्पत्ति की आपत्ति उठ खड़ी होगी। इस वस्तुस्थिति के अनुसार समवायिकारण का लक्षण होता है 'समवाय-संबंधावच्छिन्न-कार्यतानिरूपित-तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-कारणत्व, और समवाय स्वसमवायिसमवेतत्व एतदन्यतर-सम्बन्धावच्छिन्नकारणत्व होता है असमवायिकारण का लक्षण। घट के समवायिकारणभूत तंतु में समवाय संबंध से रहने के कारण तंतुरूप में समवायसम्बन्धावच्छिन्नकारणता आती है और पट रूप के प्रति समवायिकारण होने वाले पट के साथ तंतु रूप तंतु में रहता है इसलिए 'स्वसमवायिसमवेतत्व-सम्बन्धावच्छिन्न-कारणता पटरूप के प्रति आती है तंतु रूप में, इसलिए लक्षण समन्वय होता है। 'स्वसमवायि-समवेतत्व' यहां पर 'स्व' पद से कर्तव्य होगा तंतुरूप, उसका समवायी होगा तंतु, तत्समवेत होगा पट, इस प्रकार तंतुरूप, उस पट में आता है, जिसमें कार्यभूत पट-रूप समवाय संबंध से उत्पन्न होता है। अब यहां प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि उक्त निर्वचन के अनुसार पटासमवायिकारण का लक्षण पट के प्रति निमित्त कारणभूत तुरी तंतु संयोग में चला जाता है, अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि विभिन्न तंतु-संयोग जैसे तंतुओं में रहते हैं उसी प्रकार तुरी तंतु-संयोग भी तंतुओं में रहता ही है। इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि उक्त अन्यतर संबंध से समवायिकारणमात्र में रहने वाला करण होता है असमवायिकारण ऐसा निर्वचन असमवायिकारणका विवक्षित है। तुरी तंतु संयोग तंतु में रहता है सही किंतु केवल तंतु में ही नहीं रहता है किंतु तंतु भिन्न तुरी में भी रहता है इसलिए वह समवायिकारण मात्र वृत्ती कारण नहीं हो पाता है। अतः वह पट के प्रति

असमवायिकारण नहीं होता है, उसमें असमवायिकारण लक्षण जा पाता नहीं, अतिव्याप्ति वारित हो जाती है। तंतु संयोग केवल तंतुओं में ही समवाय संबंध से रहता है अन्य किसी में नहीं। इस प्रकार कहने पर भी, प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इच्छा के प्रति विभिन्न कारणभूत ज्ञान में उसके प्रति असमवायिकारणता आपन्न होगी, क्यों कि ज्ञान इच्छा के प्रति समवायिकारण-भूत आत्मा में ही समवाय संबंध से रहता है अन्यमें नहीं। इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि इच्छा के प्रति ज्ञान को असमवायिकारण मानने पर भी ज्ञान के प्रति आत्म मनः संयोग को असमवायिकारण मानना ही होगा। ऐसी परिस्थिति में आत्म मनः संयोग को ही क्यों न आत्मविशेषणु मात्र के प्रति अर्थात् सभी आत्म विशेष गुणों के प्रति असमवायिकारण माना जाय? अतः ज्ञान इच्छा प्रयत्न आदि सभी आत्म-गत विशेष गुणों के प्रति आत्म-मनः-संयोग को ही असमवायिकारण माना गया है। गम्भीरता पूर्वक सोचने पर तत्त्व यहां यह प्रतीत होता है कि न्यायमत में असमवायिकारण उसे माना जाता है जिसके अव्यवहित उत्तर क्षण में कार्य अवश्य हो। ऐसी परिस्थिति में इच्छा के प्रति ज्ञान को असमवायिकारण मानने पर सर्वत्र ज्ञान होने के अव्यवहित उत्तर नियमतः इच्छा होनी चाहिए जो कि कहीं होती है और कहीं होती नहीं। अतः इच्छा के प्रति ज्ञान असमवायिकारण होता नहीं। रही बात उसमें असमवायि-कारण का लक्षण जाने के कारण होने वाली अतिव्याप्ति की तो उसका वारण उक्त लक्षण में 'आत्मविशेषगुण भिन्नत्व' विशेषण देकर कर्तव्य समझना चाहिए। ज्ञान भी आत्मा का विशेष गुण ही होता है। आत्म-विशेष-गुण-भिन्न नहीं इसलिए अतिव्याप्ति हो पाती नहीं। निमित्त कारण का लक्षण करते हैं 'समवाय्य-समवायि' इत्यादि के द्वारा। 'समवाय्यसमवायिभिन्नत्व का अर्थ समवायि-कारणभिन्नत्वे सति असमवायिकारणभिन्नत्व' समझना चाहिए। अन्यथा उभयभिन्नता उभयघटक प्रत्येक में भी चली जायेगी। तदनुसार समवायि-कारण और असमवायिकारण भी निमित्तकारण कहलाने लगेगें। जब प्रश्न यह उपस्थापित हो सकता है कि ध्वंस के प्रति निमित्तकारण रूप से मान्य काल में उसके प्रति निमित्त कारणता नहीं बन पायेगी क्योंकि ध्वंस का न तो कोई समवायिकारण होता है और न असमवायिकारण। इसलिए समवायिकारण-भिन्नत्व एवं असमवायिकारण-भिन्नत्व अप्रसिद्ध होगा। अतः तद्घटित लक्षण नहीं बन पायेगा। इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि विवेचन को यहां तक बढ़ाने पर निमित्त कारण का लक्षण ऐसा मान्य है कि 'समवायिकारणत्व, असमवायि-कारणत्व एतदुभयसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-कार्याभाववत्वे सति कारणत्वं निमित्तकारणत्वम् 'ऐसा कहने पर काल में ध्वंस के प्रति निमित्त-कारणता इस-

लिए बन पायेगी कि घट पट आदि कार्यों की समवायिकारणता एवं असमवायिकारणता प्रसिद्ध रहेगी। उस समवायि कारणता या असमवायिकारणता संबंध से ध्वंस काल में जा पायेगा नहीं। इसलिए समवायिकारणत्वासमवायिकारणत्वोभय सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकध्वंसाभाव काल में आ जायेगा। किंतु यहां विशेष रूप से ध्यान रखने की बात यह होगी कि उक्त समवायिकारणत्व में 'विभुत्वासामानाधिकरण्य' विशेष भी देना अनिवार्य होगा। क्योंकि अन्यथा घट पट आदि के साथ होने वाले काल संयोग के प्रति काल निमित्त कारण नहीं बन पायेगा। यतः काल घट संयोग के प्रति घट की तरह काल भी होगा समवायिकारण, इसलिए समवायिकारणत्व संबंध से वह संयोग काल पर भी रहेगा। सुतरां समवायिकारणत्व सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक संयोगाभाव काल में आ पायेगा नहीं। समवायिकारणत्व में विभुत्वासामानाधिकरण्य विशेषण देने पर अव्याप्ति इसलिए वारित होगी काल की विभुता प्रयुक्त कालगत संयोग-समवायिकारणत्व विभुत्व-समानाधिकरण ही होगा विभुत्वासमानाधिकरण नहीं। इसलिए विभुत्वासमानाधिकरण समवायिकरणत्व सम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-संयोगाभाव, काल-घट संयोग के प्रति समवायिकारणभूत काल में चला जायेगा, लक्षण समन्यव हो जायेगा।

तर्क-संग्रह

तदेतत्त्रिविधकारणमध्ये यदसाधारणं कारणं तदेव करणम्। तत्र प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षम्। इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। तद्द्विविधं सविकल्पकं निर्विकल्पकं च। तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्। सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्। यथादित्योऽयम् ब्राह्मणोऽयम् श्यामोऽयमिति।

अनुवाद

इन त्रिविध कारणों के अंदर असाधारण रूप से कारण होने वाला कहलाता है करण। प्रमाणों के अंदर प्रत्यक्षात्मक प्रभा के प्रति करण होने वाला कहलाता है प्रत्यक्ष प्रमाण। इंद्रिय एवं पदार्थ के बीच होने वाले संबंध से उत्पन्न होने वाला ज्ञान कहलाता है प्रत्यक्ष (प्रभा) उसके प्रभेद दो हैं सविकल्पक और निर्विकल्पक। निष्प्रकारक ज्ञान कहलाता है निर्विकल्पक और सप्रकारक ज्ञान कहलाता है सविकल्पक। जैसे 'डित्थोऽयम्' 'ब्राह्मणोयम्' 'श्यामोऽयम्' अर्थात् यह डित्थ है, यह ब्राह्मण है और यह श्याम है इत्यादि ज्ञान होते हैं सविकल्पक।

दीपिका

करणलक्षणमुपसंहरति तदेतदिति। प्रत्यक्षलक्षणमाह तत्रेति। प्रमाण-चतुष्टयमध्ये इत्यर्थः। प्रत्यक्षज्ञानस्य लक्षणमाह इन्द्रियेति। इन्द्रियं चक्षु-

रादिकं अर्थो घटादिः तयोः सन्निकर्षः संयोगादिः, तज्जन्यं ज्ञानमित्यर्थः। तद्विभजते द्विविधमिति। निर्विकल्पकस्य लक्षणमाह निष्प्रकारकमिति। विशेषणविशेष्य-सम्बन्धावगाहि-ज्ञानमित्यर्थः।

अनुवाद

निर्विकल्पक ज्ञान के संबंध में कोई प्रमाण नहीं है यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि 'गौरिति विशिष्टज्ञानं विशेषणज्ञानजन्यं विशिष्टज्ञानत्वात्' अर्थात् 'यह गाय है' इत्यादि विशिष्टज्ञान विशेषण-ज्ञानजन्य हैं क्योंकि विशिष्ट ज्ञान है, जो विशिष्ट ज्ञान होता है वह विशेषण-ज्ञान जन्य अवश्य होता है, जैसे 'यह दण्डी है' इत्यादि ज्ञान, यह अनुमान प्रमाण रूप से विद्यमान है। विशेष्ण ज्ञान को भी यदि सविकल्पक माना जाय तो अनवस्था होगी, इस प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान की सिद्धि होती है। सविकल्पक का लक्षण करते हैं 'सप्रकारक' इत्यादि के द्वारा। नाम जाति आदि विशेषण और विशेष्य तथा इन दोनों के संबंधों को विषय करने वाला ज्ञान सविकल्पक होता है यह विवक्षित अर्थ हुआ। सविकल्पक का उदाहरण देते हैं 'यथा' इत्यादि के द्वारा।

विवरण

निर्विकल्पक के लक्षण में विशेषण, विशेष्य, और संबंध तीनों का उपादान लक्षण-त्रय के सूचन के लिए किया गया है। फलतः प्रकारता-शून्यज्ञानत्वम्, विशेष्यताशून्यज्ञानत्वम् और संसर्गताशून्यज्ञानत्वम् ये तीनों लक्षण विकल्प रूप में निर्विकल्पक के होते हैं। निर्विकल्पक ज्ञान की मान्यता से संबद्ध युक्ति पहले बतलायी जा चुकी है, तदनुरूप यहां दीपिकाकार ने अनुमान उपस्थित किया है 'गौरितिविशष्टज्ञानं' इत्यादि के द्वारा। सविकल्पक के लक्षण में 'नाम-जाति' आदि पदों का प्रक्षेप वैशद्य-मात्रार्थक है, वस्तुतः लक्षण शरीर में उनका प्रवेश विवक्षित नहीं है। फलतः प्रकारताशून्यज्ञानत्व आदि उक्त त्रिविध लक्षण निर्विकल्पक के स्वरूप प्रकाशनार्थ पर्याप्त हैं।

तर्क-संग्रह

प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः षड्विधः। संयोगः, संयुक्त-समवायः, संयुक्तसमवेत-समवायः, समवायः, समवेतसमवायो विशेषणविशेष्यभावश्च। चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने संयोगः सन्निकर्षः। घटरूप-प्रत्यक्षजनने संयुक्तसमवायः सन्निकर्षः चक्षुःसंयुक्ते घटे, रूपस्य समवायात्। रूपत्वसामान्यप्रत्यक्षे संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः, चक्षुस्संयुक्ते घटे रूपं समवेतं तत्र रूपत्वस्य समवायात्। श्रोत्रेण शब्द-साक्षात्कारे समवायः सन्निकर्षः, कर्णविवरवर्त्याकाशस्य श्रोत्र-

त्वात् शब्दस्याकाश-गुणत्वात्। गुणगुणिनोश्च समवायात्। शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेतसमवायः सन्निकर्षः, श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्। अभाव-प्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यभावः सन्निकर्षः, घटाभाववद् भूतलमित्यत्र चक्षुस्संयुक्ते भूतले घटाभावस्य विशेषणत्वात्। एवं सन्निकर्षषट्कजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, तत्करण-मिन्द्रियम् तस्मात् इन्द्रियं प्रत्यक्षप्रमाणमिति सिद्धम्। व्याख्यातं प्रत्यक्षम्।

अनुवाद

प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के प्रति कारणभूत इंद्रियार्थ सन्निकर्ष के छ प्रकार हैं, संयोग, संयुक्त-समवाय, संयुक्त-समवेतसमवाय, समवाय, समवेत-समवाय और विशेषण-विशेष्य-भाव। चक्षु से होने वाले घट-प्रत्यक्ष-स्थल में सन्निकर्ष होता है संयोग, घटगत रूप-प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में सन्निकर्ष होता है संयुक्त-समवेत-समवाय। क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप का समवाय संबंध उपस्थित होता है। रूपत्व-जाति के प्रत्यक्ष में संयुक्त समवेत समवाय होता है सन्निकर्ष, क्योंकि चक्षु-संयुक्त होता है घट, उसमें समवेत होने वाले रूप में रूपत्व का समवाय संबंध रहता है। कान से होने वाले शब्द के प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष होता है समवाय, क्योंकि कर्णविवरवर्ती आकाश होता है श्रोत्र, उसमें शब्द का समवाय संबंध होता है। क्योंकि गुण और गुणी के बीच समवाय संबंध हुआ करता है। शब्दत्व के प्रत्यक्ष-स्थल में सन्निकर्ष होता है समवेत-समवाय। क्योंकि कर्ण समवेत शब्द में शब्दत्व का समवाय संबंध होता है। अतः इंद्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण है यह बात सिद्ध हुई। प्रत्यक्ष का व्याख्यान समाप्त हुआ।

दीपिका

इन्द्रियार्थसन्निकर्षं विभजते प्रत्यक्षेति। संयोगसन्निकर्षमुदाहरति चक्षुषेति। द्रव्यप्रत्यक्षे सर्वत्र संयोगः सन्निकर्ष इत्यर्थः। आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन, ततः प्रत्यक्षज्ञानमुत्पद्यते। संयुक्तसमवाय-मुदाहरति घटरूपेति। तदुपपादयति तत्र युक्तिमाह चक्षुस्संयुक्तेति। संयुक्त-समवेतसमवायमुदाहरति रूपत्वेति। समवायमुदाहरति श्रोत्रेति। तदुपपादयति कर्णेति। ननु दूरस्थशब्दस्य कथं श्रोत्रेण सम्बन्ध इति चेन्न। वीचीतरंगन्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा शब्दाच्छब्दान्तरोत्पत्तिक्रमेण श्रोत्रदेशजातस्य श्रोत्रेण सम्बन्धात् प्रत्यक्षत्वमुपपद्यते। समवेत-समवायमुदाहरति शब्दत्वेति। विशेषण-विशेष्यभावमुदाहरति अभावेति। तदुपपादयति घटाभाववदिति। भूतलं विशेष्यं घटाभावो विशेषणम्। भूतले घटो नास्तीत्यत्र अभावस्य विशेष्यत्वं द्रष्टव्यम्। एतेनानुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वं निरस्तम्। यद्यत्र घटो भविष्यत् तदाभूतलमिवाद्रक्ष्यत्, दर्शनाभावान्ना-

स्तीति तर्कप्रतियोगिसत्त्वविरोध्यनुपलब्धेः सहकृतेनेन्द्रियेनैवाभावज्ञानोपपत्तौ अनुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वासम्भवात् । अधिकरणत्वज्ञानार्थमपेक्षणीस्येन्द्रियस्यैव करणत्वोपपत्तावनुपलब्धेः कारणत्वस्यायुक्तत्वात् । विशेषण-विशेष्यभावो विशेषण-विशेष्य-स्वरूपमेव नातिरिक्तः सम्बन्धः । प्रत्यक्ष-ज्ञानमुपसंहरन् तस्य कारणमाह एवमिति । असाधारणकारणत्वादिन्द्रियं प्रत्यक्षज्ञानकरणमित्यर्थः । प्रत्यक्षमुपसंहरति तस्मादिति । इति प्रत्यक्ष-परिच्छेदः ।

अनुवाद

इंद्रियार्थ सन्निकर्ष का विभाजन करते हैं प्रत्यक्ष इत्यादि के द्वारा । संयोग सन्निकर्ष का उदाहरण बतलाते हैं 'चक्षुषा' इत्यादि के द्वारा । सर्वत्र द्रव्यप्रत्यक्ष-स्थलों में संयोग होगा सन्निकर्ष । आत्मा मन के साथ संयुक्त होता है, मन इंद्रिय के साथ और इंद्रिय द्रष्टव्य वस्तु के साथ । तदनन्तर प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है । संयुक्त समवाय का उदाहरण देते हैं 'रूपत्वे' इत्यादि के द्वारा 'श्रोत्र' इत्यादि के द्वारा समवाय सन्निकर्ष का उदाहरण उपस्थित किया गया है । उसका उप-पादन करते हैं 'कर्ण' इत्यादि के द्वारा । दूरवर्ती शब्द का कान के साथ कैसे संबंध हो सकता है ? यह नहीं कहा जा सकता । क्योंकि बीचीतरंगन्याय से या कदम्बकुलन्याय से एक के अनन्तर ऊपर की उत्पत्तिक्रम से कान के अंदर आकाश में उत्पन्न होने वाले शब्द के साथ कान का संबंध सम्पन्न होने के कारण शब्द का प्रत्यक्ष हो सकता है । समवेत-समवाय सन्निकर्ष का उदाहरण बतलाते हैं शब्दत्व इत्यादि के द्वारा । 'अभाव' इत्यादि के द्वारा 'विशेषणविशेष्यभाव' सन्निकर्ष का उदाहरण बतलाया गया है । इसका उपपादन करते हैं 'घटाभाववत्' इत्यादि के द्वारा । इस ज्ञान में भूतल होता है विशेष्य और घटाभाव विशेषण । 'भूतल में घट नहीं है' ऐसे ज्ञानों में अभाव होगा विशेष्य और भूतल विशेषण, यह ज्ञातव्य है । इससे अनुपलब्धि की प्रमाणान्तरता भी खंडित हो गयी । यदि यहां घट होता तो भूतल के समान वह भी दिखलाई देता, किंतु दिखाई देता नहीं, अतः वह है नहीं, इस प्रकार तर्कित प्रतियोगिसत्ता की विरोधिनी अनुप-लब्धि से सहकृत इंद्रिय से ही जब अभाव का प्रत्यक्ष हो सकता है तो अनुपलब्धि को प्रमाणता नहीं प्राप्त हो सकती । अधिकरण ज्ञान के लिए अपेक्षित इंद्रियों को ही करणत्व हो सकने पर अनुपलब्धि में करणता की मान्यता युक्तियुक्त नहीं कही जा सकती । विशेष्य विशेषणभाव विशेष्य और विशेषण के अतिरिक्त और कुछ नहीं मान्य है । असाधारण होने के कारण इंद्रिय ही प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण है । प्रत्यक्ष का उपसंहार करते हैं 'तस्मात्' इत्यादि के द्वारा । प्रत्यक्ष परिच्छेद समाप्त हुआ ।

विवरण

प्रत्यक्षजनक इंद्रियार्थ-संबंध ही दूसरे शब्द में कहलाता है सन्निकर्ष । कहीं भी जब इंद्रिय के साथ द्रष्टव्य पदार्थ का संबंध होता है, तभी उस पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है । घट के साथ जब आंख जुटती है तब 'यह घड़ा है' ऐसा ज्ञान होता है यद्यपि सन्निकर्ष लौकिक और अलौकिक इस रूप में दो प्रकार हैं, किंतु यहां मूल-कार अन्नंभट्ट ने जिन सन्निकर्षों का उल्लेख किया है वे सभी लौकिक ही हैं अलौकिक नहीं । अतः अलौकिक सन्निकर्षों का भी परिचय यहां दे दिया जाय तो अच्छा होगा । अलौकिक सन्निकर्ष के प्रभेद तीन हैं सामान्य-लक्षण, ज्ञान लक्षण और योगज । लक्षण शब्द को प्रकृत में स्वरूपवाची मानने पर 'सामान्य-लक्षण' शब्द का अर्थ होता है सामान्यस्वरूप सन्निकर्ष । इसकी मान्यता का प्रयोजन यह है कि किसी एक घट से चक्षु संयुक्त होने पर 'अयंघटः' अर्थात् यह घड़ा है इस प्रकार उस खास घड़े का प्रत्यक्ष हो जाने पर सभी देखे अनदेखे घड़ों का जो 'घटाः' ऐसा ज्ञान होता है, वह उपपन्न हो सके । सामान्य स्वरूप सन्निकर्ष को मान्यता दिये बिना उक्त 'घटाः' यह ज्ञान हो सकता नहीं । क्योंकि अतीत और अनागत, व्यवहित और विप्रकृष्ट सभी घटों के साथ आंख का संयोगात्मक लौकिक सन्निकर्ष संभव नहीं । सामान्य लक्षण सन्निकर्ष की मान्यता पक्ष में उक्त सकल घट विषयक 'घटाः' यह ज्ञान इसलिए सम्पन्न हो पाता है कि जिस एक घट के साथ आंख जुटती है उसमें रहने वाला घटत्व सामान्य उन अतीत और अनागत, व्यवहित और विप्रकृष्ट सभी घटों में विद्यमान होता है । फलतः स्वसम्बद्ध एक घट में विद्यमान घटत्वात्मक सामान्य लक्षण आंख का सन्निकर्ष सभी घटों में रह जाता है । ज्ञान-लक्षण सन्निकर्ष की मान्यता इसलिए आवश्यक होती है कि दूरवर्ती चंदन खंड के साथ यहां आंख का संयोगात्मक सन्निकर्ष तो होता है किंतु चंदन गत सौरभ के साथ नाक का संयुक्त समवाय सन्निकर्ष होता नहीं वहां भी केवल आंख से 'वह चंदन सुगंधित है' इस प्रकार चंदन सौरभ का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता हुआ पाया जाता है । इस ज्ञान का संपादन ज्ञान-लक्षण सन्निकर्ष को मान्यता दिये बिना हो पाता नहीं । क्योंकि अन्यत्र मान्य लौकिक सन्निकर्षों के सहारे गंध ग्रहण कराने का सामर्थ्य आंख में है नहीं । अन्यथा कहीं भी गंध प्रत्यक्ष के लिए नाक की मान्यता नहीं हो पायेगी । प्रकृत दूरवर्ती चंदन खंड के स्थल में नाक के साथ गंध का लौकिक सन्निकर्ष भी नहीं, कि नाक के सहारे उक्त प्रकार सौरभ प्रत्यक्ष सम्पन्न किया जा सके । ज्ञानलक्षणात्मक अलौकिक सन्निकर्ष को मान्यता देने पर उक्त 'सुरभिचन्दनम्' यह चंदन गत सौरभ-प्रत्यक्ष इसलिए अनायास उपपन्न होता है कि चंदन अंश में आंख का संयोगात्मक सन्निकर्ष और प्रागानुभूत चंदन-सौरभ-स्मरणात्मक ज्ञान-लक्षण सन्निकर्ष इन दोनों

लौकिक और अलौकिक सन्निकर्षों की विद्यमानता वहां रहती है। ये दोनों लौकिक और अलौकिक सन्निकर्ष चंदन और सौरभ इन दोनों विषयों के साथ आंख को जोड़ देते हैं। सन्निकर्ष का अभाव नहीं रह पाता है। तीसरा अलौकिक सन्निकर्ष माना गया है 'योगज'। यह होता है योगानुष्ठान जनित पुण्य-स्वरूप। इस अलौकिक सन्निकर्ष के बल से योगी अतीत अनागत और व्यवहित विप्रकृष्ठ सभी वस्तुओं को करामलकवत् देखते हैं ऐसा विश्वास 'योगज' को भी एक अलौकिक सन्निकर्ष मानने वालों को है। इन अलौकिक सन्निकर्षों का दिग्दर्शन यहां उपस्थित किया गया है। क्योंकि जिनके अंदर एक-एक के लिए स्वतंत्र ग्रंथ प्राप्त होता है उनका पूर्ण विवेचन थोड़े शब्दों में संभव नहीं।

पूर्व उक्त लौकिक सन्निकर्षों के अंदर संयोग होता है सन्निकर्ष द्रव्य के प्रत्यक्ष के लिए, यह मूलकार ने स्वयं कहा है। इसका कारण यह है कि जिन दो द्रव्यों के बीच अवयवायवविभाव होता नहीं, उन दोनों का आपसी संबंध संयोग हो पाता है। आंख भी द्रव्य और घट भी द्रव्य और इन दोनों के बीच अवयवायवविभाव भी विद्यमान नहीं इसलिए इंद्रियात्मक आंख का द्रष्टव्य घट के साथ संयोग संबंध भली भांति हो पाता है। अन्य संयुक्त-समवाय आदि की सन्निकर्षता का कारण मूलकार ने स्वयं बतलाया है। अब यहां प्रश्न यह एक उपस्थित होता है कि संयोग, संयुक्त-समवाय और संयुक्त-समवेत-समवाय इन तीनों सन्निकर्षों के बीच अंतिम संयुक्त-समवेत-समवाय मात्र ही क्यों न माना जाय? क्योंकि संयोग और संयुक्त-समवाय इन दोनों का स्थान भी अकेला संयुक्त-समवेत-समवाय भली भांति ले सकता है। कपालिका को चक्षुस्संयुक्त और कपाल को चक्षुस्संयुक्त-समवेत पद से ग्रहण कर लेने पर घड़े में चक्षुस्संयुक्त-समवेत-समवाय सन्निकर्ष अनायास जा सकता है। फिर आंख और घड़े के बीच होने वाले संयोग को क्यों प्रत्यक्षजनक सन्निकर्ष माना जाय? इसी प्रकार कपाल को चक्षुस्संयुक्त रूप से ग्रहण करने पर संयुक्त-समवेत-समवाय अनायास घटरूप के साथ आंख का सन्निकर्ष बन जायेया, उसके सहारे घटरूप आदि का प्रत्यक्ष बन ही जायेगा फिर संयुक्त समवाय को भी सन्निकर्ष क्यों माना जाय? तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि संयोग सन्निकर्ष न मानने पर आत्मा का मानस प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा और संयुक्त-समवाय को सन्निकर्ष न मानने पर आत्मगत सुख दुःख आदि का प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा। क्योंकि आत्मा की निरवयवता के कारण उसका अवयवावयव भी हस्तगत नहीं होगा इसलिए आत्मा में मन का संयुक्त-समवेत समवाय सन्निकर्ष जा पायेगा और न आत्मगत ज्ञान सुख दुःख आदि में। संयोग और संयुक्त-समवाय को सन्निकर्ष मानने पर उक्त अनुपपत्तियां इसलिए नहीं हो पाती

हैं कि आत्मा के साथ मन का संयोग सन्निकर्ष हो जाता है और ज्ञान आदि के साथ संयुक्त-समवाय।

'बीचीतरंगन्यायेन कदम्बमुकुल-न्यायेन वा' यहां पर प्रथम पक्ष को छोड़कर द्वितीय पक्ष का आदर इसलिए किया गया है कि एकत्र उत्पद्यमान शब्द सभी ओर सुनाई देता है जो कि बीची तरंग के दृष्टांत से सिद्ध नहीं हो पाता। क्योंकि तरंग की एक मात्राभिमुखता प्रसिद्ध है। कदम्बमुकुल दृष्टान्त इसलिए उपयुक्त होता है कि कदम्ब केसर सभी ओर होते हैं। अब यहां प्रश्न यह उपस्थित किया जा सकता है कि जब कान आकाश स्वरूप ही मान्य है तब कान के साथ शब्द का संबंध स्थापन करने के लिए शब्द-धारा मानने की क्या आवश्यकता बतलायी जा सकती है? इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि कोई भी शब्द उत्पन्न कभी एवं कहीं भी क्यों न हो वह उत्पन्न होगा आकाश में ही। तदनुसार कोई भी शब्द किसी के लिए अश्रुत नहीं होना चाहिए। क्योंकि सभी के कर्ण एक-आकाश स्वरूप ही होंगे। अतः कर्णविवरावच्छिन्नआकाशानुयोगिक-समवाय को ही शब्द-ग्राहक सन्निकर्ष मानना होगा, परन्तु यह सन्निकर्ष दूरोत्पन्न शब्द के साथ बन नहीं पायेगा, जब तक उत्पत्ति स्थल से लेकर श्रोता के कर्ण-विवर तक एक से दूसरे की उत्पत्ति के क्रम से शब्द-धारा न मानी जाय। इसलिए शब्द-धारा माननी ही होगी। अभाव-प्रत्यक्ष-स्थल में सन्निकर्ष होता है विशेषण-विशेष्य-भाव यह मूल ग्रंथ में कहा गया है। यहां 'भाव' शब्द का विवक्षित अर्थ होगा धर्म। तदनुसार विशेषण-भाव का अर्थ होगा 'विशेषणता' और विशेष्य-भाव का अर्थ होगा 'विशेष्यता' ये दोनों पृथक्-पृथक् स्थलों में सन्निकर्ष होंगें। केवल विशेषणता या विशेष्यता सन्निकर्ष रूप से मान्य नहीं हो सकती अतः उक्त पंचविध-सन्निकर्षों के साथ जोड़कर संयुक्त-विशेषणता, संयुक्त-समवेत-विशेषता, संयुक्त-समवेत-समवेत-विशेषणता, समवेत-विशेषणता, समवेत-समवेत-विशेषणता, एवं एतदतिरिक्त एक श्रोत्रावच्छिन्न विशेषणता, इन्हें अभाव-प्रत्यक्ष के लिए अपेक्षित सन्निकर्ष समझना चाहिए। इसी प्रकार विशेष्यता को भी संयुक्त-विशेष्यता, संयुक्त-समवेत-विशेष्यता, संयुक्त-समवेत-समवेत-विशेष्यता, समवेत-विशेष्यता, समवेत-समवेत-विशेष्यता इस प्रकार विभिन्न बना लेना चाहिए। द्रव्यात्मक आधार में विधेय किसी अभाव के प्रत्यक्षस्थल में अभाव के साथ इंद्रिय का सन्निकर्ष जिसे अपर शब्द में प्रत्यासत्ति भी कहा जाता है, होता है 'संयुक्त-विशेषणत्व' यथा 'घटाभाववद्भूतलम्' अर्थात् भूतल घटाभाव-युक्त है' इस भूतलाधिकरणक घटाभाव-प्रत्यक्ष की सम्पाद्यता के स्थल में आंख से संयुक्त होगा भूतल और उसमें विशेषण अर्थात् विद्यमान होगा घटाभाव, इसलिए आंख की संयुक्त-विशेषणता जायेगी घटाभाव में। द्रव्य में समवाय संबंध से रहने वाले

गुण क्रिया आदि को आधार रूप में लेकर उनमें यदि किसी भी अभाव का प्रत्यक्ष विधेय होगा तो वहां उस ग्राह्य अभाव के साथ इंद्रिय का 'संयुक्त-ससवेत-विशेषणत्व' नामक सन्निकर्ष होगा। जैसे घट में रहने वाले रूप के ऊपर यदि किसी भी अभाव का प्रत्यक्ष किया जाय, अर्थात् 'घटरूपं घटाभाववत्' घड़े का रूप घटाभाव-युक्त है इस प्रकार यदि प्रत्यक्ष किया जाय तो आंख से संयुक्त होगा घट, उसमें समवाय संबंध से रहने वाला होगा उसका रूप, और उस रूप में विशेषण होगा घटाभाव। इसलिए ऐसी परिस्थिति में संयुक्त-समवेत-विशेषणता नामक सन्निकर्ष होगा। यदि किसी भी द्रव्य-समवेत-समवेत पदार्थ में किसी अभाव का प्रत्यक्ष विधेयहोगा तो 'संयुक्त-समवेत-समवेत-विशेषणता' नामक सन्निकर्ष अपेक्षित होगा। जैसे घटरूपत्वं घटाभाववत् अर्थात् घट के रूप में रहने वाला रूपत्व घटाभाव: युक्त है इस प्रकार प्रत्यक्ष-स्थल में आंख से संयुक्त होगा घट, उसमें समवेत होगा घटका रूप और उसमें समवेत होगा रूपत्व, उस रूपत्व में विशेषण होगा घटाभाव, इसलिए वहां संयुक्त-समवेत-समवेत-विशेषणता नामक सन्निकर्ष काम में आयेगा। आकाशात्मक कान में समवाय संबंध से रहने वाले शब्द को आधार बनाकर यदि उसमें किसी भी अभाव का प्रत्यक्ष विधेय होगा तो 'समवेत-विशेषणता' नामक सन्निकर्ष अपेक्षित होगा। जैसे 'शब्दोघटाभाववान्' शब्द घटाभाव युक्त हैं, इस प्रकार प्रत्यक्ष-स्थल में समवेत-विशेषणता सन्निकर्ष इसलिए अपेक्षित होता है, कि कान में समवेत होता है शब्द और उसमें विशेषण होता है घटाभाव। शब्दत्व में किसी भी अभाव के प्रत्यक्ष की विधेयता के स्थल में फलत: 'शब्दत्वं घटाभाववत्' अर्थात्, शब्दत्व घटाभाव युक्त है, इत्यादि प्रत्यक्ष की विधेयता स्थल में सन्निकर्ष रूप से अपेक्षित होती है 'समवेत-समवेत-विशेषणता'। क्योंकि कान में समवेत होने वाले शब्द में समवेत होगा शब्दत्व और उसमें विशेष होगा घटाभाव। शब्दाभाव का प्रत्यक्ष होता है—'श्रोत्रावच्छिन्न विशेषणता' सन्निकर्ष से। यह इसलिए कि श्रोत्रावच्छिन्न आकाश में शब्दाभाव विशेषण होता है, विशेषणता उस पर आती है। दीपिका में 'भूतलेघटो नास्ति' इत्यादि कथन द्वारा 'विशेष्यता' सन्निकर्ष का दिग्दर्शन कराया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि उक्त विशेषणता सन्निकर्ष के जितने प्रभेद होगें, विशेष्यता सन्निकर्ष के भी प्रभेद ठीक उतने ही होगें। इसे यों समझना चाहिए कि जहां किसी भी अभाव में द्रव्य-वृत्तिता का प्रत्यक्ष किया जायेगा, वहां संयुक्त-विशेष्यतात्मक सन्निकर्ष होगा अपेक्षित। जैसे 'घटाभावो भूतले' अर्थात् घटाभाव भूतल वृत्ती है, भूतल में रहने वाला है, इस प्रकार होने वाले प्रत्यक्ष स्थल में घटाभाव होगा विशेष्य और भूतल होगा विशेषण। ऐसी परिस्थिति में आंख से संयुक्त होने वाले भूतल का विशेष्य होने के कारण घटा-

भाव में आंख का संयुक्तविशेष्यता संबंध उपपन्न होगा, अतः वही सन्निकर्ष होगा। यदि किसी भी अभाव में द्रव्य-समवेत-वृत्तिता का मान किया जायगा तो वहां 'संयुक्त-समवेत-विशेष्यता' संबंध सन्निकर्ष रूप में प्रत्यक्ष का निष्पादक होगा। जैसे 'भूतल रूपे घटाभावः' अर्थात् भूतल के रूप पर घटाभाव है 'इस प्रकार किये जाने वाले प्रत्यक्ष स्थल में 'संयुक्त-समवेत-विशेष्यता को सन्निकर्षता इसलिए होगी कि आंख से संयुक्त होगा भूतल, उसमें समवेत होगा उसका रूप, जो कि आधेयता संबंध से विशेषण होगा घटाभाव पर, अतः आंख का संयुक्त-समवेत-विशेष्यता सन्निकर्ष द्रष्टव्य घटाभाव के साथ होगा। इसी प्रकार 'घटरूपत्वे घटाभावः' अर्थात् घट के रूपगत रूपत्व में घटाभाव है इस प्रकार प्रत्यक्ष-स्थल में संयुक्त-समवेत-समवेत-विशेष्यता, 'शब्दे घटाभावः' यहां समवेत-विशेष्यता, 'शब्दत्वे घटाभावः' यहां समवेत, समवेत-विशेष्यता, 'श्रोत्रे शब्दाभावः' यहां पर श्रोत्रावच्छिन्न-विशेष्यता को सन्निकर्षता होगी। विशेष्यता सन्निकर्ष की लड़ी यहां ही समाप्त नहीं होगी, विभिन्न परिस्थिति में 'संयुक्त-विशेष्य-विशेष्य-विशेष्यता, संयुक्त-समवेत-विशेष्य-विशेषता, आदि को भी अभाव-विशेष्यक प्रत्य क्ष का संपादक मानना होगा। जैसे 'भूतलवृत्तिघटाभावे घटाभावः' इस प्रत्यक्ष-स्थल में आंख से संयुक्त होगा भूतल, उसका विशेष्य होगा घटाभाव और उसका फिर विशेष्य होगा घटाभाव। भूतल रूपगत घटाभावे घटाभावः' ऐसे प्रत्यक्ष स्थल में आंख से संयुक्त होगा भूतल, उसमें समवेत होगा रूप, उसका विशेष्य होगा घटाभाव और उसका फिर विशेष्य होगा घटाभाव। इसलिए ग्राह्य अंतिम घटाभाव के साथ आंख का 'संयुक्त-समवेत विशेष्य-विशेष्यता' सन्निकर्षता होगी। इसी प्रकार 'संयुक्त-समवेत-समवेत-विशेष्य-विशेष्यता' 'समवेत-विशेष्य-विशेष्यता, समवेत-समवेत-विशेष्य-विशेष्यता, श्रोत्रावच्छिन्न-विशेष्य-विशेष्य-विशेष्यता, आदि को भी प्रातीतिक परिस्थिति-विशेष के अनुसार सन्निकर्ष समझना होगा। केवल विशेष्यता सन्निकर्ष का ही यह दोमंजिला तिमंजिला विस्तार होगा यह बात नहीं। उक्त विशेषणता सन्निकर्ष का भी विस्तार इसी प्रकार होगा। उसे भी संयुक्त-विशेषण-विशेषणता, संयुक्त-समवेत-विशेषण-विशेषणता आदि क्रम से विस्तार ज्ञातव्य है। मीमांसक आदि कुछ दार्शनिक अभाव को समझने के लिए स्वतंत्र रूप से अनुपलब्धि को प्रमाण मानते हैं परंतु यहां उक्त प्रकार विशेष्य-विशेषण-भाव की सन्निकर्षता मान्य होने के कारण अनुपलब्धि को प्रत्यक्ष का सहायक मानने हुए भी स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानना है, इसका स्पष्टीकरण उपस्थापित हुआ है दीपिका में 'एतेन' इत्यादि के द्वारा 'एतेन' का अभिप्रेत अर्थ है अभावों का प्रत्यक्ष, विशेष्य-विशेषण-भाव सन्निकर्ष के द्वारा उपपन्न हो जाने के कारण। 'यद्यत्रघटोऽभविष्यत्' इत्यादि के द्वारा यह बतलाया गया है कि अनुप-

लब्धि अभाव-ग्रह के लिए सर्वथा अनपेक्षित है यह नहीं कहना है। अभाव ग्राहक इंद्रियों के सहायक रूप में अनुपलब्धि न्याय वैशेषिक मत में भी अपेक्षणीय है। प्रतिवाद केवल उसकी प्रमाणता के संबंध में है। साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि 'यद्यत्रघटोऽभविष्यत्' इत्यादि के द्वारा वह तर्क उपस्थित किया गया है जिससे तर्कित प्रतियोगि सत्ता की विरोधिनी होती है अनुपलब्धि। कुछ लोग यहां तर्कित का अर्थ करते हैं आरोपित, तदनुसार दीपिकागत 'तर्कित प्रतियोगिसत्वविरोध्यनुपलब्धः' इसका अर्थ प्राप्त होता है आरोपित जो प्रतियोगी का सत्व, अर्थात् अस्तित्व, उसकी जो प्रसक्ति अर्थात् ज्ञान, तद्विरोधिनी जो अनुपलब्धि, उसकी विद्यमानता के कारण। न्याय वैशेषिक मत में अभाव-ग्रह के लिए यदि अनुपलब्धि को सहायक भी न माना जाय, तो अंधेरे में भी घटाभाव आदि का प्रत्यक्ष आपन्न हो उठेगा, जो कि किसी के द्वारा किया जाता नहीं। अतः 'यहां यदि घट होता तो वह आधार भूतल के समान अवश्य देखा जाता, किंतु देखा जाता नहीं, इसलिए घट यहां है नहीं इस प्रकार अनुपलब्धि सहकृत चक्षु से घटाभाव को प्रत्यक्ष होता है यह मान्य है। अनुपलब्धि की प्रमाणता के विपक्ष में एक प्रबल युक्ति यह है कि घटाभाव के ग्राहक प्रमाण रूप से मान्य घटानुपलब्धि भी तो घटोपलब्धि का अभाव ही होगा, अतः उसके ग्रहणार्थ भी अन्य अनुपलब्धि प्रमाणरूप से मान्य होगी और उसे मान्यता देने पर वह मान्य अनुपलब्धि भी अन्य अनुपलब्धि का अभाव होगी अतः उसके ज्ञानार्थ फिर तीसरी अनुपलब्धि प्रमाण रूप से मान्य होगी। इस प्रकार अनवस्था आपन्न होगी।

प्रत्यक्ष परिच्छेद समाप्त।

अनुमान परिच्छेद

तर्क-संग्रह

अनुमिति करणमनुमानम् । परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः ।

अनुवाद

अनुमिति के प्रति कारण होने वाला कहलाता है अनुमान। परामर्श से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है अनुमिति ।

दीपिका

अनुमानं लक्षयति अनुमितीति । अनुमितेर्लक्षणमाह परामर्शेति ।

अनुवाद

अनुमान का लक्षण करते हैं अनुमिति इत्यादि के द्वारा और अनुमिति का लक्षण करते हैं 'परमार्शजन्य' इत्यादि के द्वारा ।

विवरण

प्रत्यक्ष निरूपण के अनन्तर अनुमान का निरूपण 'उपजीवकत्व' संगति प्रयुक्त किया जा रहा है । उपजीवकत्व का अर्थ है कार्यत्व । अनुमान तब तक हो नहीं सकता जब तक साध्य हेतु और दोनों के बीच होने वाला व्याप्य-व्यापक-भाव नहीं प्रत्यक्ष हो जाता है । 'पर्वतोवह्निमान्' अर्थात् पर्वत अग्नियुक्त है इस प्रकार होने वाली अनुमिति का जनक व्याप्तिज्ञानात्मक अनुमान तब तक नहीं हो सकता, जब तक धृम का प्रत्यक्ष न हो जाय, इसलिए घूम के प्रति प्रत्यक्ष प्रमाण भूत इन्द्रिय व्याप्तिज्ञानात्मक अनुमान के प्रति कारण होता है, तदनुसार अनुमान उसका कार्य हो जाता है । इसलिए धूम प्रत्यक्ष निरूपित 'कार्यत्व' संगति अनुमान में प्राप्त होने के कारण प्रत्यक्ष निरूपण के अव्यवहित उत्तर किये जाने वाले अनुमान निरूपण को असंगताभिधान नहीं कहा जा सकता । प्रत्येक अनुमितिस्थल में एक पक्ष एक साध्य और एक हेतु का होना अनिवार्य है । जिस आधार में किसी का साधन किया जाता है वह कहलाता है 'पक्ष' । जैसे 'पर्वतो-वह्निमान्-धूमात्' इस अनुमान स्थल में पर्वत होता है पक्ष । क्योंकि उसी में आग की सिद्धि की जाती है । साध्य वह कहलाता है, जिसकी सिद्धि उक्त प्रकार पक्ष में की जाती है । जैसे उक्त 'पर्वतोवह्निमान् धूमात्' इस अनुमान स्थल में साध्य होती है आग । क्योंकि पर्वतात्मक पक्ष में उसी की तो सिद्धि की जाती

है ? उक्त प्रकार पक्ष में उक्त प्रकार साध्य की सिद्धि जिसके सहारे की जाती है, वह कहलाता है हेतु अथवा साधन। जैसे 'पर्वतोवह्निमान धूमात्' यहां पर धूम होता है हेतु। क्योंकि देखे जाने वाले धूम के सहारे ही पर्वतात्मक पक्ष में अग्नि स्वरूप साध्य की सिद्धि हो पाती है। यद्यपि इन सब का विवेचन आगे होने वाला है किंतु अनुमान विचार के प्रारम्भ में ही संक्षिप्त रूप में इन सबको हृदयंगत कर लेना अति आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यह भी समझ लेना आवश्यक है कि जो व्यक्ति पहले किसी एक स्थान पर हेतु और साध्य दोनों को देख लेता है वही पक्ष में पश्चात् हेतु को देख कर पहले 'साध्य व्याप्यो हेतुः' अर्थात् हेतु साध्य का व्याप्य है ऐसा स्मरणात्मक ज्ञान करता है यही कहलाता है व्याप्ति ज्ञान। तदनन्तर उत्तर क्षण में 'साध्यकाप्यहेतुमान् पक्षः' अर्थात् पक्ष साध्य के व्याप्य भूत धूम से युक्त है इस प्रकार ज्ञान होता है। यह कहलाता है 'परामर्श' तदनन्तर 'पक्षः साध्यवान्' अर्थात् पक्ष साध्य युक्त है ऐसा ज्ञान उस व्यक्ति को हो जाता है। वही ज्ञान कहलाता है 'अनुमिति' यही होता है फल। इस निर्वचन के अनुसार 'पर्वतोवह्निमान् धूमात्' यहां पर 'वह्निव्याप्योधूमः' यह स्मरणात्मज्ञान होगा व्याप्ति ज्ञान। तदनन्तर 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' इस प्रकार होने वाला ज्ञान कहलायेगा परामर्श। तदनन्तर 'पर्वतोवह्निमान्' यह अनुमिति होगी। इस अनुमान प्रक्रिया को कुछ अनुमान स्थलों में पहले हृदयंगम कर लेना चाहिए। अनुमिति के अव्यवहित पूर्व होने वाला परामर्श-ज्ञान अनुमिति के प्रति व्यापार रूप से कारण होता है। व्यापार का लक्षण है 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्' अर्थात् करणजन्य होते हुए करण जन्य फल के प्रति जनक होना। परामर्श ज्ञान व्याप्तिज्ञान-जन्य भी है और व्याप्तिज्ञान-जन्य होने वाली अनुमिति के प्रति जनक भी, अतः उक्त निर्वचन के अनुसार वह व्याप्तिज्ञानात्मक अनुमान और अनुमित्यात्मक प्रमा इन दोनों के बीच होने वाला व्यापार होता है। करण के लक्षण में 'सव्यापारता' निविष्ट होने के कारण अनुमिति के प्रति करण, परामर्श न होकर व्याप्ति-ज्ञान ही होता है। व्याप्ति-ज्ञान परामर्श को लेकर व्यापारवान् भी होता है और फलभूत अनुमिति के प्रति असाधारण कारण भी। अतः अनुमिति-करण लक्षण व्याप्तिज्ञान में उपपन्न होने के कारण अनुमिति-करणता स्वरूप अनुमानता व्याप्तिज्ञान में ही बन पाती। फलतः जो लोग करण-लक्षण में सव्यापारता का निवेश मानते नहीं कार्य के प्रति असाधारण रूप से कारण होने वाले को ही करण मानते उनके मत में परामर्श ही अनुमिति का करण होगा, वही अनुमान कहलायेगा। मलकार अन्नंभट्ट इसी मत को मान्यता देते देखे जाते हैं। क्योंकि आगे चलकर उन्होंने स्पष्ट रूप से यह कहा है कि 'तस्माल्लिंगपरामर्शोऽनुमानम्'। 'परामर्शजन्यं' इत्यादि मूलग्रंथ से 'परामर्शजन्यत्वे सति ज्ञानत्वं अनु-

मितित्वम्' यह अनुमिति का निर्वचन प्राप्त होता है। यहां केवल 'ज्ञानत्वं अनुमितित्वम्' ऐसा कहने पर प्रत्यक्ष आदि प्रमितिओं में अनुमिति-लक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न होगी और केवल 'परामर्शजन्यत्वं अनुमितित्वम्' ऐसा निर्वचन अनुमिति का मान्य होने पर परामर्शध्वंस में अनुमितिलक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न होगी। क्योंकि ध्वंस के प्रति प्रतियोगी भी कारण मान्य होने के कारण परामर्शजन्यत्व परामर्शध्वंस में भी सम्पन्न हो जाता है। ज्ञान कहने पर ध्वंस में अनायास अतिव्याप्ति इसलिए हो जाती है कि अभावात्मक ध्वंस भावात्मक ज्ञान कभी नहीं हो सकता

दीपिका

ननु संशयोत्तरप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिः। स्थाणुपुरुषसंशयानन्तरं पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयमिति परामर्शे सति पुरुष एवेति प्रत्यक्षजननात्। न च तत्रानुमितिरेवेति वाच्यम्; पुरुषं साक्षात्करोमीत्यनुव्यवसायविरोधात् इति चेन्न। पक्षतासहकृत-परामर्शजन्यत्वस्य विवक्षितत्वात्। सिषाधयिषाविरहसहकृतसिद्ध्यभावः पक्षता। साध्यसिद्धिरनुमितिप्रतिबन्धिका, सिद्धिसत्त्वे अनुमिनुयामितीच्छायामनुमितिदर्शनात् सिषाधयिषा उत्तेजिका। ततश्चोत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावस्य कारणत्ववत् सिषाधयिषाविरहसहकृतसिद्ध्यभावस्यापि अनुमिति-कारणत्वम्।

अनुवाद

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि संशय के अनन्तर होने वाले प्रत्यक्ष में अतिव्याप्ति आपन्न हो रही है। क्योंकि 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' अर्थात् यह स्थाणु है या मनुष्य' इस प्रकार संशय के उत्तर 'पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयम्' यह मानवत्व के प्रति व्याप्यभूत हस्तपादादि से युक्त है इस प्रकार परामर्श होने पर 'अयं पुरुषः' यह मनुष्य है, इस प्रकार प्रत्यक्ष होता है। वहां होने वाला 'अयं पुरुषः' यह पुरुष ही है यह ज्ञान अनुमानात्मक ही होता है यह बात नहीं कही जा सकती। क्योंकि उक्त ज्ञान के अनन्तर 'पुरुषं साक्षात्करोमि' अर्थात् मैं मनुष्य का प्रत्यक्ष कर रहा हूँ' इस प्रकार जो अनुव्यवसायात्मक ज्ञान होता है, तत्कर्तृक विरोध प्राप्त होगा। तो यह इसलिए नहीं कहा जा सकता कि 'पक्षता-सहकृत-परामर्शजन्यत्वे सति ज्ञानत्व' अनुमिति लक्षण रूप से विवक्षित है। सिषाधयिषा के अभाव से सहकृत होने वाली सिद्धि का अभाव है पक्षता। साध्य की सिद्धि होती है अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धक। सिद्धि के रहने पर भी 'अनुमिनुयाम्' मैं अनुमिति करूं ऐसी इच्छा होने पर यतः अनुमिति होती हुई पायी जाती है, अतः सिषाधयिषा को उत्तेजक मानना होगा। तब दाह के प्रति उत्तेजकाभाव विशिष्ट-

मण्य भाव के समान अर्थात् सूर्यकान्त-मण्यभाव-विशिष्ट-चन्द्रकान्तमण्यभाव के समान सिषाधयिषा-विरहसहकृत-सिद्ध्यभाव को अनुमिति के प्रति कारणत्व है।

विवरण

'ननु संशयोत्तर प्रत्यक्षे' इत्यादि के द्वारा अनुमितिलक्षण में अतिव्याप्ति की शंका उठायी गयी है। प्रश्न का आशय यह है कि जब कोई व्यक्ति अल्प अंधकार में किसी ऊंची वस्तु को देखकर यह स्थाणु है या मनुष्य ? इस प्रकार संदेह करके इस प्रकार समझता है कि यह मनुष्य मात्र को होने वाले हाथ पांव आदि अंगों से युक्त है, तो अव्यवहित उत्तर क्षण में 'यह मनुष्य ही है' यह प्रत्यक्षात्मक निर्णय उस द्रष्टा को होता है अनुमित्यात्मक नहीं। क्योंकि उस ज्ञान का परिचय देने वाला अनुव्यवसाय ज्ञान 'पुरुषंसाक्षात्करोमि' अर्थात् मनुष्य का साक्षात्कार कर रहा हूं ऐसा ही होता है 'पुरुषं अनुमिनोमि' 'मैं मनुष्य का अनुमान कर रहा हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय होता नहीं। ऐसी परिस्थिति में उक्त 'यह मनुष्य ही है' इस प्रकार होने वाले प्रत्यक्ष में अनुमिति-लक्षण की अतिव्याप्ति की अतिव्याप्ति आपन्न होती है। क्योंकि उससे अव्यवहित होने वाले 'पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयम्' यह मानव को ही होने वाले हाथ पांव आदि से युक्त है यह ज्ञान परामर्श रूप ही होता है और उसके अव्यवहित उत्तर होने वाला 'यह पुरुष ही है' यह ज्ञान उस परामर्श से जन्य अर्थात् उत्पन्न होने वाला होता ही है। उत्तर-ग्रंथ का आशय यह है कि केवल 'परामर्शजन्यत्व' अनुमिति का लक्षण नहीं विवक्षित है किंतु 'पक्षतासहकृत-परामर्शजन्य ज्ञानत्व'। उक्त प्रत्यक्ष में पक्षता-सहकृत-परामर्शजन्यत्व जाता नहीं इसलिए अतिव्याप्ति वारित हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि पक्षता अनुमिति के प्रति ही कारण रूप से मान्य है प्रत्यक्ष के प्रति नहीं इसलिए उक्त प्रत्यक्ष के प्रति कारण होने वाले परामर्श को पक्षता का साहाय्य नहीं प्राप्त होता है। इस पर यदि यह कहा जाय कि आगे चलकर 'सिषाधयिषाविरहसहकृत-सिद्ध्यभाव है पक्षता' यही पक्षता का निर्वचन किया जाने वाला है, तदनुसार पक्षता भी उक्त प्रत्यक्ष के अव्यवहित पूर्व अवश्य रहेगी। क्योंकि उक्त 'यह मनुष्य है' इस प्रत्यक्ष के अव्यवहित पूर्व 'यह मनुष्य है' एतन्निश्चयात्मक सिद्धि रहती नहीं। यतः स्थाणु है या मनुष्य इस प्रकार संदेह ही रहता है। ऐसी परिस्थिति में पक्षता वहां रहती नहीं यह या यह नहीं कहा जा सकता कि परामर्श को उसका साहाय्य नहीं प्राप्त होता है। तो इसके विरुद्ध वक्तव्य यह समझना चाहिए कि कल्पना नियमतः फलानुसारिणी हुआ करती है। जबकि यह निश्चित है कि उक्त परिस्थिति में प्रत्यक्ष ही होता है अनुमिति होती नहीं तो इस फलस्थिति को देखते हुए यह कल्पना उचित ही होगी कि परामर्श को पक्षता का साहाय्य प्राप्त

होता नहीं, इसलिए अनुमिति होती नहीं। एकत्र विद्यमान दो के बीच नियमतः सर्वत्र सहायकता प्राप्त होती ही है ऐसा नियमित रूप से देखा जाता नहीं। 'पक्षतासहकृतपरामर्शजन्यत्व' के अंदर पक्षता क्या है ? इस जिज्ञासा के निराकरणार्थ कहा जा रहा है 'सिषाधयिषाविरह' इत्यादि। साध्य सिद्धि की इच्छा कहलाती है सिषाधयिषा, उसका जो विरह अर्थात् अभाव, तादृश अभाव से विशिष्ट अर्थात् युक्त जो सिद्धि अर्थात् साध्य का निश्चय, उसका अभाव है पक्षता, यह 'सिषाधयिषाविरह' इत्यादि का अर्थ ज्ञातव्य है। पक्षता की इस व्याख्या के अनुसार 'पर्वतोवह्निमान्' अर्थात् पर्वत अग्नियुक्त है इस अनुमिति स्थल में 'वह्न्यनुमितीच्छाविरहविशिष्ट-पर्वतधर्मिकवह्नि' निश्चयाभाव होगा पक्षता। साध्यनिश्चयात्मक सिद्धि में सिषाधायिषा-विरह का वैशिष्ट्य स्वरूप-समवाय-घटित सामानाधिकरण्य संबंध से विवक्षित ज्ञातव्य है। कहने का तात्पर्य यह कि इच्छात्मक सिषाधयिषा का अभाव रहेगा आत्मा में स्वरूप संबंध से और साध्य-निश्चयात्मक सिद्धि रहेगी उसी आत्मा में समवाय संबंध से, इसलिए स्वरूप संबंध से सिषाधयिषाविरहाधिकरण-निरुपित समवायसम्बन्धावच्छिन्न आधेयतात्मक सामानाधिकरण्य संबंध से सिषाधयिषाविरह साध्यनिश्चयतात्मक सिद्धि पर जा बैठेगा, अतः सिद्धि, सिषाधयिषाविरहविशिष्ट कहला पायेगी। और उस सिद्धि का अभाव पक्षता कहला पायेगा। पक्ष में होने वाला साध्य का निश्चय कहलाता है सिद्धि। वह सिद्धि नियमतः अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धक इसलिए होती है कि जिस व्यक्ति को पक्षात्मक धर्मी में साध्य का निश्चय विद्यमान होगा वह भला फिर उसी पक्ष में उसी साध्य की निर्णयात्मक अनुमिति क्यों करने जायेगा ? क्योंकि पिष्ट-पेषण उचित माना जाता नहीं। प्रतिबन्धक का अभाव कार्य के प्रति कारण होता ही है अतः वह पक्षधर्मिक साध्य-निश्चयाभाव पक्षधर्मिक साध्य-निश्चयात्मक अनुमिति के प्रति कारण होगा ही। अब यहां प्रश्न यह उपस्थापित हो सकता है कि सिद्ध्यभाव मात्र को पक्षता न मानकर सिद्धयभाव घटक सिद्धि के अंश में सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्व विशेषण क्यों दिया जा रहा है ? सारांश यह कि सिद्ध्यभाव मात्र को पक्षता न मान कर सिषाधयिषाविशिष्ट सिद्ध्यभाव को पक्षता क्यों कहा जा रहा है ? अतः इसका उत्तर बतलाते हैं दीपिकाकार' सिद्धिसत्वेपि' इत्यादि के द्वारा। कहने का तात्पर्य यह है कि पक्ष में साध्यनिश्चियात्मक सिद्धि के रहते हुए भी अनुमाता को सिषाधयिषा रहने पर अनुमिति होती है यह अनुभवसिद्ध है। ऐसी परिस्थिति में यदि 'सिद्धयभाव मात्र को पक्षता माना जायगा, तो इसका कुफल यह होगा कि अनुमिति की इच्छा के रहते हुए भी साध्य निश्चय के रहते हुए अनुमिति हो पायेगी नहीं जो कि होती है। सिद्धि में सिषाधयिषा-विरह-विशिष्टत्व विशेषण देने पर यह अनुपपत्ति इसलिए अनायास

वारित हो जायेगी कि उक्त परिस्थिति में सिद्धि और सिषाधयिषा दोनों की विद्यमानता के कारण वहां की सिद्धि सिषाधयिषा-युक्त होगी, सिषाधयिषा-विरह युक्त नहीं। अतः सिषाधयिषा-विरहयुक्त सिद्धि का अभाव रह जायेगा, पक्षता रहेगी, अनुमिति होगी। इसी बात को दृष्टान्त प्रदर्शन के द्वारा सुबोधरूप में बतलाया गया है 'उत्तेजकाभाव' इत्यादि के द्वारा। अग्नि से होने वाले दाह के प्रति चन्द्रकान्त मणि होती है प्रतिबंधक और उसका अभाव इसी लिए होता है कारण। परंतु चन्द्रकान्त मणि स्वरूप प्रतिबन्धक के रहने पर भी यदि वहां सूर्यकान्त मणि उपस्थापित हो, तो फिर दाहकार्य रुकता नहीं, होता ही है। इस प्रकार 'दाहं प्रति चन्द्रकान्तमण्यभावः कारणम्' अर्थात् दाह के प्रति चन्द्रकान्त मणि का अभाव है कारण, यह कार्य कारण भाव व्यभिचरित हो उठता है। अतः इस व्यभिचार के निवारणार्थ दाह के प्रति कारण रूप से मान्य चन्द्रकान्तमण्यभाव के प्रतियोगी चन्द्रकान्त मणि के अभाव से युक्त होना विशेषण देय होता है। इस विशेषण के देने पर व्यभिचार इसलिए निवारित हो जाता है कि उक्त परिस्थिति में सूर्यकान्त मणि और चन्द्रकान्त मणि दोनों की विद्यमानता के कारण चन्द्रकान्त मणि सूर्यकान्त मणि से ही विशिष्ट अर्थात् युक्त हो जाता है। सूर्यकान्त मण्यभाव-विशिष्ट होता नहीं, इसलिए व्यक्ति के रहने पर भी उसके हाथ में दण्ड न रहने के कारण जैसे 'दण्डीनास्ति' दण्ड युक्त व्यक्ति नहीं है, इस प्रकार विशेषणाभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव रह जाती है, तैसे चन्द्रकान्त मणि के रहने पर भी सूर्यकान्तमण्यभावात्मक विशेषण वहां न रहने के कारण सूर्यकान्तमण्यभाव-विशेषित-चन्द्रकान्त मणि रहता नहीं अतः तादृश-चन्द्रकान्त मणि का अभाव रहता है और दाहात्मक उसका कार्य भी होता है। प्रकृत विवेचन स्थल में भी सिद्धि और सिषाधयिषा दोनों के अस्तित्व-स्थल में अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धक भूत सिद्धि के रहते हुए भी सिषाधयिषा की विद्यमानता प्रयुक्त सिषाधयिषा-विरह विशेषण रहता नहीं इसलिए सिषाधयिषा-विरह-विशष्टसिद्ध्यभाव रहता है और अनुमिति भी होती है यह उचित ही है। सिद्धि के अंश में सिषाधयिषा विरह वैशिष्ट्य-दानस्थल का उदाहरण विशेषरूप में यह ज्ञातव्य है कि 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतोवह्निमान्' अर्थात् पर्वत वह्निव्याप्यधूम-युक्त भी है और अग्नियुक्त भी, इस प्रकार सिद्ध्यात्मक परामर्श हो और अगल या बगल में 'मुझे पर्वत में अग्नि की अनुमिति हो' इस प्रकार इच्छा हो तो वहां वस्तुतः होने वाली पर्वत में अग्नि की अनुमिति तब तक नहीं हो पायेगी जब तक सिद्धि में सिषाधयिषा विरह को विशेषण नहीं बनाया जायेगा। क्योंकि प्रतिबन्धक भूत सिद्धि वहां रहेगी, शुद्ध सिद्धि का अभाव वहां रहेगा नहीं। उत्तेजकत्व है 'प्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूताभावप्रतियोगित्व'। दाह-प्रतिबन्धक

चन्द्रकान्त मणि का विशेषण होने के कारण, सूर्यकान्तमण्यभाव होता है प्रति-बन्धकतावच्छेदकभूताभाव, उसका प्रतियोगी होने के कारण सूर्यकान्त मणि होता है उत्तेजक तद्वत् सिषाधयिषा विरह होता है प्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूत अभाव, उसका प्रतियोगी होने के कारण सिषाधयिषा होती है उत्तेजक। इसी अभिप्राय से दीपिका में 'उत्तेजकाभावविशिष्ट' यह कहा गया है।

तर्क संग्रह

व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। यथा वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत इति ज्ञानं परामर्शः। तज्जन्यं पर्वतो वह्निमान् इति ज्ञानमनुमितिः।

अनुवाद

व्याप्तिविषयकपक्षधर्मताज्ञान है परामर्श। जैसे 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' अर्थात् पर्वत अग्नि के प्रति व्याप्य भूत धूम से युक्त है, यह ज्ञान है परामर्श। उससे जन्य अर्थात् उत्पत्तिशील 'पर्वतोवह्निमान्' पर्वत अग्नियुक्त है यह ज्ञान है अनुमिति।

दीपिका

परामर्शं लक्षयति—व्याप्तीति। व्याप्तिविषयकं यत्पक्षधर्मताज्ञानं स परामर्श इत्यर्थः। परामर्शमभिनीय दर्शयति तज्जन्यमिति। परामर्शजन्य-मित्यर्थः।

अनुवाद

परामर्श का लक्षण करते हैं व्याप्ति इत्यादि। व्याप्तिविषयक जो पक्षधर्मता का ज्ञान, वह है परामर्श यह अर्थ हुआ। अभिनयपूर्वक परामर्श का प्रदर्शन करते हैं, अर्थात् परामर्श ज्ञान का स्वरूप प्रदर्शन करते हैं 'यथा' इत्यादि के द्वारा। तज्जन्य का अर्थ है परामर्शजन्य।

विवरण

'व्याप्तिविशिष्टे (हेतौ) या पक्षधर्मता, व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता, तस्याः ज्ञानं व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानम्' इस विग्रह के अनुसार अव्याप्ति-विशिष्ट हेतु में रहने वाली जो पक्षधर्मता उसके ज्ञान को परामर्श कहना कठिन है। क्योंकि ऐसा कहने पर किसी व्यभिचारी हेतु में व्याप्ति का भ्रम करके भ्रमात्मक परा-मर्श से जो भ्रमात्मक अनुमिति होती है वह नहीं हो पायेगी। यतः वहां व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता अप्रसिद्ध हो जायेगी, परामर्श हो नहीं सकेगा। अतः विशिष्ट पद का 'विषयक' यह अर्थ करके व्याप्ति विषय का भिन्न अर्थात् व्याप्ति विष-

यक होने वाला पक्षधर्मताज्ञान है परामर्श ऐसा समझना चाहिए। यह बतलाया गया है 'व्याप्तिविषयकं च तत्' इत्यादि के द्वारा।

तर्क-संग्रह

यत्र यत्र धूमः तत्र तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः।

अनुवाद

जहां जहां धूम रहता है, वहां वहां आग भी रहती है, ऐसा समानाधिकरण्य का नियम है व्याप्ति।

दीपिका

व्याप्तेर्लक्षणमाह—यत्रेति। यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति व्याप्तेरभिनयः। साहचर्यनियम इति लक्षणम्। साहचर्य-सामानाधिकरण्यम् तस्य नियमः हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरित्यर्थः।

अनुवाद

व्याप्ति का लक्षण बतलाते हैं 'यत्र' इत्यादि के द्वारा। यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्निः, अर्थात् जहां जहां धूम रहता है वहां वहां आग भी रहती है यह व्याप्ति-ज्ञान के स्वरूप का प्रदर्शन है। 'साहचर्यनियमः' इस कथन के द्वारा व्याप्ति का लक्षण बतलाया गया है। साहचर्य के सामानाधिकरण्य, उसका नियम है व्याप्ति अर्थात् हेतु के साथ एक आधार में रहने वाले अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी जो साध्य उसके आधार में हेतु का रहना ही है हेतु में साध्य की व्याप्ति।

विवरण

प्रकृत में ज्ञान के स्वरूप को समझाने वाले वचन को 'अभिनय' पद से कहा गया है। 'तत्समानाधिकरण' का अर्थ है 'उसके आधार में रहने वाला' फलतः हेतुसमानाधिकरण अर्थात् हेतु के अधिकरण में रहने वाला, जो अत्यन्ताभाव, उसका अप्रतियोगी अर्थात् उसके प्रतियोगी से भिन्न होने वाला जो साध्य, उसका सामानाधिकरण्य, अर्थात् उसके आधार में हेतु का अस्तित्व है हेतु-गत व्याप्ति। इस निरुक्त व्याप्ति का लक्ष्य अर्थात् आश्रय होता है वही हेतु, जो कि सचमुच सद्धेतु होता है—व्यभिचारी होता नहीं। जो हेतु जहां जहां रहता है वहां वहां यदि उस हेतु का साध्य भी रहता है तो वह हेतु कहलाता है सद्धेतु। और हेतु का कोई आधार यदि ऐसा भी पाया जाता है कि वहां साध्य रहता नहीं तो वह हेतु कहलाता है व्यभिचारी, फलतः असद्धेतु। 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस अनुमान-

स्थल में धूम हेतु होता है सद्धेतु। क्योंकि हेतु रूप से विवक्षित अविच्छिन्न-मूल धूम का कोई भी आधार ऐसा पाया नहीं जाता, जहां अग्न्यात्मक साध्य रहता न हो। 'पर्वतोधूमवान् वह्नेः' इस अनुमान स्थल में अग्नि हेतु होता है व्यभिचारी। क्योंकि हेतुभूत अग्नि के आधार भूत तप्तलौहपिंड में साध्यधूम रहता नहीं। प्रत्येक लक्षण की सच्चाई के लिए यह नितांत आवश्यक है कि वह अपने प्रत्येक लक्ष्य में जाय और अलक्ष्य में कभी न जाय। क्योंकि इसके विपरीत होने पर लक्षण अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोषों से दूषित हो जाता है। लक्ष्य में लक्षण का न जाना है अव्याप्ति और अलक्ष्य में लक्षण का चला जाना है अतिव्याप्ति। व्याप्ति का उक्त निर्वचन अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनों दोषों से सर्वथा रहित है। क्योंकि 'पर्वतोवह्निमान् धूमात्' इस सदनुमानस्थल में हेतु के अधिकरण अर्थात् आधार होते हैं पर्वत चत्वर गोष्ठ महानस आदि, उनमें रहने वाला अत्यन्ताभाव साध्यभूत अग्नि का अत्यन्ताभाव कभी पाया नहीं जा सकता, पाये जायेंगे घटात्यन्ताभाव, पटात्यन्ताभाव आदि, उनके प्रतियोगी होंगे घट पट आदि साध्य भिन्न वस्तुएं, साध्यभूत अग्नि प्रतियोगी होगा नहीं, अतः अप्रतियोगी साध्य होगा अग्नि साध्य उसका सामानाधिकरण्य धूम हेतु में सम्पन्न हो जाता है। क्योंकि अग्नि के आधार भूत पर्वत महानस आदि में धूम हेतु रहता है। फलतः 'धूमसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिवह्निसमानाधिकरण्य' स्वरूप व्याप्ति उक्त अनुमान स्थलीय सद्धेतु-धूम में आती है। व्याप्ति स्वरूप सद्धेतु का लक्षण अपने लक्ष्यभूत सद्धेतु में समन्वित होता है, अव्याप्ति की शंका रहती नहीं। 'पर्वतो धूमवान्वह्नेः' एतादृश असदनुमानस्थल में अग्नि आदि व्यभिचारी हेतु में साध्य धूम की उक्त प्रकार व्याप्ति नहीं जा पाती। क्योंकि हेतु है अग्नि उसके आधार रूप में पर्वत महानस आदि की तरह उस तप्तलौह को भी लिया जा सकता है जहां धूमसाध्य पाया नहीं जाता है। अतः हेतुभूत अग्नि के आधार तप्तलौह में रहने वाला अत्यन्ताभाव घटाभाव पटाभाव आदि की तरह धूमाभाव भी होगा, साध्यभूत उसका प्रतियोगी हो जायेगा अप्रतियोगी साध्य हो पायेगा नहीं। अप्रतियोगी साध्य अप्रसिद्ध हो उठने के कारण, निरुक्त अप्रतियोगिसाध्यसमानाधिकरण्य, अर्थात् अग्नि-समानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिधूमसामानाधिकरण्य' स्वरूप व्याप्ति हेतु किये गये अग्नि में आयेगा नहीं। इस प्रकार अतिव्याप्ति दोष भी निरुक्त व्याप्ति में हो नहीं पाती इसलिए अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों से सर्वथा मुक्त होने के कारण प्रदर्शित व्याप्ति-निर्वचन सही होता है।

उक्त व्याप्ति-निर्वचन में 'हेतुसमानाधिकरण' यहां पर 'हेतुपद से 'हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न हेतु' ग्राह्य है। क्योंकि अन्यथा 'घटः द्रव्यत्ववान् गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट-

सत्त्वात्' अर्थात् घट द्रव्य है क्योंकि वह गुणकर्मभेदाधिकरणवृत्ति सत्ता से युक्त है इस सदनुमान स्थल में उक्त व्याप्ति-निर्वचन अव्याप्तिदोषग्रस्त हो उठेगा। विशिष्ट और शुद्ध की तत्वतः अभिन्नता के कारण हेतु पद से शुद्धसत्ता का ग्रहण करके उसके आधार भूत गुणों और कर्मों में रहने वाला अत्यन्ताभाव साध्यभूत द्रव्यत्व का अत्यन्ताभाव मिल जायेगा। तदनुसार द्रव्यत्व साध्य, हेतु-समानाधिकरणात्यन्ताभाव का प्रतियोगी ही हो जायेगा, वह अप्रतियोगी साध्य नहीं हो पायेगा, तादृश साध्य-सामानाधिकरण्य हेतु भूत गुणकमान्यत्वविशिष्टसत्ता में आ नहीं पायेगा जहां कि उक्त व्याप्ति को आना ही चाहिए उस गुणकर्मान्यत्व-विशिष्टसत्ता हेतु की सद्धेतुता के कारण। लक्षण घटक हेतु समानाधिकरण का अर्थ हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न समानाधिकरण यह करने पर प्रदर्शित अव्याप्ति इसलिए वारित हो जायेगी कि हेतुतावच्छेदक होगा केवल सत्तात्व नहीं, किंतु गुण-कर्मान्यत्व-विशिष्ट सत्तात्व, तदवच्छिन्न गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट-सत्ता ही होगी शुद्ध सत्ता नहीं, अतः गुणकर्मान्यत्व-विशिष्ट-सत्तात्वावच्छिन्न का अधिकरण द्रव्य ही होगा गुण और कर्म नहीं होंगें। तादृश हेत्वधिकरणभूत द्रव्य में रहने वाला अत्यन्ताभाव द्रव्यत्वात्यन्ताभाव नहीं होगा, गुणत्वात्यन्ताभाव कर्मत्वात्यन्ताभाव आदि ही होंगे। उन अत्यन्ताभावों के प्रतियोगी होंगे गुणत्व कर्मत्व आदि, अप्रतियोगी साध्य द्रव्यत्व हो जायेगा, और उसके अधिकरण भूत द्रव्य में हेतु-भूत गुणकर्मान्यत्व-विशिष्ट सत्ता रहेगी अतः 'गुण कर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्वावच्छिन्न-समानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिद्रव्यत्व सामानाधिकरण्य' स्वरूप प्रकृत स्थलीय व्याप्ति प्रकृत हेतु भूत गुणकर्मान्यत्व-विशिष्ट सत्ता में आ जायेगी। अब यहां जिज्ञासा यह उपस्थापित हो सकती है कि 'गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ता' इस का सरल अर्थ होता है गुणकर्मभेदयुक्त सत्ता। जाति होने के कारण सत्ता गुण और कर्म से भिन्न होती ही है। ऐसी परिस्थिति में 'गुणकर्मान्यत्ववैशिष्ट्य' विशेषण से सत्तात्मक विशेष्य में कोई विलक्षणता तो प्राप्त होती नहीं कि गुण-कर्मान्यत्व-विशिष्टसत्तात्वावच्छिन्न कहने से शुद्ध सत्ता न पकड़ी जा सके। और शुद्ध सत्ता को उक्त विशेषणाक्रान्त रूप में प्राप्त कर लेने पर फिर उक्त-अव्याप्ति ज्यों की त्यों बनी रह जायेगी। क्योंकि हेतुतावच्छेदकावच्छिन्नधिकरण रूप में भी गुण और कर्म हस्तगत हो जायेगें। वहां रहने वाला अत्यन्ताभाव साध्यभूत द्रव्यत्व का अत्यन्ताभाव मिल जायेगा, साध्यभूत द्रव्यत्व उक्त अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी हो जायेगा अप्रतियोगी नहीं हो पायेगा, अप्रतियोगि-साध्यसमानाधिकरण्य स्वरूप व्याप्ति हेतु-भूत गुणकर्मान्यत्व-विशिष्ट सत्ता में नहीं आ पायेगी। तो, इसके संबंध में ज्ञातव्य यह है कि 'गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता यहां पर वैशिष्ट्य स्वरूप-समवाय-घटित-सामानाधिकरण्य-सम्बन्धात्मक

विवक्षित है यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है। तदनुसार स्वरूप संबंध से गुणकर्मभेद के अधिकरण में समवाय संबंध से रहने वाली सत्ता ही गुणकर्मान्यत्व-विशिष्ट सत्ता पद से ग्राह्य होगी। ऐसी सत्ता द्रव्य में ही रह पायेगी गुण और कर्म में नहीं। क्योंकि अपने में अपना भेद न रहने के कारण गुण में गुण का भेद और कर्म में कर्म का भेद, स्वरूप संबंध से रह नहीं सकता। अतः गुण और कर्म में भी रहने वाली सत्ता गुण कर्म भेद समानाधिकरण नहीं हो सकेगी, द्रव्य मात्र वृत्ति सत्ता ही ऐसी होगी। उसके अधिकरण होने वाले द्रव्य में साध्यभूत द्रव्यत्व का अत्यन्ताभाव मिलेगा नहीं। अतः अव्याप्ति नहीं हो पायेगी। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि 'हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न समानाधिकरणकण' इसके अर्थ-भूत हेतुतावच्छेदकावच्छिन्नाधिकरणवृत्ती यहां पर हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न का अधिकरण हेतुतावच्छेदक संबंध से अर्थात् जिस संबंध से हेतु का अस्तित्व विवक्षित हो उस संबंध से ग्राह्य होगा। अन्यथा 'वह्निमान्धूमात्' इस प्रसिद्ध सदनुमानस्थल में कालिक संबंध से धूम का अधिकरण जल हृद् आदि भी हो जायेगें जहां साध्यभूत अग्नि का अत्यन्ताभाव अनायास मिल जायेगा। साध्यभूत अग्नि उस अभाव का प्रतियोगी ही हो जायेगा। अप्रतियोगी साध्य मिलेगा नहीं। फलतः तादृश अप्रतियोगिसाध्य समानाधिकरण्य स्वरूप व्याप्ति लक्षयभूत धूम में आपायेगी नहीं अव्याप्ति हो जायेगी। हेतुतावच्छेदक संबंध से हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न के अधिकरण की विवक्षा मान्य होने पर यह अव्याप्ति इसलिए वारित हो जायेगी कि उक्त 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' यहां पर हेतुतावच्छेदक संबंध होता है संयोग न कि कालिक। क्योंकि कालिक संबंध से हेतु का अस्तित्व विवक्षित होने पर उक्त अनुमान सदनुमान ही नहीं रह पायेगा। व्यभिचारी हो जायेगा। यतः कालिक संबंध से धूम के आधार भूत जल हृद आदि में साध्य अग्नि रहेगा नहीं। धूमहेतु वह्निसाध्याभावाधिकरणवृत्ती हो जाने के कारण व्यभिचारी हो उठेगा अलक्ष्य हो जायेगा। हेतुतावच्छेदक संबंधभूत संयोग संबंध से धूम का अधिकरण ग्राह्य होगा पर्वत महानस आदि, वहां वह्नि का अभाव मिलेगा नहीं। अतः वह्नि साध्य उक्त प्रकार अभाव का अप्रतियोगी हो जायेगा। उसका समानाधिकरण धूम हेतु आ जायेगा, वहां व्याप्ति आ जायेगी। अव्याप्ति नहीं होगी। साथ ही लक्षण घटक 'अभावाप्रतियोगिसाध्य' यहां पर प्रतियोगिता साध्यतावच्छेदक संबंधावच्छिन्न ग्राह्य होगी। क्योंकि ऐसा न करने पर फिर उक्त 'पर्वतोवह्निमान धूमात्' इस सदनुमान स्थल में अव्याप्ति आपन्न होगी। यतः संयोग संबंध से धूम के आधार भूत पर्वत आदि में भी 'समवाय संबंधेन वह्निर्नास्ति यह अत्यन्ताभाव मिल जायगा। वह्निसाध्य उक्त अभाव प्रतियोगी हो जायेगा अप्रतियोगी नहीं हो पायेगा। प्रतियोगिता में साध्यता-

वच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्नत्व विशेषण देने पर अव्याप्ति इसलिए वारित हो जायेगी कि लिए गये 'समवायेन वह्निर्नास्ति' इस अभाव की वह्निगत प्रतियोगिता समवाय-सम्बन्धावच्छिन्ना होगी साध्यतावच्छेदकभूतसंयोग सम्बन्धावच्छिन्ना होगी नहीं। 'संयोगेन वह्निर्नास्ति' यह अभाव पर्वत आदि धूमाधिकरण में मिलेगा नहीं। मिलेगा 'संयोगेन घटोनास्ति' इत्यादि तदीय साध्यतावच्छेदक संयोगसम्बंधावच्छिन प्रतियोगिता घट आदि में ही जायेगी साध्य वह्नि में आयेगी नहीं अतः वह्नि साध्य अप्रतियोगी साध्य हो जायेगा, उसका समानाधिकरण्य धूम हेतु में जायेगा। इस पर यदि यह कहा जाय कि संयोग की अव्याप्य वृत्तित्ता मान्य होने के कारण वह्नियुक्त पर्वत महानस आदि में भी 'संयोगेन वह्निर्नास्ति' एतत्प्रतीतिसिद्धि अग्नि का अभाव रह जायेगा, अग्न्यात्मक साध्य हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न-समानाधिकरणात्यन्ताभाव का प्रतियोगी ही हो जायेगा अप्रतियोगी नहीं हो पायेगा, इस लिए पुनः वहां अव्याप्ति आपन्न होगी। तो इस कथन के उत्तर रूप में ज्ञातव्य यह है कि उक्त लक्षण घटक अत्यन्ताभाव में दिये गये उक्त हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न समानाधिकरण्य विशेषण का अर्थ 'हेतुतावच्छेदकावच्छिन्नाधिकरणनिरवच्छिन्नवृत्तिमान्' यह ज्ञातव्य है। तदनुसार व्याप्ति का स्वरूप 'हेत्वाधिकरणनिरवच्छिन्नवृत्यन्ताभावाप्रतियोगि साध्यसमानाधिकरण्य' ऐसा कहने पर अव्याप्ति इसलिए वारित हो जायेगी कि 'संयोगेन वह्निर्नास्ति' यह अभाव पर्वत आदि हेत्वाधिकरण में निरवच्छिन्न वृत्ती नहीं सावच्छिन्न वृत्ती होगा। क्योंकि संयोग की सावच्छिन्नवृत्तितास्वरूप अव्याप्य वृत्तिता के आधार पर ही उक्त प्रश्न उपस्थित किया गया था। तदनुसार हेत्वधिकरण में निरवच्छिन्न वृत्ती अत्यन्ताभाव उन घट पट आदि वस्तुओं का ही अभाव हस्तगत होगा जो बिल्कुल पर्वत आदि हेत्वधिकरण में रहेगें नहीं। सुतरां ऐसा घटाभाव आदि के प्रतियोगी होगें घट आदि, अप्रतियोगी अग्नि साध्य हो जायेगा और उसका समानाधिकरण्य धूम हेतु पर आ जायेगा। इसके अनंतर यदि इस प्रकार का प्रश्न उपस्थापित हो कि फिर भी 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' यहां अव्याप्ति प्राप्त होती है। क्योंकि पर्वत में 'संयोगेन महानसीयवह्निर्नास्ति' और महानस में 'संयोगेन पर्वतीय वह्निर्नास्ति' इस प्रकार साध्य-अग्नि् का अभाव मिल जायेगा। अतः अग्नि साध्य पुनः उक्त अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी हो जायेगा अप्रतियोगी होगा नहीं, अप्रतियोगिसाध्य समानाधिकरण्य धूम हेतु पर आ नहीं पायेगा। तो इसके उत्तर में वक्तव्य यह होगा कि उक्त व्याप्ति निर्वचन शरीर में 'अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्य' इसके स्थान में 'अत्यन्ताभवप्रतियोगितानवच्छेदक-साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न' ऐसा निवेश समझना चाहिए। फलितार्थ यह होगा कि व्याप्ति लक्षण का विवक्षित आकार

'हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न हेतुतावच्छेदकावच्छिन्नधिकरण निरवच्छिन्न वृत्यभाव प्रतियोगितानवच्छेदक साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसाध्य-सामानाधिकरण्य है व्याप्ति। फलतः इसका सरल अर्थ यह होगा कि हेतुतावच्छेदक संबंध से जो हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न का अधिकरण, उसमें निरवच्छिन्नभाव से रहने वाला जो अत्यन्ताभाव, उसकी प्रतियोगिता का अनवच्छेद अर्थात् अवच्छेदक न होने वाला, फलतः प्रतियोगितावच्छेदकता-पर्याप्तयधिकरण होने वाले से भिन्न जो साध्यतावच्छेदक, तदवच्छिन्न जो साध्य उसका समानाधिकरण्य है हेतु में व्याप्ति। अब पर्वतोवह्निमान् धूमात् यहां पर 'पर्वते महानसीय वह्निर्नास्ति' 'महानसे पर्वतीयवह्निर्नास्ति' इत्यादि अभावों को लेकर दी जाने वाली उक्त अव्याप्ति इसलिए वारित हो जायेगी कि 'महानसीय वह्निर्नास्ति' इस प्रकार किये जाने वाले अभाव की प्रतियोगिता जा पायेगी महानसीय अग्नि में, तदनुसार प्रतियोगितावच्छेदकता पर्याप्त रूप से रहेगी महानसीयत्व और वह्नित्व इन दोनों धर्मों में न कि केवल वह्नित्व में जो कि साध्यतावच्छेदक है। अतः प्रतियोगितानवच्छेदक साध्यतावच्छेदक वह्नित्व कहलायेगा, और तदवच्छिन्न साध्य-भूत-अग्नि का सामानाधिकरण्य धूम में आयेगा लक्षण समन्वय होगा। यहां लक्षण के अंतिम अंश 'साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न सामानाधिकरण्य' का अर्थ 'साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न के साध्यत्वावच्छेदक संबंध से होने वाले अधिकरण में हेतुतावच्छेदकसम्बन्ध से वृत्तित्व अर्थात् वह्नित्व' समझना चाहिए। अन्यथा उक्त प्रकार साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न वह्नि के कालिक संबंध से अधिकरण होने वाले जल हृद् में संयोग संबंध से हेतु भूत धूम का अस्तित्व न होने के कारण, एवं संयोगसंबंध से वह्नि के अधिकरण पर्वत में समवाय संबंध से धूम के न रहने के कारण अव्याप्ति हो उठेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि 'साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न सामानाधिकरण्य' के अंदर साध्य अधिकरण साध्यतावच्छेदक संबंध से एवं हेतु का उसमें अस्तित्व हेतुतावच्छेदक संबंध से या तो नियंत्रित कर देना चाहिए या दोनों ओर संबंध का पूर्ण अनियंत्रण रखना चाहिए। एक ओर नियंत्रण और दूसरी ओर अनियंत्रण रखने पर उक्त प्रकार अव्याप्ति अनिवार्य होगी। दोनों के अनियंत्रण पक्ष में उक्त अव्याप्ति इसलिए नहीं आपन्न हो पायेगी कि साध्य का अधिकरण यदि कालिक संबंध से जल हृद् से लिया जायेगा तो हेतु का अस्तित्व भी संबंध विशेष से अनियंत्रित होने के कारण कालिक संबंध से धूम का अस्तित्व भी जल हृद् में रह जायेगा साध्य सामानाधिकरण्य हेतु में आ ही जायेगा अव्याप्ति नहीं होगी। इस अनियंत्रण पक्ष में अति व्याप्ति की सम्भावना इसलिए नहीं है कि लक्षण शरीर के पूर्व भाग में अत्यन्ताभाव अंश में हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न सामानाधिकरण्य पूर्वोक्त प्रकार से संबंध विशेष

नियंत्रित बतलाया जा ही चुका है तदनुसार साध्यतावच्छेदक धूमत्व आदि धर्म नियमतः उक्त प्रकार अत्यन्ताभाव के प्रतियोगितावच्छेदक ही हो जायेंगे अवच्छेदक हो नहीं पायेंगे। फलतः अवच्छेदक साध्यतावच्छेदक की अप्रसिद्धि प्रयुक्त अतिव्याप्ति हो नहीं सकती। उक्त व्याप्ति निर्वचन के अंदर 'अत्यन्ताभाव' यहां पर अत्यन्त पद की सार्थकता यह ज्ञातव्य है कि अत्यन्त न कहने पर भी 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' यहां पर हेत्वधिकरण पर्वत आदि में 'वह्निर्न' इस अन्योन्याभाव को लेकर साध्यतावच्छेदक भूत वहिन्त्व प्रतियोगितावच्छेदक हो जायेगा प्रतियोगितानवच्छेदक नहीं हो पायेगा अव्याप्ति हो जायेगी। अत्यन्ताभाव कहने पर अव्याप्ति इसलिए वारित हो जायेगी कि 'वह्निर्न' यह अभाव अत्यन्ताभाव होगा नहीं अन्योन्याभाव होगा। और अत्यन्ताभाव होने वाला 'वह्निर्नास्ति' यह अभाव आदि पर्वत में मिल पायेगा नहीं। फलतः उक्त प्रकार विशेषणाक्रांत रूप में हस्तगत होने वाले घटाभाव आदि का प्रतियोगितावच्छेद होगा घटत्व आदि, वह्नित्व-साध्यातावच्छेदक अनवच्छेदक हो जायेगा। इसके अनन्तर यदि यह कहा जाय कि 'कालो घटवात् महाकालत्वात्' इत्यादि कालिक संबंध से घट आदि साधक सद्धेतुस्थल में अव्याप्ति होगी क्योंकि ऐसी कोई वस्तु मिल सकती नहीं जो कि महाकाल में कालिक संबंध में रहती न हो। इसलिए हेतुतावच्छेदकावच्छिन्नाधिकरणनिरवच्छिन्न वृत्तिक अत्यन्ताभाव की साध्यतावच्छेदक कालिक संबंधावच्छिन्न प्रतियोगिता अप्रसिद्ध होगी अतः लक्षण समन्वय हो नहीं पायेगा। तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि महाकाल में कालिक संबंध से घट पट आदि प्रत्येक वस्तु के रहने पर भी स्व में स्वभेद न रहने के कारण 'कालिकेन महाकालान्यत्व-विशिष्ट-घटोनास्ति' इत्यादि अभाव महाकाल में रह पायेंगे और तदीय प्रतियोगिता कालिक संबंधावच्छिन्न हो जायेगी, प्रतियोगिता के अवच्छेदक होंगे महाकालान्यत्वविशिष्ट-घटत्व आदि, साध्यतावच्छेदक भूत घटत्व प्रतियोगितावच्छेदक न होकर प्रतियोगितानवच्छेदक हो जायेगा और तदवच्छिन्न घट का सामानाधिकरण्य हेतु भूत महाकालत्व में आ जायेगा। लक्षण समन्वय हो जायेगा। फलतः व्याप्तिका निर्वचन यह हुआ कि 'हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न हेतुत्वावच्छेदकावच्छिन्नाधिकरण निरवच्छिन्नवृत्यन्ताभावीय-साध्यतावच्छेदक-संबंधावच्छिन्न–प्रतियोगितानवच्छेदकसाध्यताविच्छेदकावच्छिन्न- साध्य-सामानाधिकरण्य है व्याप्ति'। इसका विशकलित अर्थ 'हेतुतावच्छेदक संबंध से हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न के अधिकरण में निरवच्छिन्न रूप से रहने वाले अत्यन्ताभाव की जो साध्यतावच्छेदक संबंध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता, उसके अनवच्छेदक-साध्यतावच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न साध्य के, साध्यतावच्छेदक संबंध से आधार होने वाले में हेतुतावच्छेदक संबंध से हेतु का रहना है उस हेतु में साध्य की व्याप्ति।

व्याप्ति का यह निर्वचन नव्य नैयायिक मूर्द्धन्य गंगेशोपाध्याय कृत सिद्धांत लक्षण के अनुसार यहां दीपिकाकार ने उपस्थित किया है जिसका कुछ परिष्कृत रूप यहां दिखलाया गया है। इस व्याप्ति निर्वचन के पूर्व कुछ व्याप्ति विवेचक 'साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वाभाव' को ही हेतु में—साध्य की व्याप्ति मानते थे किंतु इसका परिष्कार कितना भी क्यों न किया 'इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्' इत्यादि केवलान्वयी सद्धेतुक स्थल में इस प्राचीन लक्षण की अव्याप्ति दुर्वार रह जाती है। क्योंकि साध्यभूत ईश्वरेच्छाविषयत्व-स्वरूप वाच्यत्व का अभाव किसी भी सांसारिक आधार में पाया नहीं जा सकता। यतः ऐसी कोई भी वस्तु नहीं मिल सकती जो कि ईश्वरेच्छा का विषय न हो, जिसमें ईश्वरेच्छा-विषयत्व न रहता हो। फलतः 'इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्' इस सद्धेतु स्थल में साध्याभावाधिकरण अप्रसिद्ध होने के कारण लक्षण समन्वय होगा नहीं। इसलिए यहां पूर्व विहित सिद्धान्त स्वरूप व्याप्ति का निर्धारण हुआ है।

किंतु यहां यह आवश्यक रूप से ध्यान रखने की बात है कि अभी तक यहां किया गया व्याप्ति का विवेचन अन्वयव्याप्ति का ज्ञातव्य है व्यतिरेक व्याप्ति का नहीं। व्यतिरेक व्याप्ति 'यत्र यत्र स्वाध्याभावः तत्र तत्र हेत्वभावः' इस प्रकार होने वाले व्यतिरेक सहचार ग्रह से ज्ञात होता है। व्यतिरेक व्याप्ति का स्वरूप साध्याभाव-व्यापकीभूताभाव-प्रतियोगित्व समझना चाहिए। 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' यहां पर साध्याभाव होगा वह्न्यभाव, उसका व्यापकीभूत अभाव होगा धूमाभाव, उसका प्रतियोगित्व धूम में जायेगा इसलिए धूम हेतु अन्वयी के समान व्यतिरेकी भी कहला पायेगा। इस व्यतिरेक व्याप्ति के अंदर साध्याभाव का अभिप्रेत अर्थ साध्यतावच्छेदकसंबंधावच्छिन्न-साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव समझना चाहिए। अन्यथा अन्य संबंधावच्छिन्न प्रतियोगिताक साध्याभाव, एवं साध्य का विशिष्टाभाव तथा उभयाभाव आदि को लेकर व्यतिरेकी सद्धेतु में व्याप्ति लक्षण समन्वय में बाधा उपस्थित होगी। क्योंकि हेतु का अभाव उन साध्याभावों का व्याप्य नहीं हो पायेगा, अतः उसका प्रतियोगित्व व्यतिरेकी सद्धेतु में नहीं जा पायेगा। व्यापकत्व का निर्वचन होता है 'तत्समानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्व'। तदनुसार व्यतिरेक व्याप्ति का स्वरूप होगा 'साध्यतावच्छेदकसंबंधावच्छिन्न-साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावत्वावच्छिन्न निरूपकतानिरूपिताधिकरणता-निरूपित-स्वरूपसंबंधावच्छिन्न-वृत्तितावद्भाव-प्रतियोगितात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववदभावप्रति त्वं व्यतिरेक व्याप्तिः'। इसे विशकलित रूप में यों समझना चाहिए कि साध्यतावच्छेदक संबंध तथा साध्यतावच्छेदक धर्म इन दोनों से अविच्छन्न होने वाली जो प्रतियोगिता, तादृश प्रतियोगिता का निरूपक जो अभाव, तादृश अभावत्वावच्छिन्न

जो निरूपकता, तादृश निरूपकता निरूपित जो अधिकरणता, तादृश अधिकरणता निरूपित जो स्वरूप संबंधावच्छिन्न वृत्तिता, तादृश वृत्तितावान् जो अभाव, उसकी जो प्रतियोगिता, तद्भाववान् अभाव की जो प्रतियोगिता वही है व्यतिरेक व्याप्ति। इसके अनुसार 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस सद्धेतुस्थल में धूमगत, संयोगसंबंधावच्छिन्न वह्नित्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावत्वावच्छिन्न-स्वरूप-संबंधावच्छिन्न-निरूपकता-निरूपिताधिकरणता निरूपित स्वरूपसंबंधावच्छिन्न वृत्तितावद्भाव प्रतियोगितात्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभाववद् धूमाभाव प्रतियोगिता है व्यतिरेक व्याप्ति।

तर्क-संग्रह

व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता।

अनुवाद

पर्वत आदि पक्ष में व्याप्त हेतु का रहना है पक्षधर्मता।

दीपिका

पक्षधर्मता-स्वरूपमाह व्याप्येति।

अनुवाद

व्याप्यस्य इत्यादि के द्वारा पक्षधर्मता का स्वरूप बतलाते हैं।

विवरण

'व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञानं परामर्शः' इस प्रकार परामर्श का निर्वचन पहले मूल-ग्रंथकार ने किया था। जिज्ञासा के अनुसार तद्घटक व्याप्ति के स्वरूप का निर्वचन किये जाने के अनन्तर इस जिज्ञासा का उदय स्वाभाविक है कि पक्ष-धर्मता क्या है ? अतः इसका स्वरूप मूलकार के द्वारा बतलाया गया है 'व्याप्यस्य' इत्यादि के द्वारा। कथन का अभिप्रेत अर्थ यह है कि 'हेतुनिष्ठ पक्ष निरूपिता-वृत्तिता' है पक्ष-धर्मता। यद्यपि पक्षता के स्वरूप का ऐसा निर्वचन मानने पर 'साध्यव्याप्य-हेतुमान् पक्षः' जैसे 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' अर्थात् पर्वत अग्नि व्याप्य धूमयुक्त है' इस परामर्श ज्ञान में परामर्श का लक्षण नहीं जा पायेगा। क्योंकि इस परामर्श में तो पक्ष में साध्य-व्याप्य-हेतुयुक्तता, विषय रूप से आ सकती है। न कि पक्ष निरूपित वृत्तिता हेतु में, जिसे कि पक्ष-धर्मता कहा जा रहा है, अतः साध्यव्याप्य हेतुमान् पक्षः इस परामर्श रूप से मान्य होने वाले ज्ञान में पक्ष-धर्मता-विषयकत्व संपादित नहीं हो सकता, व्याप्ति-विशिष्ट-पक्ष-

धर्मता ज्ञान उसे नहीं कहा जा सकता, यह प्रश्न उपस्थित होता हुआ सा दीख पड़ता है। किंतु इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि 'साध्य-व्याप्य-हेतुमान् पक्षः' ऐसा ज्ञान होने पर पक्ष में साध्य के प्रति व्याप्य भूत हेतु की आधारता ज्ञात होने पर फलतः साध्य व्याप्य हेतु में पक्षनिरूपित वृत्तिता भी ज्ञात हो जाती है अतः उक्त दोष दान संगत नहीं कहा जा सकता। अथवा यह भी यहां कहा जा सकता है कि यहां किया गया पक्ष धर्मता का विवेचन 'साध्यव्याप्योहेतुः पर्वते' जैसे 'वह्निव्याप्योधूमः पर्वते' ऐसा ही परामर्श ज्ञान का आकार मान कर किया गया है 'साध्यव्याप्य हेतुमान्पक्षः' ऐसा आकार मान कर नहीं। यदि उक्त द्विविध आकार परामर्श का मान्य हो, उक्त दोनों प्रकारों के ज्ञानों का संग्रह परामर्शरूप में कर्तव्य हो, तो 'व्याप्ति-विशिष्ट-वैशिष्टभाव-गाहिज्ञानं परामर्शः' परामर्श का यह निर्वचन मानना चाहिए। इसका अर्थ यह होगा कि साध्य की व्याप्ति से युक्त हेतु का जो पक्ष के साथ होने वाला वैशिष्ट्य अर्थात् संबंध, तदवगाही ज्ञान है परामर्श। परामर्श का यह निर्वचन परामर्श के उक्त दोनों आकारों का संग्रह इसलिए कर पाता है कि हेतु और पक्ष का संबंध तो दोनों में विषय होता ही है।

तर्क-संग्रह

अनुमानं द्विविधं स्वार्थं परार्थंच। तत्र स्वार्थं स्वानुभितिहेतुः। तथाहि स्वयमेव भूयोदर्शनेन यत्रयत्रधूमसात्रतत्राग्निरिति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपंगतः, तद्गतेचाग्नौ सन्दिहानः पर्वते धूमं पश्यन् व्याप्तिं स्मरति यत्र धूमसामाग्निरिति। तदनन्तरं वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत् इति ज्ञानमुत्पद्यते। अयमेव लिंगपरामर्श इत्युच्यते। तस्मात् पर्वतोवह्निमानितिज्ञानमनुमितिरूत्पद्यते। तदेतत्स्वार्थानुमान्म्।

अनुवाद

अनुमान के प्रभेद दो हैं स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थ अनुमिति का हेतु भूत अनुमान कहलाता है स्वार्थानुमान। जैसे कि कोई भी, जहां-जहां धूम रहता है आग वहां अवश्य रहती है इस प्रकार महानस आदि में भूयोदर्शन के अनन्तर पर्वत के समीप जाने वाला तद्गत अग्नि के संबंध में अनिश्चय शील व्यक्ति, उस पर्वत से उठते हुए धूम को देखकर महानस आदि में पूर्व अनुभूत धूमगत वह्नि-व्याप्ति का 'जहां जहां धूम रहता है वहां वहां आग अवश्य रहती है, स्वयं इस प्रकार स्मरण करता है। तदनन्तर 'यह पर्वत वह्निव्याप्य धूम युक्त है' ऐसा ज्ञान उस व्यक्ति को उत्पन्न होता है, यही कहलाता है लिंग-परामर्श।

तब उसे 'पर्वत अग्नि युक्त है' यह अनुमिति स्वरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार स्वार्थानुमिति का हेतुभूत ज्ञान स्वार्थानुमान कहलाता है।

दीपिका

अनुमानं विभजते अनुमानमिति। तद्द्वैविध्यं दर्शयति स्वार्थमित्यादिना। तत्रेति उभयोर्मध्ये इत्यर्थः। स्वार्थानुमितिं दर्शयति स्वयमेवेति। भूयोदर्शनेनेति। ननु पार्थिवत्वलोहलेखत्वादौ शतसः सहचारदर्शनेऽपि मण्यादो व्यभिचारोपलब्धैः कथं व्याप्ति ग्रह इति चेत् न व्यभिचारज्ञानविरहसहकृतसहचारज्ञानस्य व्याप्तिग्राहकत्वात्।

अनुवाद

'अनुमानम्' इत्यादि के द्वारा अनुमान का विभाजन करते हैं। 'स्वार्थ' इत्यादि के द्वारा उनका द्वैविध्य दिखलाते हैं। 'तत्र' का अर्थ है दोनों के अंदर। 'स्वयमेव' इत्यादि के द्वारा स्वार्थानुमिति बतलाते हैं। भूयोदर्शन के संबंध में यह प्रश्न उपस्थित करना उचित नहीं कि पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व इन दोनों के बीच शतसः सहचार-दर्शन प्राप्त होने पर भी हीरे में व्यभिचार उपलब्ध होने के कारण साहचर्य ज्ञान से कैसे व्याप्तिज्ञान हो सकता ? क्योंकि व्यभिचार ज्ञान के अभाव से युक्त सहचार-ज्ञान को व्याप्ति ग्राहकता है।

विवरण

'ननुपार्थिवत्वलोहलेखत्वादौ' इत्यादि के द्वारा उपस्थापित प्रश्न ग्रंथ का आशय यह है कि सहचार ग्रह से व्याप्तिग्रह होता है यह मानना कठिन है। क्योंकि मृत्पात्र आदि हजारों पार्थिव द्रव्यों पर लौह से लिखा जाता है उस पर रेखा काटी जाती है यह असंदिग्ध है। तदनुसार फलतः जो जो पार्थिव होता है वह वह लोह-लेख्य भी अवश्य होता है यह भूयः—सहचार-दर्शन पार्थिवत्व और लौह-लेख्यत्व इन दोनों के बीच होता हुआ देखा जाता है। परन्तु पार्थिवत्व लोह-लेख्यत्व का व्याप्य तत्वतः होता नहीं। क्योंकि पार्थिव होने पर भी हीरा लोह-लेख्य होता नहीं, उस पर लोहे से रेखा नहीं काटी जा सकती। ऐसी परिस्थिति में भूयः सहचारदर्शन को कैसे हेतु में साध्य-व्याप्ति का निश्चायक माना जा सकता है ? 'न, व्यभिचार ज्ञान' इत्यादि उत्तर-ग्रंथ का आशय यह है कि बात सही है, भूयः सहचार दर्शन को व्याप्ति का निश्चायक नहीं माना जा सकता। परंतु व्यभिचार-ज्ञानाभाव-सहकृत सहचार-दर्शन को भलीभांति व्याप्तिका निश्चायक माना जा सकता है। कहने का सारांश यह है कि सहचार दर्शन एक बार हो या बारंबार, परंतु उसके साथ अति आवश्यक यह होगा कि व्यभिचार ज्ञान न

हो, ऐसी परिस्थितियों में हेतु में साध्य की व्याप्ति का निश्चय होना मान्य है। उक्त पार्थिवत्व और लौहलेखत्व स्थल में भूयोदर्शन होने पर भी पार्थिव हीरे में लौह-लेख्यता दृष्ट नहीं होने के कारण व्यभिचार-दर्शन ही रह जाता है व्यभिचार ज्ञानाभाव रह नहीं पाता है। अतः व्यभिचार-ज्ञान-विरह-सहकृत सहचार-ज्ञानात्मक व्याप्ति निश्चायक रह नहीं पाता है इसलिए व्याप्ति निश्चय नहीं हो पाता है, अनुमान सदनुमान नहीं कहला पाता। सामान्यतः भूयोदर्शन की व्याप्ति निश्चायकता के खंडन में इस प्रकार की युक्ति भी उपस्थापित होती है कि 'भूयोदर्शन' यहां पर भूयस्त्व किसके विशेषण रूप में विवक्षित है ? क्या 'भूयोदर्शन' इसके अंदर आने वाले दर्शन शब्द का अर्थ सहचार-दर्शन अर्थात् सामानाधिकरण्य-दर्शन करके, उसमें भूयस्त्व विशेषण विवक्षित है ? या उक्त दर्शन शब्द का अर्थ साध्य-हेतु-दर्शन करके तद्घटक साध्य एवं हेतु में भूयस्त्व विशेषण विवक्षित है ? अथवा 'दर्शन' शब्द का अर्थ अधिकरण-स्थित रूप में साध्य हेतु का दर्शन करके तद्घटक अधिकरण में भूयस्त्व विशेषण विवक्षित है ? इन तीनों वैकल्पिक पक्षों के अंदर प्रथम पक्ष इसलिए आदरणीय नहीं कहा जा सकता कि तब एक मात्र आधार में किये जाने वाले धारावाहिक सहचार दर्शन से भी व्याप्ति निश्चय हो उठेगा जैसा कि होता नहीं। द्वितीय एवं तृतीय पक्ष इसलिए आदृत नहीं हो सकता कि किसी एक मात्र घटगत एक मात्र रस से तत्-घटमात्रगत एक रूप मात्र साधक 'अयंघटः एतद्रूपवान् एतद्रसात्' इत्यादि अनुमान स्थलों में व्याप्ति निश्चय नहीं हो पायेगा। क्योंकि ऐसे स्थलों में न साध्य या हेतु में भूयस्त्व बन पायेगा और न साध्य तथा हेतु के आधार में। अतः भूयोदर्शन को व्याप्ति का निश्चायक नहीं माना जा सकता। व्यभिचार ज्ञान न हो और एक या अनेक रूप में साध्य और हेतु का सहचार-दर्शन हो तो व्याप्ति निश्चय होगा यह सिद्धांत है।

दीपिका

व्यभिचारज्ञानं द्विविधं, निश्चयः शंका च। तद्विरहः क्वचित् तर्कात्, क्वचित्स्वतः सिद्ध एव। धूमाग्न्योर्व्याप्तिग्रहे कार्यकारणभावभंगप्रसंग-लक्षणस्तर्कः व्यभिचार-शंकानिवर्तकः। ननु सकलवह्निधूमयोरसन्निकर्षात् कथं व्याप्तिग्रह इति चेत् न वह्नित्वधूमत्वरूपसामान्य-प्रत्यासत्त्या सकल-वह्निधूमज्ञानसम्भवात्।

अनुवाद

निश्चयात्मक और संदेहात्मक रूप में व्यभिचारज्ञान के प्रभेद दो हैं। द्विविध व्यभिचार ज्ञान का अभाव कहीं तो तर्क से होता है, और कहीं स्वतः सिद्ध ही होता है। धूम और अग्नि के बीच किये जाने वाले व्याप्य-व्यापक-भाव-ग्रह स्थल में

कार्यकारण-भाव-भंग-प्रसंगात्मक तर्क व्यभिचार-शंका का निवर्तक होता है। सभी वह्नि और सभी धूमों के साथ इंद्रिय सन्निकर्ष न होने के कारण व्याप्ति-ज्ञान कैसे हो सकता ? यह प्रश्न नहीं उचित कहा जा सकता। क्योंकि वह्नित्व और धूमत्व स्वरूप सामान्य लक्षण सन्निकर्ष के सहारे सभी अग्नियों एवं सभी धूमों का ज्ञान हो सकता है।

विवरण

व्यभिचार-ज्ञान संशयात्मक या निश्चयात्मक किसी प्रकार का क्यों न हो उसके रहते हुए व्याप्ति-निश्चय नहीं होता। इसलिए व्यभिचार-ज्ञान का अभाव व्याप्ति निश्चय का कारण होता है। अतः व्याप्ति-निश्चय के लिए व्यभिचार-ज्ञान का अभाव नितांत अपेक्षित होता है। इस अपेक्षित व्यभिचार-ज्ञानाभाव का उपाय बतलाया गया है 'तद्विरहः क्वचित् तर्कात्' इत्यादि के द्वारा। अभिप्राय यह है कि व्याप्य के आरोपात्मक ज्ञान से होने वाला व्यापक का आरोपात्मक ज्ञान कहलाता है तर्क। जैसे 'पर्वतो वह्निमान् न स्यात् धूमवान् न स्यात्' अर्थात् पर्वत यदि अग्न्यभाव युक्त होगा तो उसे धूमाभाव युक्त भी होना पड़ेगा, इस प्रकार किया जाने वाला आरोपात्मक फलतः अनिष्टापत्यात्मक ज्ञान होता है तर्क, उससे 'धूमो वह्निव्यभिचारी' अर्थात् धूम आग का व्यभिचारी है, अग्न्यभाव युक्त आधार में भी रहता है यह व्यभिचारज्ञान अवरुद्ध हो जाता है। क्योंकि उक्त प्रकार से उपस्थापित होने वाला तर्क 'धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात् तदा वह्निजन्यो न स्यात्' अर्थात् धूम यदि अग्न्यभावयुक्त आधार में भी अस्तित्व शील मान्य होगा तो वह अग्निजन्य अर्थात् आग से उत्पन्न होने वाला नहीं हो पायेगा। जैसा कि वह देखा ही जाता है, इस आकार में पर्यवसित होकर धूम और अग्नि के बीच प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होने वाले कार्यकारणभाव के अभाव की उपस्थिति आपत्ति रूप में करता है जिसे प्रत्यक्ष विरोध प्रयुक्त किसी भी प्रकार विपरीत पक्ष से इष्ट नहीं कहा जा सकता। 'ननु सकलवह्निधूमयोः' इत्यादि के द्वारा उपस्थापित शंका ग्रंथ का आशय यह है कि 'पर्वतो वह्निमान् धूमात् इस अनुमिति स्थल में व्याप्ति ज्ञान का आकार होगा 'धूमो वह्निव्याप्यः' यह। इसका अर्थ यह होगा कि 'सभी धूम सभी अग्नि के व्याप्य हैं'। किंतु यह ज्ञान संभव कैसे हो सकेगा ? क्योंकि सभी आग एवं सभी धूम कभी चक्षु-संयुक्त नहीं हो सकते कि उनका ज्ञान संभावित भी कहा जा सके। और जो ज्ञात ही नहीं हो सकते, उनमें भला व्याप्यव्यापकभाव कैसे गृहीत हो सकता ? 'न वह्नित्वधूमत्व-रूप' इत्यादि उत्तर ग्रंथ का सारांश यह है कि सकल धूम एवं सकल अग्नि के साथ आंख के संयोग, संयुक्त समवाय आदि सन्निकर्ष आंखों का सकल धूम और सकल अग्नि के साथ हो सकता है। फलतः सामान्य लक्षण सन्निकर्ष के सहारे प्रत्यक्ष

किये जाने वाले सकल धूम और सकल अग्नि के बीच अनायास व्याप्य-व्यापक-भाव उक्त प्रकार तर्क के सहारे व्यभिचार-ज्ञान के खंडित हो जाने पर निश्चित हो सकता है। सारांश यह कि 'चक्षुस्सम्बद्ध-वह्नित्व स्वरूप सामान्य-लक्षण सन्निकर्ष सकल अग्नि के साथ हो जायेगा, अतः उक्त प्रकार व्याप्ति-निश्चय के होने में बाधा नहीं उपस्थित होगी।

तर्क-संग्रह

यत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परप्रतिपत्त्यर्थं पंचावयववाक्यं प्रयुज्यते तत्परार्थानुमानम्। यथा पर्वतो वह्निमान्। धूमवत्त्वात्। यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानसम्। तथा चायम्। तस्मात्तयेति। अनेनेप्रतिपादिताल्लिगात् परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते। प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पंचावयवः। पर्वतोऽग्निमानिति प्रतिज्ञा। धूमवत्त्वादिति हेतुः। यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानसमित्युदाहरणम्। तथा चायमित्युपनयः। तस्मात्त्थेति निगमनम्।

अनुवाद

धूम हेतु से अग्नि का स्वयं अनुमान करके अन्य व्यक्ति को अनुमान कराने के लिए जो पांच अवयवों से युक्त वाक्य प्रयुक्त होता है वह कहलाता है परार्थानुभाव। जैसे—पर्वत अग्निमान है। क्योंकि वह धूमवान है। जो-जो धूम युक्त होता है सो-सो अग्नियुक्त होता ही है, जैसे महानस। यह पर्वत भी वैसा है अर्थात् वह्निव्याप्य-धूम-युक्त महानस के समान है। अतः वैसा ही होगा, अर्थात् अग्नियुक्त महानस की तरह ही होगा। इन वाक्यों से प्रतिपादित होने वाले हेतु के द्वारा अन्य व्यक्ति भी पर्वत में अग्नि को समझता है। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनयन और निगमन ये पांच वाक्य अवयव कहलाते हैं। पर्वतः अग्निमान् अर्थात् पर्वत अग्नि वाला है यह वाक्य कहलाता है 'प्रतिज्ञा' धूमवत्वात् अर्थात् यतः धूमवाला है यह वाक्य कहलाता है 'हेतु'। यो यो धूमवान् स स वह्निमान्' अर्थात् जो जो धूम युक्त होता है वह अग्नियुक्त भी होता है, जैसा महानस, यह वाक्य कहलाता है उदाहरण। 'तथान्यायम्' अर्थात् यह पर्वत भी धूम युक्त महानस के समान है, यह वाक्य होता है उपनय और 'तस्मात्तथा' अर्थात् इसलिए यह पर्वत भी महानस के समान अग्नियुक्त है यह वाक्य कहलाता है निगमन।

दीपिका

परार्थानुमानमाह यत्त्विति। यच्छब्दस्य तत्परार्थानुमानमिति तच्छब्देनान्वयः। पंचावयववाक्यमुदाहरति यथेति। अवयवस्वरूपमाह प्रति-

ज्ञेति। उदाहृतवाक्येषु प्रतिज्ञादिविभागमाह पर्वतो वह्निमानिति। साध्यवत्तया पक्षवचनं प्रतिज्ञा। पंचम्यन्तं लिंगप्रतिपादकं वचनं हेतुः। व्याप्तिप्रतिपादकं वचनमुदाहरणम्। व्याप्तिविशिष्टलिंगप्रतिपादकं वचनमुपनयः। हेतुसाध्यवत्तया पक्षप्रतिपादकं वचनं निगमनम्। पक्षज्ञानं प्रतिज्ञाप्रयोजनम्। लिंगज्ञानं हेतुप्रयोजनम्। व्याप्तिज्ञानमुदाहरणप्रयोजनम्। पक्षधर्मताज्ञानमुपनयप्रयोजनम्। अबाधितत्वादिकं निगमनप्रयोजनम्।

अनुवाद

परार्थानुमान बतलाते हैं 'यत्तु' इत्यादि के द्वारा। यत् शब्द का तत्परार्थानुमानम् यहां उक्त तत् शब्द के साथ संबंध है। पंचावयववाक्य का उदाहरण देते हैं 'यथा' इत्यादि के द्वारा। उदाहृत वाक्यों के अंदर प्रतिज्ञा आदि का विभाग बतलाते हैं 'प्रतिज्ञा' इत्यादि के द्वारा। साध्यवान् रूप में किया जाने वाला पक्ष का कथन है प्रतिज्ञा। हेतु का प्रतिपादक पंचम्यन्त वाक्य कहलाता है हेतु। (हेतु में) व्याप्ति का प्रतिपादन करने वाला वचन होता है उदाहरण। (पक्ष में) व्याप्ति विशिष्ट हेतु का प्रतिपादक वचन कहलाता है उपनय। और (पक्ष) साध्यव्याप्य हेतुमान् होने के कारण साध्यावान् है यह कथन कहलाता है निगमन। प्रतिज्ञा का फल है पक्ष का ज्ञान। हेतु का प्रयोजन होता है हेतु का ज्ञान। उदाहरण का प्रयोजन है व्याप्ति का ज्ञान। पक्षधर्मता का ज्ञान होता है उपनय का प्रयोजन। हेतु में अबाधितत्व एवं असत्प्रतिपक्षितत्व का ज्ञान होता है निगमन का फल।

विवरण

'परप्रतिपत्त्यर्थं यत् पंचावयववाक्यं प्रयुज्यते तत् परार्थानुमानम्' इस प्रकार कर्त्तव्य शब्दान्वय के अनुसार वाक्य को अनुमान कहा गया है, किंतु ऐसा मानने पर 'स्वार्थानुमिति' परार्थानुमित्योर्लिंगपरामर्श एव करणम् इस ग्रंथ के साथ विरोध प्राप्त होता है। क्योंकि उसके द्वारा तो परामर्शात्मक ज्ञान को अनुमिति का करण अर्थात् अनुमान बतलाया गया है। यह असंगति कैसे निवारित हो सकती है? इस प्रश्न का उत्तर यह ज्ञातव्य है कि वस्तुतः अनुमान तो लिंग-परामर्शात्मक ज्ञान ही होता है, कि अनुमान रूप से मान्य होने वाले उक्त परामर्श का प्रतिपादक होने के कारण 'यत्तु...........तत्परार्थानुमानम्' इस प्रकार वाक्य के द्वारा औपचारिक रूप में पंचावयव-वाक्य को अनुमान कहा गया है। पंचावयवात्मक न्याय का लक्षण 'प्रतिज्ञादि पंचक समुदायत्व' ज्ञातव्य है। प्रतिज्ञादि वाक्य पंचक को एक महावाक्य रूप में ग्रहण करने पर प्रतिज्ञा आदि प्रत्येक खंडवाक्य एक अवयवी के अवयव के समान होने के कारण औपचारिक रूप में उन्हें

अवयव कहा जाता है, तत्वतः प्रतिज्ञा आदि अवयव होते नहीं, क्योंकि शब्दात्मक होने के कारण कोई भी वाक्य न अवयव हो सकता है और न अवयवी। 'प्रतिज्ञाद्यन्यतमत्वं न्यायावयवत्वम्' यह प्रकृत अवयव का निर्वचन समझना चाहिए। प्रतिज्ञा का निर्वचन 'साध्यतावच्छेदक-सम्बन्धावच्छिन्न-साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-प्रकारता-निरूपित-पक्षतावच्छेदकावच्छिन्न - प्रकारताशालि-बोधजनक - वाक्यत्वम् प्रतिज्ञात्वम्' ऐसा समझना चाहिए। 'पर्वतो वह्निमान्' इस परार्थानुमिति स्थल में 'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रकार होने वाले प्रतिज्ञा-वाक्य-जन्य बोध में अग्न्यात्मक साध्य संयोग संबंध से पर्वतात्मक पक्ष में प्रकार अर्थात् विशेषण रूप से विषय होता है, इसलिए अग्न्यात्मक साध्य में संयोग संबंधावच्छिन्न-वह्नित्वावच्छिन्न-प्रकारता होती है और पर्वत में होने वाली विशेष्यता होती है पर्वतत्वावच्छिन्न। प्रकारता और विशेष्यता के बीच निरूप्यनिरूपकभाव हुआ करता है अतः तादृशबोधजनक 'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रतिज्ञा वाक्य में उक्त प्रतिक्षा लक्षण समन्वित हो जाता है। सभी प्रकृत अवयव संबंधी निर्वचनों में 'वाक्य' पद से न्यायघटक वाक्य की विवक्षा ग्राह्य है, क्योंकि ऐसा न होने पर प्रतिज्ञा वाक्य आदि के समानाकारक व्यायाघटक वाक्यों में प्रतिज्ञा आदि के लक्षणों की अतिव्याप्ति अनिवार्य हो उठेगी। प्रकृत हेतु का निर्वचन 'हेतुविषयताशालिबोधजनक-न्यायवयवत्त्वम् हेतुत्वम्' ऐसा समझना चाहिए। 'पंचम्यन्तं हेतुप्रतिपादकं' इत्यादि कथन के अंदर 'पंचम्यन्तं' यह कथन उप लक्षण है। क्योंकि हेतु अर्थ में पंचमी के समान तृतीया भी प्रयुक्त होती है। प्रकृत उदाहरण का निर्वचन प्रकृत-हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न विषयता निरूपित-व्यापकत्व-विषयता-निरूपित-साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-विषयता-निरूपित-प्रकृत-हेतुमन्निष्ठ-विशेष्यता-शालिबोधजनकवाक्यत्वमुदाहरणत्वम्' ऐसा समझना चाहिए। 'यो यो धूमवान् स स वह्निमान्' यहां पर योयः और स स, इसके द्वारा साध्य में हेतु की व्यापकता कथित होती है। और साध्य हेतुमान् में प्रकार रूप से अर्थात् विशेषण रूप से भासता हैं अतः उदाहरण का उक्त लक्षण समन्वित हेता है। उपनय का निर्वचन' साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नविषयता निरूपित-व्याप्तित्वावच्छिन्न-विषयतानिरूपित-हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न-विषयतानिरूपित-पक्षतावच्छेदकावच्छिन्न-विशेष्यताशालिबोध-जनक न्यायाविषयत्वं उपनयत्वम्' इस प्रकार ज्ञातव्य है। क्योंकि 'तथाचायं' का अर्थ होता है 'वह्निव्याप्यधूमवांयम्'। तदनुसार उक्त ज्ञान में निर्वचनानुरूप सभी विषय भासते हैं अतः लक्षणसमन्वय अनायास संपादित हो पाता है। निगमन का निर्वचन 'हेतुज्ञाज्ञाप्यत्व-विशिष्ट-साधारणविषयता-निरूपित-पक्ष-विशेष्यताशालिबोध-जनक-न्यायावयवत्वं निगमनत्वम्' यह निर्वचन निगमन का ज्ञातव्य है। हेतु में वाधितत्व या सत्प्रतिपक्षितत्व ज्ञात होने पर

वह दुष्ट हो जाता है, उससे प्रकृत पक्ष में प्रकृत साध्य की सिद्धि हो पाती नहीं। निगमन के द्वारा पक्ष में साध्यवत्ता सूचित होने पर 'साध्याभाववत्पक्ष' स्वरूप एवं 'साध्याभावव्याप्यवत्पक्ष' स्वरूप सम्प्रति पक्ष की शंका कट जाती है, जिसके फलस्वरूप प्रकृत हेतु में अबाधितत्व का ज्ञान हो जाता है। इसीलिए अबाधितत्व को निगमन का फल बतलाया गया है।

तर्क-संग्रह

स्वार्थानुमिति-परार्थानुमित्योर्लिंग-परामर्श एव करणम्। तस्माल्लिंगपरामर्शोऽनुमानम्।

अनुवाद

स्वार्थानुमिति और परार्थानुमिति इन दोनों अनुमितियों के प्रति लिंग-परामर्श ही होता है करण। इसलिए लिंग-परामर्श ही है अनुमान।

दीपिका

अनुमितिकरणमाह स्वार्थेति। ननु व्याप्तिस्मृतिपक्षधर्मताज्ञानाभ्यामेव अनुमितिसम्भवे विशिष्टपरामर्शः किमर्थमंगीकर्तव्यः? इति चेन्न। वह्नि-व्याप्य-धूमवानयं इति शाब्दपरामर्शस्थले परामर्शस्यावश्यकतया लाघवेन सर्वत्र परामर्शस्यैव करणत्वात्। लिंगं न करणं अतीतानागतादौ व्यभिचारात्। व्यापारवत्कारणं करणमिति मते परामर्शद्वारा व्याप्तिज्ञानं करणम्। तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः। अनुमानमुपसंहरति तस्मादिति।

अनुवाद

अनुमिति का करण बतलाते हैं 'स्वार्थानुमिति' इत्यादि के द्वारा। व्याप्ति-स्मरण और पक्ष-धर्मताज्ञान इन दोनों के द्वारा ही जब कि अनुमिति बन सकती है तो विशिष्ट परामर्श क्यों माना जाय? यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि 'वह्नि-व्याप्य-धूमवानयं पर्वतः' इत्याकारक शाब्द-परामर्श के अनन्तर जहां अनुमिति होगी वहां के लिए जबकि परामर्श की मान्यता वारणरूप से आवश्यक होगी तब लाघववश सभी अनुमिति के प्रति परामर्श की कारणता उचित होगी। लिंग को अनुमिति के प्रति करण इसलिए नहीं माना जा सकता कि अतीत और अनागत स्थल में व्यभिचार होगा। व्यापारवान् कारण होता है करण, उस मत में परामर्श के द्वारा व्याप्ति-ज्ञान होगा करण। करणजन्य होता हुआ जो करण जन्य का जनक होता है, वह कहलाता है व्यापार। अनुमान का उपसंहार करते हैं तस्मात् इत्यादि के द्वारा।

विवरण

'ननु व्याप्तिस्मृतिपक्षधर्मता' इत्यादि के द्वारा लाघव-मूलक शंका उपस्थापित हुई है। आशय यह है कि नैयायिकों को भी परामर्श के अव्यवहित पूर्व व्याप्तिज्ञान रखना ही पड़ता है, अतः व्याप्ति-ज्ञान और हेतुमान् पक्षः ऐसा पक्ष-धर्मता-ज्ञान इन दोनों को ही कारण माना जाना उचित है। व्याप्तिविशिष्ट वैशिष्टयावगाही ज्ञान के रूप में परामर्श नामक ज्ञान को अनुमिति के प्रति कारण मानना उचित नहीं कहा जा सकता। इसका उत्तर दिया गया है 'न, वह्निव्याप्य-धूमवान्' इत्यादि के द्वारा। इस उत्तर ग्रंथ का अभिप्राय यह है कि शाब्दबोध नियमतः निर्यंत्रित विषयक हुआ करता है। अर्थात् श्रोता के द्वारा जितने शब्द सुने जाते हैं उस शब्दों के ही अर्थ शाब्दबोध में नियतरूप में भासते हैं अन्य कोई विषय भासता नहीं। इस वस्तुस्थिति की मान्यता के अनुसार जहां कोई 'वह्नि व्याप्य धूमवान् अयं पर्वतः' ऐसा वाक्य बोलेगा वहां श्रोता को तदनुरूप 'यह पर्वत अग्नि-व्याप्य-धूमयुक्त है' इस प्रकार व्याप्ति-विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही परामर्शात्मक ही बोध होगा और उससे 'पर्वतोवह्निमान्' यह अनुमिति होगी यह उन लोगों को भी मानना ही होगा, जो लोग अन्यत्र अलग-अलग व्याप्ति-ज्ञान और पक्ष-धर्मता-ज्ञान को अनुमिति के प्रति कारण मानेंगे। जबकि उक्त शाब्द-बोधात्मक परामर्श के स्थल में अगत्या परामर्श को कारण माना ही जायेगा तो लाघवात् सर्वत्र अनुमिति के प्रति परामर्श का कारण मान लेना ही बुद्धिमत्ता होगी। सारांश यह कि जहां यह प्रतीत होता है कि परामर्शात्मक विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान के बिना ही व्याप्तिज्ञान और पक्ष-धर्मता-ज्ञान इन दो खंड ज्ञानों से अनुमिति होती है वहां भी मान्य यह है कि उक्त दो खंड ज्ञानों के अव्यवहित उत्तर एक अखंड व्याप्ति-विशिष्ट-वैशिष्टयावगाही परामर्शात्मक ज्ञान होकर ही अनुमिति होती है। अतः अनुमिति के प्रति परामर्श को कारण मानना ही चाहिए।

वास्तविक तत्व तो यहां पर यह ज्ञातव्य है कि जो लोग परामर्श को अनुमिति के प्रति कारण मानते नहीं वे लोग अनुमिति स्थलीय कार्य-कारण-भाव कैसा मानेंगे ? यदि वे यह कहेंगें कि 'अनुमितित्वावच्छिन्नं प्रति व्याप्तिज्ञानत्वेन पक्षधर्मताज्ञानत्वेन च कारणता' अर्थात् अनुमिति के प्रति व्याप्तिज्ञान और पक्ष-धर्मता-ज्ञान कारण है, तो 'वह्निव्याप्यो धूमः' और 'आलोकवान् पर्वतः' इन दोनों ज्ञानों से भी पर्वतो वह्निमान् यह अनुमिति आपन्न हो उठेगी। क्योंकि अनुमिति के प्रति अपेक्षित रूप में मान्य उक्त दोनों ज्ञान वहां रहेगें ही। यदि 'व्याप्यतावच्छेदक-प्रकारक-पक्षधर्मता-ज्ञानमात्र' को अनुमिति के प्रति कारण कहा जायगा तो केवल 'धूमवान् पर्वतः' इस ज्ञान से भी पर्वतो वह्निमान् यह अनुमिति आपन्न

हो उठेगी। क्योंकि 'धूमवान् पर्वतः' यह ज्ञान भी धूमत्वात्मक-व्याप्तावच्छेदक-प्रकारक होगा ही। इसलिए 'अनुमितित्वावच्छिन्नं प्रति व्याप्ति-विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाहि-ज्ञानत्वेन कारणता' इस प्रकार कार्य-कारणभाव-मानना ही होगा व्याप्ति-विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान का ही दूसरा नाम परामर्श होने के कारण तब फलतः परामर्श को अनुमिति के प्रति कारण मान ही लेना होगा। प्राचीन नैयायिक लोग अनुमिति के प्रति ज्ञायमान लिंग को करण मानते थे इसका खंडन किया गया है 'लिंग न करणम्' इत्यादि के द्वारा। अभिप्राय यह है कि विनष्ट लिंग एवं भावी लिंग से भी वर्तमान काल में अनुमिति होती हुई पायी जाती है, जैसे 'इयं शाला विनष्ट-वह्निमती विनष्ट धूमात्, इयं शाला भाविवह्निमती भाविधूमात् इत्यादि। यदि लिंग को अनुमिति का कारण माना जाय तो ऐसी अनुमितियां किसी प्रकार उपपन्न नहीं हो पायेंगी। क्योंकि अतीत अनागत लिंगात्मक अनुमिति-करण अनुमित के अव्यवहित पूर्व कभी रह नहीं सकते। इसलिए लिंग को अनुमिति के प्रति करण न मानकर लिंग परामर्श को ही अनुमिति के प्रति करण मानना उचित है। 'व्यापारवत्कारणं' इत्यादि के द्वारा करण के संबंध में मतान्तर बतलाया गया है। इस पर प्रकाश पहले दिया जा चुका है।

तर्क-संग्रह

लिंगं त्रिविधम्। अन्वयव्यतिरेकि केवलान्वयि केवलव्यतिरेकि चेति। अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकि। यथा वह्नौ साध्ये धूमवत्त्वम्। यत्र धूमस्तत्राग्निरिति अन्वयव्याप्तिः। यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा महाह्रद इति व्यतिरेक-व्याप्तिः। अन्वयमात्र-व्याप्तिकं केवलान्वयि, यथा घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्। अत्र प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोः व्यतिरेकव्याप्तिर्नास्ति सर्वस्यैव प्रमेयत्वादभिधेयत्वाच्च। व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकि। यथा पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात्। यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद्गन्धवत् यथा जलम्। न चेयं तथा, तस्मान्न तथेति। अत्र यद्गन्धवत् तदितरभिन्नमिति अन्वयदृष्टान्तो नास्ति। पृथिवीमात्रस्य पक्षत्वात्।

अनुवाद

लिंग त्रिविध है, केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी एवं अन्वय-व्यतिरेकी। अन्वय-व्याप्ति एवं व्यतिरेक-व्याप्ति उभययुक्त हेतु कहलाता है अन्वयव्यतिरेकी। जैसे अग्नि साध्यक अनुमानस्थल में धूमहेतु। जहां धूम है वहां आग भी है, यह है अन्वय व्याप्ति और जहां आग नहीं है वहां धूम भी नहीं है यह है व्यतिरेक व्याप्ति। जिस हेतु में केवल अन्वय व्याप्ति हो वह कहलाता है 'केवलान्वयी' जैसे घटो भिधेयः प्रमेयत्वात् पटवत्' इस अनुमान स्थल में प्रमेयत्व हेतु। यहां

प्रमेयत्व और अभिधेयत्व के बीच व्यतिरेक-व्याप्ति है नहीं। क्योंकि सभी पदार्थ प्रमेय भी हैं और अभिधेय भी। जिस हेतु में केवल व्यतिरेक व्याप्ति ही हो वह कहलाता है 'केवल-व्यतिरेकी'। जैसे 'पृथिवी इतरेभ्योमिधते गन्धवत्वात्' यदितरेभ्यो न मिधते न तद्गन्धवत् यथा जलम्। नचेयं तथा तस्मान्न तथा' यह, अर्थात् यहां का गंधत्व हेतु। यहां जो गंधवान् है सो पृथिवीतर से भिन्न है, यह अन्वय दृष्टांत नहीं है। क्योंकि सारे पार्थिव पदार्थ तो पक्ष ही हो जाते हैं।

दीपिका

लिंगं विभजते लिंगमिति। अन्वयव्यतिरेकिणं लक्षयति अन्वयेनेति। हेतुसाध्ययोर्व्याप्तिरन्वयव्याप्तिः। तदभावयोर्व्याप्तिः व्यतिरेकव्याप्तिः। केवलान्वयिनां लक्षणमाह अन्वयेनेति। केवलान्वयिसाध्यकं लिंगं केवलान्वयि। अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं केवलान्वयित्वम्। केवलान्वयिनमुदाहरति घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वादिति। ईश्वरप्रभाविषयत्वं सर्वपदाभिधेयत्वं च सर्वत्रैवास्तीति व्यतिरेकाभावः। केवलव्यतिरेकिणो लक्षणमाह व्यतिरेकेति। केवलव्यतिरेकिणमुदाहरति पृथिवीति। नन्वितरभेदः प्रसिद्धो न वा? आद्ये यत्र प्रसिद्धस्तत्र हेतुसत्त्वेऽन्वयित्वम्। असत्त्वेऽसाधारण्यम्। द्वितीये साध्यज्ञानाभावात् कथं तर्हि विशिष्टानुमितिः। विशेषणज्ञानाभावे विशिष्टज्ञानानुदयात्। प्रतियोगिज्ञानाभावात् व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानमपि न स्यात् इति चेन्न। जलादित्रयोदशभेदानां प्रत्येकं प्रसिद्धानां मेलनं पृथिव्यां साध्यते। त्रयोदशत्वावच्छिन्न - साध्यस्यैकाधिकरणवृत्तित्वाभावान्नान्वयित्वासाधारण्ये। प्रत्येकाधिकरणप्रसिद्ध्या साध्यविशिष्टानुमितिः। साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वमिति व्यतिरेक-व्याप्ति-निरूपणं यदितरेति।

अनुवाद

लिंग का विभाजन करते हैं 'लिंगं' इत्यादि के द्वारा अन्वयव्यतिरेकी का लक्षण बतलाते हैं 'अन्वयेत' इत्यादि के द्वारा। हेतु और साध्य की व्याप्ति कहलाती है 'अन्वयव्याप्ति'। केवलान्वयी (हेतु) का लक्षण बतलाते हैं 'अन्वयेन' इत्यादि के द्वारा। केवलान्वयिसाध्यक-लिंग, केवलान्यवी कहलाता है। अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्व अर्थात् किसी भी अत्यंताभाव का प्रतियोगी न होना है (साध्यगत) केवलान्वयित्व। केवलान्वयी (हेतु) का उदाहरण बतलाते हैं—'घटोभिधेयः' इत्यादि के द्वारा। ईश्वरीय प्रभा (यथार्थ ज्ञान) का विषय होना, स्वरूप प्रमेयत्व और 'सर्व' पद का वाच्य होना, स्वरूप अभिधेयत्व सब जगह है, अतः उसके (अभावात्मक) व्यतिरेक का अभाव है। केवल व्यतिरेकी का लक्षण करते हैं 'व्यतिरेक' इत्यादि के द्वारा। केवल व्यतिरेकी का उदाहरण बतलाते हैं 'पृथिवी'

इत्यादि के द्वारा । इतर-भेद प्रसिद्ध हैं या नहीं ? यदि प्रसिद्ध है तो जिस अधिकरण में प्रसिद्ध है उसमें हेतु के रहने पर हेतु अन्वयी हो जाता है, और वहां हेतु के न रहने पर हेतु 'असाधारण' हो जाता है । यदि (इतरभेद) प्रसिद्ध नहीं है तो साध्य सर्वथा अज्ञात होने के कारण पक्ष में तादृशसाध्य की अनुमिति कैसे की जा सकती ? क्योंकि विशेषण ज्ञान के बिना विशिष्ट ज्ञान हो ही नहीं सकता । (साध्यात्मक) प्रतियोगी का ज्ञान न होने के कारण व्यतिरेक व्याप्ति का भी ज्ञान नहीं हो सकता, इस प्रकार शंका नहीं उठायी जा सकती । क्योंकि जलादि त्रयोदश के त्रयोदश अन्योन्याभाव प्रत्येक पृथिवी आदि में प्रसिद्ध होगा और उन त्रयोदश अन्योन्याभावों का एक मिलित समूह पृथिवी में साधित होगा । मिलित त्रयोदश-अन्योन्याभावात्मक साध्य का किसी एक आधार में अस्तित्व स्थिर न होने के कारण हेतु में अन्वयित्व या असाधारण्य नहीं आपन्न हो सकता। प्रत्येक भेद का अधिकरण प्रसिद्ध होने के कारण पक्ष में साध्य की अनुमिति एवं व्यतिरेक-व्याप्ति ज्ञान के होने में भी कोई बाधा नहीं । साध्याभाव-व्यापकीभूताभाव प्रतियोगित्व का निरुपण करते हैं 'यदितरभिन्न' इत्यादि के द्वारा ।

विवरण

'अन्वयेन व्यतिरेकेण च' यहां तृतीया अभेद अर्थ में हैं । तदनुसार 'अन्वयव्यतिरेकी' का अभिप्रेत अर्थ होता है अन्वयाभिन्न एवं व्यतिरेका भिन्न जो व्याप्ति, तादृश व्याप्तिमान् हेतु ।अन्वयव्याप्ति है 'हेतुव्यापक-साध्य-सामानाधिकरण्य' और व्यतिरेक व्याप्ति है 'साध्यभाव-व्यापकी-भूताभाव-प्रतियोगित्व' यह बात पहले बतलायी जा चुकी हैं। अथवा अन्वय पद से ग्राह्य है अन्वय-सहचार और व्यतिरेक पद से व्यतिरेकसहचार। तृतीया का अर्थ है प्रयोज्यत्व। इसके अनुसार 'अन्वयव्यतिरेकी' का विवक्षित अर्थ यह प्राप्त होता है कि अन्वय-सहचार-प्रयोज्य-व्याप्तिमान् होता हुआ व्यतिरेक सहचार-प्रयोज्य-व्याप्तिमान् हेतु 'अन्वयव्यतिरेकी' । फलतः मूल में 'इति अन्वय-व्याप्तिः' इसका अर्थ इति-सहचार-ग्रहग्राह्या अन्वय-व्याप्तिः, और 'इति व्यतिरेक-व्याप्तिः' इसका अर्थ इति-सहचार-ग्रहग्राह्या व्यतिरेक-व्याप्तिः ऐसा समझना चाहिए । इसी बात को दीपिकाकार ने भग्यन्तर से 'हेतु-साध्ययोर्व्याप्तिः अन्वयव्याप्तिः' और 'तदभावयोव्याप्तिः व्यतिरेक-व्याप्तिः' यह कह कर व्यक्त किया है । इस कथन के द्वारा द्विविध व्याप्ति का संक्षिप्त स्वरूप-परिचय दिया गया है । लक्षण विवेचन पहले किया जा चुका है । 'तदभावयोः' यहां पर 'तत्' पद से साध्य और हेतु का ग्रहण ज्ञातव्य है । किंतु यहां ध्यान रखने की बात यह है कि साध्याभाव और हेत्वाभाव के व्याप्य-व्यापक-भाव-स्थल में अन्वयव्याप्ति-स्थलीय परिस्थिति से विपरीत परिस्थिति यह होती है कि साध्य का अभाव होता है व्याप्य और हेतु का अभाव होता है उसका व्यापक । जैसे 'जलं

धूमाभाववत् वह्न्यभावात्' यहां पर वह्नि का अभाव होता है व्याप्य और धूम का अभाव होता है उसका व्यापक। यह बात भूलस्थ व्यतिरेक-सहचार-प्रदर्शन से स्पष्ट मालूम पड़ती है। किंतु साध्याभाव में जो हेत्वभाव की व्याप्ति होती है वह तो तत्वतः अन्वय-व्याप्ति ही होती है। उसे व्यतिरेक-व्याप्ति तो दीपिकाकार ने 'व्यतिरेकयोः अर्थात् अभावयोर्व्याप्तिः व्यतिरेकव्याप्तिः' इस व्याख्या के अनुसार बतलाया है। इसलिए व्यतिरेक व्याप्ति का स्वरूप प्रागुक्त 'साध्याभाव-व्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व' ही ज्ञातव्य है। मूलकार ने जो 'अन्वय मात्र व्याप्तिकं केवलान्वयि' यह लक्षण केवलान्वयी का बतलाया है उसका पर्यवसित अर्थ होता है 'अन्वय-व्याप्तिभिन्न व्याप्त्यभाववत्वे सति अन्वयव्याप्तिमत्त्व' किंतु इसमें कठिनता यह प्राप्त होती है कि केवलान्वयी स्थल में अन्वय व्याप्तिभिन्न व्याप्ति अप्रसिद्ध हो उठती है। क्योंकि व्यतिरेक व्याप्ति वहां हो सकती ही नहीं। अतः लक्षण समन्वय होता नहीं। उक्त मूल प्राप्त केवलान्वयी का लक्षण असंभव ग्रस्त हो उठता है। यदि अन्यस्थलीय व्यतिरेक व्याप्ति को लेकर प्रकृत केवलान्वयी हेतु में अन्वय-व्याप्ति-भिन्न-व्याप्ति का अभाव लाया जायेगा तो दोष यह आपन्न होगा कि अन्वय व्यतिरेकी हेतु भी केवलान्वयित्वाक्रांत हो उठेगा। क्योंकि भिन्नस्थलीय व्यतिरेक-व्याप्ति का अभाव तो वहां भी रहेगा ही। अतः दीपिकाकार ने केवलान्वयी हेतु की परिभाषा अन्य प्रकार से बतलायी है 'केवलान्वयिसाध्यकं' इत्यादि के द्वारा। यहां पर आवश्यक रूप से ध्यान रखना चाहिए कि केवलान्वयित्व साध्यगत और हेतु गत रूप में द्विविध है। तदनुसार 'केवलान्वयिसाध्यकं' इसके द्वारा बतलाये गये केवलान्वयित्व को हेतु गत केवलान्वयित्व समझना चाहिए। इस निर्वचन के अंदर साध्य अंश में विशेषण रूप से विवक्षित होने वाला केवलान्वयित्व होता है साध्यगत केवलान्वयित्व। उसका परिचय दिया है दीपिकाकार ने 'अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वम्' इसके द्वारा। इसका अभिप्राय यह है कि जिसका अभाव संसार में कहीं नहीं पाया जाता हो, वह यदि साध्य बनाया जाता है तो वह साध्य कहलाता है केवलान्वयी। और ऐसे केवलान्वयी साध्य का साधक हेतु कहलाता है केवलान्वयी हेतु। अब यहां प्रश्न यह उपस्थापित हो सकता है कि 'अन्यन्ताभावाप्रतियोगित्व' को ही हेतु गत केवलान्वयित्व क्यों न मान लिया जाय? 'इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्' इस केवलान्वयी अनुमानस्थल में साध्यभूत वाच्यत्व की तरह हेतु भूत ज्ञेयत्व भी तो अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी होता ही है? ज्ञान विषयता सर्वत्र विद्यमान होने के कारण तत्स्वरूप ज्ञेयत्व सर्वत्र विद्यमान ही रहेगा। इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि 'घटोऽभिधेयो द्रव्यत्वात्' इस अनुमान स्थल में हेतु-भूत द्रव्यत्व को भी, जो कि स्वतः गुण आदि गत अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होता ही है, केवलान्वयी हेतु मानना है, हेतु-गत

अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्व को हेतुगत केवलान्वियित्व मानने पर यह नहीं माना जा सकेगा । अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकत्व स्वरूप केवलान्वयिसाध्यकत्व को हेतुगत-केवलान्वयित्व मानने पर उक्त द्रव्यत्व हेतु अनायास केवलान्वयी इसलिए हो जाता है कि द्रव्यत्वात्मक साधन के साध्य भूत अभिधेयत्व अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी हो ही जाता है, केवलान्वयी साध्य होता ही है । प्रमेयत्व एवं अभिधेयत्व आदि साध्य क्यों केवलान्वयी होते हैं ? इसे स्पष्ट रूप में बतलाया गया है दीपिका में 'ईश्वरप्रमाविषयत्वं' इत्यादि के द्वारा । कथन का सारांश यह है कि सर्वज्ञ होने के कारण ईश्वर को सभी विषयों का यथार्थ ज्ञान रहता है । इसलिए तादृश ज्ञानविषयतात्मक प्रमेयत्व सर्वत्र रह जाता है, उसका अभाव कहीं मिल पाता नहीं । इसी प्रकार 'सर्व' इस सर्वनाम पद से सभी वस्तुएं यतः अभिहित होती हैं, अतः सर्वपदाभिधेयत्व भी सर्वत्र रह जाता है, उसका अभाव कहीं मिल पाता नहीं । सुतरां साध्यभूत प्रमेयत्व अभिधेयत्व आदि में अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्व आ जाने के कारण साध्यगत केवलान्वयित्व उपपन्न होता है और उसका साधक होने के कारण द्रव्यत्व हेतु में 'केवलान्वयिसाध्यकत्व' आ जाता है। इसलिए 'घटोऽभिधेयो द्रव्यत्वात्' 'घटः प्रमेयो द्रव्यत्वात्' इत्यादि अनुमानस्थलों में द्रव्यत्व आदि भी केवलान्वयी हेतु कहला पाते हैं । अभिधेयत्व के अंदर आने वाली अभिधा है शक्ति। अभिधेयत्व का अर्थ फलतः वाच्यत्व होता है । व्यतिरेकी हेतु का उदाहरण उपस्थित किया गया है 'पृथिवी इतरोभ्यो भिद्यते' इत्यादि के द्वारा, वहां प्रश्न उपस्थित किया गया है 'नन्वितरभेदः' इत्यादि के द्वारा । इस प्रश्न-ग्रंथ का आशय यह है कि किसी भी पक्ष में सिद्धि अर्थात् अनुमिति किसी अन्यत्र प्रसिद्ध वस्तु की ही की जाती है अप्रसिद्ध की नहीं । ऐसी परिस्थिति में यदि पृथिवी-भिन्न-भेद को कहीं प्रसिद्ध माना जाता है तो और उसी प्रसिद्ध आधार में हेतु का अस्तित्व भी माना जाता है तो, वह साध्य-हेतुमत्तया निश्चित प्रसिद्ध-आधार ही अन्वय दृष्टांत बन जायेगा, हेतुभूत गंधवत्त्व हेतु अन्वयी हो जायगा केवल-व्यतिरेकी नहीं हो पायेगा । अतः 'पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गंधवत्त्वात्' इसे केवल व्यतिरेकी के उदाहरण रूप में किया गया उपन्यास असंगत हो उठेगा । इस पर यदि यह कहा जाय कि उस इतर-भेद के प्रसिद्ध आधार में हेतु का और हेतु में स्वव्यापकसाध्य-सामानाधिकरण्य स्वरूप अन्वय-व्याप्ति का अस्तित्व मान लेने पर यह बात कही जा सकती है कि गंधवत्व हेतु अन्वय-व्यतिरेकी बन गया, अन्वय दृष्टांत भी प्राप्त हो जाने के कारण । परंतु उस साध्य-प्रसिद्धि के आधार में यदि हेतु का अस्तित्व न माना जाय तब तो यह नहीं कहा जा सकता कि हेतु अन्वयी या अन्वय-व्यतिरेकी हो गया ? तो यह कथन इसलिए संगत नहीं हो पायेगा कि तब हेतु असाधारण व्यभिचारी हो उठेगा हेत्वाभास हो उठेगा । उससे

इतर भेदात्मक साध्य की सिद्धि की आशा भी नहीं रह जायेगी । वह हेतु असाधारण इसलिए हो जायेगा कि निश्चित-साध्यक सपक्ष एवं निश्चित-साध्याभावक विपक्ष, इन दोनों में न रहने वाला हेतु होता है असाधारण । उक्त हेतु को निश्चित-साधक आधार में न रहने वाला माना जा चुका है और जल आदि विपक्षों में गंध हेतु की नास्तितता के कारण हेतु में निश्चित-साध्याभावक-विपक्षावृत्तित्व भी आ ही जायेगा । यहां यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यहां विहित असाधारण्य दोष के उद्‌भावन को केवलान्वयी, केवल-व्यतिरेकी और अ वय-व्यतिरेकी इस रूप में किये जाने वाले विभाजन को सद्धेतु मात्र का विभाजन मानकर ही संगत कहा जा सकता है अन्यथा नहीं । क्योंकि यदि उक्त विभाजन को हेतुमात्र का विभाजन माना जाय तो प्रकृत गंधवत्व हेतु में असाधारणत्व होने पर भी केवल व्यतिरेकित्व के व्याघात की शंका नहीं उपस्थापित हो सकती । हेतु में सपक्ष विपक्षव्यावृत्तत्व स्वरूप असाधारण्य निश्चय के होते हुए भी 'साध्याभाव-व्यापकीभूताभाव-प्रतियोगित्व' स्वरूप व्यतिरेक-व्याप्ति का ज्ञान अक्षुण्ण रहेगा । कहने का तात्पर्य यह कि असद्धेतुओं को भी केवलान्वयी केवल-व्यतिरेकी और अन्वय-व्यतिरेकी रूप में विभक्त मानना उचित होगा । अन्यथा आश्रयसिद्धि प्रभृति दोष-दुष्ट केवलान्वयी आदि हेतुओं में केवलान्वयी आदि लक्षणों की अतिव्याप्ति हो उठेगी ।

इतर-भेद प्रसिद्ध होता है या नहीं इत्यादि रूप से उठाये गये प्रश्न का उत्तर देते हैं दीपिकाकार 'न, जलादित्रयोदश' इत्यादि के द्वारा । उत्तर ग्रंथ का आशय यह है कि साध्य सर्वथा अप्रसिद्ध नहीं प्रसिद्ध ही है, परंतु अन्य अनुमान स्थलों से यहां की विशेषता यह होती है कि जल आदि त्रयोदश के त्रयोदश अन्योन्याभाव सम्मिलित रूप में एक आधार में पूर्व-प्रसिद्ध होते नहीं, त्रयोदश-अन्योन्याभावान्तः पाती प्रत्येक अन्योन्याभाव अलग-अलग अधिकरणों में प्रसिद्ध रहता है । जैसे 'जलं न' यह जलान्योन्याभाव तेज में और 'तेजो न' यह तेज का अन्योन्याभाव जल में । सारांश यह कि प्रत्येक अन्योन्याभाव अलग-अलग प्रसिद्ध होने के कारण प्रकृत अनुमान की असम्भावना या साध्याप्रसिद्धिदुष्टता नहीं बतलायी जा सकती और मिलित रूप में एकाधारगत रूप में साध्य त्रयोदश-अन्योन्याभावों की सिद्धि अनुमान के पूर्व न होने के कारण अनुमान में सिद्ध-साधन दोष भी नहीं बतलाया जा सकता एवं प्रसिद्ध साध्याश्रय में हेतु के अस्तित्व और नास्तित्व की शंका उठाकर उक्त प्रकार असाधाराण्य आदि की आपत्ति भी नहीं बतलायी जा सकती । यहां यह भी ध्यान रखने की बात है कि जल आदि की तरह अभावों को भी साध्य रूप से विवक्षित अन्योन्याभावों के प्रतियोगी के रूप में जो ग्रहण नहीं किया गया है एवं तदनुरूप 'जलादि चतु-

दशान्योन्याभावानां' न कह कर 'जलादि त्रयोदशान्योन्याभावानां' यह कहा गया है उसका कारण यह है कि जो दार्शनिक अभाव को तत्वतः भावों से अतिरिक्त नहीं मानने हैं तन्मत साधारण्य का समादर है। अर्थात् उनके मत को मानते हुए 'जलादि त्रयोदश' यह कहा गया है। स्वमत में तो 'जलादि चतुर्दशान्यो-न्याभावानां' यह कथन संगत ज्ञातव्य है। अथवा जलां आदिर्येषां चतुर्दशान्यो-न्याभावानां 'इस व्याख्या के अनुसार 'जलादित्रयोदश' इस कथन से भी अभाव सहित जलादि चतुर्दश का संग्रह होता ही है। व्यतिरेक-व्याप्ति का लक्षण समन्वय आदि व्याप्ति स्वरूप निरूपण के अवसर पर विशदरूप से वर्णित हो चुका है, वहां से ज्ञातव्य है।

तर्क-संग्रह

सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः। यथा धूमवत्त्वे हेतो पर्वतः। निश्चितसाध्यवान् सपक्षः यथा तत्रैव महानसम्। निश्चित-साध्याभाववान् विपक्षः यथा तत्रैव महाह्रदः।

अनुवाद

जिसमें साध्य सन्दिग्ध हो वह कहलाता है 'पक्ष', जैसे धूमवत्वहेतुक (वह्निसाध्यक) स्थल में पर्वत। जहां साध्य का निश्चय हो वह कहलाता है 'सपक्ष' जैसे उक्त स्थल में ही महानस। जिसमें साध्याभाव का निश्चय हुआ रहता है वह कहलाता है 'विपक्ष' जैसे वहां पर ही महाह्रद।

दीपिका

पक्षलक्षणमाह-सन्दिग्धेति। ननु श्रवणानन्तर-भावि-मननस्थलेऽ-व्याप्तिः। तत्र वदवाक्यैरात्मनो निश्चितत्वेन सन्देहाभावत्। किंच प्रत्यक्षेऽपि वह्नौ यथेच्छयानुमितिः तत्राव्याप्तिरिति चेन्न। उक्त-पक्षता-श्रयत्वस्य पक्षलक्षणत्वात्। सपक्षलक्षणमाह निश्चितेति। विपक्षलक्षणमाह निश्चितेति।

अनुवाद

पक्ष का लक्षण बतलाते हैं 'सन्दिग्ध' इत्यादि के द्वारा। श्रवण के अनन्तर होने वाले मनन स्थल में अव्याप्ति उपस्थित हो रही है। क्योंकि वहां वाक्य से आत्मनिश्चय हुए होने के कारण साध्य का संदेह रहता नहीं। एवं अग्निप्रत्यक्ष के होते हुए भी जहां इच्छा के बल से अनुमिति होती है तत्स्थलीय पक्ष में भी व्याप्ति आपन्न हो रही है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कथित पक्षता के

आश्रय को ही पक्ष मानना है, तदनुसार 'पक्षताश्रयत्व' को ही पक्ष का लक्षण कहना है।

विवरण

प्रश्न ग्रंथ का आशय यह है कि आत्मावाऽरेद्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः' इस श्रुतिवाक्य के अनुसार आत्मा को आप्त वाक्य से पूर्णरूपेण समझने के अनन्तर उस आत्मा का अनुमानात्मक मनन किया जाता है। वहां पक्षभूत आत्मा में पक्षलक्षण की अव्याप्ति हो रही है। क्योंकि पक्षभूत आत्मा में अस्तित्वात्मक साध्य मनन के पहले आप्त-वाक्य से निश्चित हुआ रहता है। तदनुसार आत्मा को सन्दिग्ध साध्यवान् नहीं कहा जा पायेगा। एवं पर्वत में अग्न्यात्मक साध्य प्रत्यक्षतः ग्रहीत होने पर भी इच्छा के प्रावल्यवश जायमान पर्वत-पक्षक अग्नि-साध्यक अनुमितिस्थल में पर्वत में पक्षलक्षण अव्याप्त हो रहा है। क्योंकि प्रत्यक्षतः उसमें अग्निनिश्चय होने के कारण पर्वत को सन्दिग्धसाध्यवान् नहीं कहा जा सकता। इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है 'न उक्तपक्षतालक्षणस्य' इत्यादि के द्वारा। यहां उक्त पक्षता पद से 'सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभाव' ज्ञातव्य है। इस पक्षता की विशद व्याख्या पहले की जा चुकी है।

तर्क-संग्रह

सव्यभिचारविरुद्धसत्प्रतिपक्षासिद्धवाधिताः पंच हेत्वाभासाः। सव्यभिचारो नैकान्तिकः। स त्रिविधः साधारणासाधारणानुपसंहारिभेदात्।

अनुवाद

दुष्ट हेतु के प्रभेद पांच है (१) सव्यभिचार (२) विरुद्ध (३) सत्प्रतिपक्ष (४) असिद्ध एवं (५) बाधित। इनके अंदर अनैकांतिक हेतु कहलाता है सव्यभिचार। वह तीन प्रकार का है साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी।

दीपिका

एवं सद्धेतून् निरूप्य असद्धेतून् निरूपयितु विभजते सव्यभिचारेति। अनुमिति-प्रतिबन्धक-यथार्थज्ञान-विषयत्वं हेत्वाभासत्वम्। सव्यभिचारं विभजते स त्रिविध इति।

अनुवाद

इस प्रकार सद्धेतु का निरूपण करके असद्धेतु के निरूपणार्थ उसका विभाजन करते हैं 'सव्यभिचार' इत्यादि द्वारा। अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धक होने वाले

यथार्थ ज्ञान का विषय होने वाले होते हैं हेत्वाभावस। सव्यभिचार का विभाजन करते हैं 'स त्रिविधः' इत्यादि के द्वारा।

विवरण

यहां चार प्रश्न हृदय में उपस्थित होते हैं। प्रथम यह कि 'हेत्वाभास' शब्द का अर्थ क्या है ? दूसरा यह कि उसका लक्षण क्या है ? तीसरा यह कि ग्रंथकार के द्वारा हेत्वाभास का निरूपण यहाँ ही क्यों किया गया है ? और चौथा यह कि हेत्वाभावस निरूपण का प्रयोजन क्या है ? इन प्रश्नों के अंदर प्रथम का उत्तर यह ज्ञातव्य है कि विग्रह भेद से हेत्वाभावस शब्द के अर्थ दो प्रकार के होते हैं। 'हेतुवत् आभासन्ते इति हेत्वाभासः। इस विग्रह वाक्य के अनुसार हेतु न होते हुए भी हेतु के समान प्रतीत होने वाले (अहेतु) कहलाते हैं हेत्वाभास। जबकि 'हेतोरा-भासाः हेत्वाभासाः' यह द्वितीय विग्रह स्वीकृत होता है तब हेत्वाभास शब्द का अर्थ होता है हेतुगत दोष। यहां मूलस्थ हेत्वाभास पद प्रथम व्याख्या के अनुसार दुष्ट बोधक रूप में उपन्यस्त हुआ है। ऐसा मानने पर ही 'सव्यभिचार विरुद्ध' इत्यादि कथन संगत होता है। क्योंकि व्यभिचार दोष से युक्त होने के कारण कोई हेतु ही 'सव्यभिचार' कहलाता है, तद्गत दोष नहीं। व्यभिचार विरोध सम्प्रतिपक्ष असिद्धि और बाध ये पांच हैं हेतुगत दोष। इन्हीं दोषों से युक्त होने कारण दुष्ट हेतु भी पंचविध होते हैं, जिनका निर्देश यहां मूल ग्रंथ में हुआ है। द्वितीय प्रश्न का उत्तर मूलानुसार यह ज्ञातव्य है कि 'दुष्ट' अर्थात् दोषयुक्त स्वरूप हेत्वाभास का लक्षण है। 'दोषत्रिशिष्टत्वम्' अर्थात् सदोष हेतु है हेत्वाभास। दोष का लक्षण दीपिका में 'अनुमिति-प्रतिबन्धक' इत्यादि के द्वारा बतलाया गया है। उक्त तृतीय प्रश्न का उत्तर यह ज्ञातव्य है कि सद्धेतु और असद्धेतु के रूप में अनुमापक हेतु के प्रभेद दो हैं। जिनके अंदर सद्धेतु का निरूपण अव्यवहित पूर्व में ही 'व्याप्ति' और पक्ष-धर्मता के निरूपण द्वारा किया गया है। क्योंकि व्याप्ति और पक्षधर्मता से युक्त हेतु ही कहलाते हैं सद्धेतु ! सद्धेतुत्व एवं असद्धेतुत्व इन दोनों के अंदर स्पष्ट विरोध के कारण सद्धेतु एवं हेत्वाभासात्मक असद्धेतु ये दोनों भी आपस में विरोधात्मक संबंध युक्त होते हैं। इस विरोधात्मक संबंध के एक संबंधी सद्धेतु के निरूपणानंतर उसके अपर संबंधी दुष्ट हेतु का स्मृत हो उठना स्वाभाविक है। क्योंकि एक संबंधी के ज्ञान से अपर संबंधी का स्मरण होता ही है। इसी लिए सद्धेतु निरूपण के अव्यवहित उत्तर हेत्वाभासात्मक असद्धेतु का निरूपण यहां किया गया है। कहने का सरल तात्पर्य यह कि 'स्मृति विषयत्वे सति उपेक्षानर्हत्व' अर्थात् स्मृत होते हुए उपेक्षणीय न होना है 'प्रसंग' संगति। यह संगति हेत्वाभास के लिए उपस्थित होने के कारण व्याप्ति पक्षधर्मता-निरूपमात्मक सद्धेतु-निरूपण के अव्यवहित उत्तर हेत्वाभास

का निरूपण किया गया है। अब रही हेत्वाभास के निरूपण के प्रयोजन की बात, तो उसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि हेत्वाभास निरूपण के प्रयोजन दो हैं। यथा एक तत्व निर्णय और दूसरा प्रयोजन है विजय। तात्पर्य यह कि दो मानव जहां परस्पर विरोधी पक्षों को अपनाकर प्रश्नोत्तरात्मक वाद विवाद करते हैं वहां यदि उन दोनों के बीच विजगीषा नहीं रहती, कोई स्पर्धा नहीं रहती है तो वहां उस विचार का, जिसके अंदर हेत्वाभासात्मक दोषों का उद्भावन, कथा को अंतिम निर्णयात्मक अवसान तक पहुँचाने के लिए अवश्य आश्रयणीय होता है। हेत्वाभास का उद्भावन उसके ज्ञान के बिना नहीं हो सकता और उसका ज्ञान वादियों को ग्रंथ में किये जाने वाले उसके निरूपण के बिना नहीं हो सकता। इसलिए तत्व निर्णय को हेत्वाभास विरूपण का प्रयोजन भली-भांति कहा जा सकता है। और दो विवादियों के बीच प्रतिस्पर्धा होने पर विजगीषा की विद्यमानता में भी हेत्वाभासात्मक दोष का उद्भावन स्वविपरीत वादी को परास्त करने के लिए नितांत अपेक्षित होता है। इसलिए विजय को भी उद्भावनीय हेत्वाभास के निरूपण का प्रयोजन मानना आवश्यक है।

उक्त प्रकार प्रसंग संगति का सूचन किया गया है दीपिका में 'एवं सद्धेतुन्निरूप्य' इत्यादि के द्वारा। सामान्य ज्ञान के अनन्तर विशेष जिज्ञासा होने पर विभाजन उचित होता है तदनुसार मूल ग्रंथ के द्वारा प्रथमतः उपस्थित किया जाने वाला दुष्ट हेतु का विभाजन संगत नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सामान्य ज्ञानार्थ दुष्ट हेत्वात्मक हेत्वाभास का कोई लक्षण मूलकार के द्वारा पहले उपस्थित नहीं किया गया है। इसलिए 'दोषवत्वं दुष्टवत्वम्' अर्थात् हेत्वाभासात्मक दोष से युक्त हेतु होता है दुष्टात्मक हेत्वाभास, इस प्रकार दुष्ट हेतु स्वरूप हेत्वाभास का लक्षण, उसके विभाजन के पूर्व समझ लेना होगा और इस दुष्टात्मक हेत्वाभास के लक्षण को समझने के लिए तत्पूर्व दोषात्मक हेत्वाभास का भी लक्षण समझ लेना होगा। इस अभिप्राय से दोषात्मक हेत्वाभास का लक्षण दीपिका में 'अनुमिति-प्रतिबन्धक' इत्यादि के द्वारा बतलाया गया है। इसका सरल अर्थ यह है कि अनुमिति के प्रतिबन्धक होने वाले यथार्थ ज्ञान का विषय होने वाला होता है दुष्ट हेत्वाभासात्मक असद्धेतु गत हेत्वाभासात्मक दोष। अनुमिति के पूर्व अनुमापक हेतु में हेत्वाभासात्मक दोष का ज्ञान हो जाने पर अनुमिति रुक जाती है, प्रतिबद्ध हो जाती है इसलिए हेत्वाभासात्मक दोष का ज्ञान होता है अनुमिति का प्रतिबंधक। अतः हेत्वाभासात्मक दोष उस अनुमिति प्रतिबंधक ज्ञान का विषय होता है। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि ह्रदो वह्न्यभाववान्' अर्थात् ह्रद अग्निवाला नहीं है इस प्रकार 'वह्न्यभाव-

वद्ह्रद' स्वरूप दोष का निश्चय रहने पर तादृश निश्चेता को 'ह्रदोवह्निमान्' अर्थात् ह्रद अग्निवाला है इस प्रकार अनुमिति हो पाती नहीं, रुक जाती है, इसलिए 'वह्नयभाववद्ह्रद' स्वरूपवाधात्मक दोष का निश्चय 'ह्रदोवह्निमान्' इस अनुमिति का प्रतिबंधक होता है। एतदनुसार 'वह्नयभाववद्ह्रद्ध' स्वरूप बाध दोषात्मक हेत्वाभास में हेत्वाभासलक्षण का समन्वय करते समय अनुमिति पद से ग्राह्य होगा 'ह्रदो वह्निमान्' यह अनुमिति, उसके प्रति प्रतिबंधक होने वाला यथार्थ ज्ञान होगा 'ह्रदो वह्नयभाववान्' ऐसा ज्ञान, और उस ज्ञान का विषय होगा 'वह्नयभावद्ध्रद' इसलिए उक्त 'अनुमिति-प्रतिबंधकयथार्थज्ञानविषयत्व' स्वरूप दोषात्मक हेत्वाभास का लक्षण 'वह्नयभाववद्ध्रद' स्वरूप बाध दोष में समन्वित होगा। 'स्वज्ञानविषय-प्रकृत-हेतुतावच्छेदकवत्व' संबंध से उक्त 'वह्नयभाववद्ध्रदात्मक बाध दोष 'ह्रदो वह्निमान् धूमात्' इस अनुमान स्थलीय धूम हेतु में आयेगा। अतः धूमहेतु दोषयुक्त होने के कारण दुष्टात्मक हेत्वाभास होगा। 'स्वज्ञानविषयप्रकृतहेतुतावच्छेदकत्व' इस संबंध के अंदर स्वपदग्राह्य होगा वह्नयभाववद्ध्रात्मक दोष, उसका ज्ञान होगा 'वह्नयभाववान् ह्रदो धूमश्च' ऐसा दोष एवं हेतु दोनों को विषय करने वाला एक समूहावलम्बन ज्ञान, उसका विषय हेतु होगा धूम, तादृश हेतुतावच्छेदक होगा धूमत्व, सो उक्त 'ह्रदो वह्निमान् धूमात्' इस अनुमान स्थलीय धूमात्मक असत् हेतु में आयेगा। इस प्रकार स्वपद ग्राह्य उक्त वाधात्मक दोष का संबंध धूम हेतु में आ सकने के कारण वह स्वपद ग्राह्य वाधदोष धूम हेतु पर आयेगा इसलिए वह वाधित कहलायेगा। उक्त दोष लक्षण के अंदर 'यथार्थ' पद न देने पर 'पर्वतो वह्निमाद् धूमात्' इस सदनुमान स्थलीय सद्धेतु धूम में भी दुष्टता फलतः असद्धेतुता स्वरूप हेत्वाभासता आपन्न हो उठेगी। क्योंकि 'पर्वतो वह्निमान' इस अनुमिति के प्रति प्रतिबंधक-भूत ज्ञान पद से 'पर्वतो वह्नयभाववान्' यह भ्रमात्मक ज्ञान हस्तगत हो पायेगा, क्योंकि यथार्थज्ञान' तो कहा जायेगा नहीं, और उस भ्रमात्मक बाधाज्ञान का विषय होगा 'वह्नयभाव', अतः वह होगा दोष, और उक्त प्रकार 'स्वज्ञान-विषय-प्रकृत-हेतुतावच्छेदकत्व' संबंध से वह धूमात्मक सद्धेतु पर इसलिए आ धमकेगा कि स्वज्ञान पद से 'वह्नयभावो धूमश्च' इत्यादि ज्ञान भली-भांति पकड़ा जा सकेगा। उक्त दोष लक्षण में यथार्थ पद देने पर दोष इसलिए वारित हो जायेगा कि उक्त 'वह्नयभाववान् पर्वतः' यह ज्ञान यथार्थ ज्ञान होगा नहीं। जो 'वह्नयभाववान् ह्रदः' इत्यादि ज्ञान यथार्थ होगा, सो प्रकृत 'पर्वतो वह्निमान्' इसका प्रतिबंधक होगा नहीं। अब यहां प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' इत्यादि व्यभिचारी अनुमान स्थलीय वह्निगत 'धमाभाववद्वृत्तित्व' आदि व्यभिचार दोष में उक्त दोषात्मक हेत्वाभास का लक्षण

नहीं समन्वित होगा। जिसका कुफल यह होगा कि 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' इस अनुमान स्थलीय अग्नि हेतु, जो कि व्यभिचारी होने के कारण तत्वतः असद्धेतु है, दोष-युक्त न हो सकने के कारण दुष्ट, असद्धेतु नहीं हो पायेगा। सद्धेतु और असद्धेतु का विभाजन अस्त-व्यस्त हो उठेगा। क्योंकि 'धूमाभाववद्वृत्तिर्वह्निः' यह व्यभिचारज्ञान व्याप्ति-ज्ञान का प्रतिबंधक होता है न कि 'पर्वतो धूमवान्' इस अनुमिति का। अतः अनुमिति-प्रतिबंधक-यथार्थ-ज्ञान पद से 'धूमाभाववद्वृत्तिः वह्निः' यह व्यभिचार ज्ञान हस्तगत होगा नहीं, तद्विषयत्व वह्निगत 'धूमाभाववद्वत्तित्व' में जा पायेगा नहीं जो कि तत्वतः व्यभिचार दोष है। इसका एक उत्तर यह ज्ञातव्य है कि उक्त दोष-लक्षण में 'अनुमिति-प्रतिबंधक' इसके स्थान में 'अनुमिति-तत्करण-प्रतिबंधक' ऐसा कहना चाहिए। ऐसा कहने पर 'धूमाभावद्वृत्तित्व' स्वरूप व्यभिचार में दोष-लक्षण का और उक्त अग्नि हेतु में तदनुरूप दुष्ट लक्षण का समन्वय इसलिए हो जायेगा कि 'धूमाभाववद्वृत्तिर्वह्निः' यह व्यभिचार ज्ञान' 'पर्वतो धूमवान्' इस अनुमिति के प्रति भले ही न प्रतिबंधक हो किंतु 'वह्निः धूम-व्याप्यः' इस प्रकार होने वाले व्याप्ति-ज्ञान के प्रति जो कि अनुमिति के प्रति करण होता है प्रतिबंधक होता है। इसलिए 'अनुमितितत्करणान्यतर-प्रतिबंधक-यथार्थज्ञानविषयत्व' स्वरूप हेत्वाभास-लक्षण के समन्वित होने में बाधा नहीं बतलायी जा सकती। द्वितीय उत्तर यह ज्ञातव्य है कि दोष का लक्षण यथाश्रुत ही रखा जाय अर्थात् दोषत्मक हेत्वाभास का लक्षण 'अनुमिति प्रतिबंधक यथार्थज्ञान विषयत्व' यही माना जाय किंतु एतल्लक्षण घटक 'अनुमिति' पद से केवल 'पक्षः साध्यवान्' ऐसी अनुमिति विवक्षित नहीं। किंतु 'साध्य-व्याप्यहेतुमान् पक्षः साध्यवान्' इस प्रकार अनुमिति विवक्षित है। ऐसा मान लेने पर उक्त व्यभिचार में दोष लक्षण की अव्याप्ति इसलिए वारित हो जायेगी कि उक्त अनुमिति घटक 'पक्षः साध्यवान्' इस अंश को जिस प्रकार 'पक्षः साध्याभाववान्' यह बाध-निश्चय रोकता है, उसी प्रकार उक्त अनुमिति घटक 'साध्यव्याप्य हेतुमान् पक्षः' इस अंश को व्यभिचार ज्ञान अनायास रोक लेगा। क्योंकि 'साध्य-व्यभिचारी हेतुः' ऐसा व्यभिचार ज्ञान होने पर 'साध्य-व्याप्यो हेतुः' यह व्याप्ति-ज्ञान नहीं हो पायेगा और 'साध्य-व्याप्यो हेतुः' ऐसा ज्ञान न हो सकने पर 'साध्य व्याप्य हेतुमान् पक्षः' ऐसा ज्ञान नहीं हो पायेगा। क्योंकि विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान आवश्यक हुआ करता है। जिस व्यक्ति को 'दण्डवान् पुरुषः' यह विशिष्ट ज्ञान होता नहीं उसे 'दण्डवत्पुरुषवान् देशः' ऐसा ज्ञान होता नहीं। सुतरां व्यभिचार ज्ञान से, यथा 'धूमाभाववद्वृत्तिर्वह्नि' इस व्यभिचार-ज्ञान से धूम-व्याप्य-वह्निमान् पर्वतो धूमवान् यह अनुमिति प्रतिबद्ध हो जायेगी, तदनुसार अनुमिति-प्रतिबंधक-यथार्थ-ज्ञान पद से 'धूमाभाववद्वृति वह्निः' यह

व्यभिचार-ज्ञान हस्तगत होगा, तादृश-ज्ञान-विषयत्व वह्निगत 'धूमाभाववद्वृत्तित्व' में जायेगा उक्त दोष-लक्षण का समन्वय हो जायेगा। और ऐसा हो जाने पर वह्नि हेतु भी व्यभिचारी फलतः दुष्ट हेतु हो जायगा किसी प्रकार की अनुपपत्ति रहेगी नहीं। किंतु यहां यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि पूर्व-विहित व्याप्ति-विवेचन के अनुसार 'हेतुव्यापकसाध्य-सामानाधिकरण्य को व्याप्ति मानने पर व्यभिचार का स्वरूप 'साध्याभाववद्वृत्तित्व' नहीं होगा किंतु 'हेतुसामानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकधर्मवत्त्व' होगा। यह व्यभिचार स्वतः यद्यपि हेतुगत न होकर साध्यगत होगा, तथापि परंपरा-संबंध से उसे हेतुगत बनाया जा सकेगा। इसलिए व्यभिचार-ज्ञान-हेतु-विशेष्यक हो पायेगा उस ज्ञान का आकार 'हेतुः साध्यव्यभिचारी' यह हो पायेगा। उक्त दो उत्तर के अतिरिक्त तीसरा उत्तर यह भी दिया जा सकता है कि अनुमिति के अंदर लिंगोपहित-लैंगिक-मान के आदर-पक्ष में उक्त प्रश्न सर्वथा निरवकाश होगा कि 'अनुमिति-प्रतिबंधक-यथार्थ-ज्ञान-विषयत्व' स्वरूप दोष-लक्षण व्यभिचार दोष में अव्याप्त हो रहा है। क्योंकि लिंगोपहित-लैंगिक-मान-वाद में अनुमिति नियमतः सर्वत्र स्वतः 'साध्य-व्याप्य-हेतुमान्-पक्षः साध्यमान्' ऐसा ही होती है। फलतः प्रकृत पक्षतावच्छेदकावच्छिन्न - विशेष्यता - निरूपित-साध्यतावच्छेदक-सम्बन्धावच्छिन्न-साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-प्रकारता, साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-व्याप्ति-विशिष्ट-हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न-प्रकारता-शाल्यनुमितित्वावच्छिन्न-प्रतिबध्यता-निरूपित-प्रतिबंधकताशालि-यथार्थज्ञान-विषयत्वं हेत्वाभासत्वम्' यह दोषात्मक हेत्वाभास का लक्षण प्राप्त होता है। ह्रदोवह्निमान् धूमात् यहां पर प्रकृत पक्ष है ह्रद, पक्षता है ह्रद में, प्रकृत पक्षतावच्छेदक हुआ ह्रदत्व, तादृशह्रदत्वावच्छिन्न-विशेष्यता आयी ह्रद में, उस विशेष्यता से निरूपित होने वाली साध्यतावच्छेदक-सम्बन्धावच्छिन्न-साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-प्रकारता हुई संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न-वह्नित्वावच्छिन्न प्रकारता और उक्त विशेष्यता से निरुपित साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-निरूपितव्याप्ति-विशिष्टहेतुतावच्छेदकावच्छिन्न-प्रकारता हुई वह्नित्वावच्छिन्न-निरूपित-व्याप्ति-विशिष्ट-धूमत्वावच्छिन्न प्रकारता, तत् शाली अनुमिति हुई 'ह्रदः संयोगेन वह्निमान्' वह्निव्याप्य-धूमवांश्च' इत्याकारक अनुमिति, तादृश अनुमित्वावच्छिन्न-प्रविबध्यता-आई उक्त 'ह्रदः संयोगेन वह्निमान् वह्निव्याप्य धूमवांश्च' इस अनुमिति में, तादृश प्रतिवध्यता निरुपित प्रतिबंधकता गयी, 'ह्रदो वह्न्यभाववान्' उस बाधनिश्चय में, निश्चय का विषय हुआ 'वह्न्यभाववद्ध्रद', उक्त विषयत्व आया 'वह्न्यभाववद्ह्रद' में अतः लक्षण-समन्वय हुआ। इसी प्रकार अन्यत्र भी दोषों में इस दोष के लक्षण का समन्वय समझना चाहिए। यद्यपि उक्त हेत्वाभास-लक्षण को ज्ञायमान दोषों को

प्रतिबंधक मानते हुए 'अनुमिति प्रतिबन्धकाः ये व्यभिचारादयः, तेषां यत् यथार्थ ज्ञानं, तद्विषयत्वम्' अर्थात् अनुमिति के जो प्रतिबंधक, उनके जो यथार्थ ज्ञान, उनके अंदर किसी एक का विषय होने वाला है 'हेत्वाभास' इस व्याख्या के अनुसार दुष्टात्मक हेत्वाभास का भी लक्षण माना जा सकता है। 'ह्रदोवह्नि-मान् धूमात्' इस वाधस्थल में अनुमिति पद से गृहीत होगी 'ह्रदोवह्निमान्' यह अनुमिति उसका प्रतिबंधक होगा 'वह्न्यभाववद्ह्रद' स्वरूप बाध दोष, उसका यथार्थ ज्ञान होगा 'स्वज्ञान-विषय-प्रकृत-हेतुतावच्छेदकवत्व-सम्बन्धेन वह्न्यभाव-वद्ह्रदवान धूमः' यह ज्ञान, तद्विषयत्व वाधित रूप में दुष्ट होने वाले धूम में आयेगा इसलिए लक्षण-समन्यव होगा। इस व्याख्या के पक्ष में स्वारस्य यह प्राप्त होता है कि मूल और उसकी दीपिका दोनों में आये 'हेत्वाभास' पद एका-र्थक होगें। परन्तु दोष-ज्ञान को ही प्रतिबंधकता अधिक अनुभवसिद्ध होने के कारण इस द्वितीय व्याख्यापक्ष को उतना अधिक आदर नहीं दिया जा सकता।

तर्क-संग्रह

तत्र साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनेकान्तिकः। यथा पर्वतोऽग्निमान् प्रमेय-त्वादिति। प्रमेयत्वस्य वह्न्यभाववति ह्रदे विद्यमानत्वात्। सर्वपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः, यथा शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादिति। शब्दत्वं हि सर्वेभ्यो नित्येभ्योऽनित्येभ्यो व्यावृत्तं शब्दमात्रवृत्ति। अन्वयव्यतिरेक-दृष्टान्तरहितोऽनुपसं-हारी। यथा सर्वमनित्यं प्रमेयत्वादिति। अत्र सर्वस्यापि पक्षत्वात् दृष्टान्तो नास्ति।

अनुवाद

साध्याभाव के आधार में रहने वाला हेतु सव्यभिचार हेतुओं के अंदर कहलाता है 'साधारण' व्यभिचारी। जैसे पर्वतोवह्निमान् प्रमेयत्वात्' इस अनु-मान स्थल में प्रमेयत्व हेतु वह्न्यभाव के आधार ह्रद आदि में रहने के कारण होता है असाधारण-व्यभिचारी। जैसे 'शब्दः अनित्यः शब्दत्वात्' इस अनुमान स्थल में शब्दत्व हेतु होता है असाधारण। क्योंकि शब्दत्व हेतु सभी नित्यों एवं अनित्यों में नहीं रहता हुआ शब्द पक्ष में रहता है। अन्वय-दृष्टान्त एवं व्यति-रेक-दृष्टान्त से रहित हेतु होता है अनुपसंहारी। क्योंकि वहां सांसारिक सभी पदार्थ पक्ष हो जाने के कारण न अन्वय-दृष्टान्त मिलता है और न व्यतिरेक-दृष्टान्त।

दीपिका

साधारणं लक्षयति तत्रेति। उदाहरति यथेति। असाधारणं लक्षयति सर्वेति। अनुपसंहारिणो लक्षणमाह अन्वयेति।

अनुवाद

साधारण का लक्षण करते हैं तत्र इत्यादि। उदाहरण देते हैं यथा इत्यादि के द्वारा। असाधारण व्यभिचारी का लक्षण करते हैं सर्व सपक्ष इत्यादि के द्वारा। अनुपसंहारी का लक्षण बतलाते हैं अन्वय इत्यादि के द्वारा।

विवरण

सव्यभिचार का सामान्य लक्षण बतलाये बिना ही साधारण असाधारण आदि रूप में उसका विभाजन करना उचित नहीं। यह आपेक्ष इसलिए उचित नहीं कहा जा सकता कि उक्त प्रकार विभाग के अनंतर 'साधारणासाधारणानुपसंहार्यन्यतमत्वम्' अर्थात् साधारण असाधारण और अनुसंहारी इन तीनों के अंदर प्रत्येक को कहा जा सकता है सव्यभिचार, इस प्रकार सव्यभिचार का निर्वचन सहजतः प्राप्त हो जाता है। साधारण का लक्षण मूलग्रंथ से लब्ध होता है 'साध्याभाववद्धवृत्तित्व' अर्थात् साध्याभाव के आधार में अस्तित्व। किंतु इस यथाश्रुत लक्षण को मान्यता देने पर 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' यहां सद्धेतु-भूत धूम भी साधारण लक्षणाक्रांत हो उठेगा, अव्याप्ति हो जायेगी क्योंकि महानसीय वह्न्यभाव के आधार-भूत पर्वत में धूम का अस्तित्व होता ही है। अतः साध्याभाववद्वृत्तित्व का अर्थ 'साध्यतावच्छेदक-सम्बन्धावच्छिन्न-साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावाधिकरणनिरूपित-हेतुतावच्छेदकसंबंधावच्छिन्न वृत्तित्व' समझना चाहिए। 'धूमवान् वह्नेः' इस अनुमानस्थलीय वह्नि हेतु में संयोग-संबंधावच्छिन्न-धूमत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावाधिकरण तप्तायः पिण्ड निरूपित संयोगसंबंधावच्छिन्नवृत्तित्व वह्निहेतु में जाता है अतः लक्षण समन्वय होता है। इस परिष्कृत-निर्वचन के अंदर प्रतियोगिता में 'साध्यतावच्छेदकसंबंधावच्छिन्नत्व विशेषण न देने पर साध्याभाव पद से 'समवायेन वह्निर्नास्ति' इस अभाव को लेकर तदधिकरण-पर्वत-निरुपित-वृत्तत्व धूमहेतु चले जाने के कारण 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' 'इस सदनुमान-स्थलीय धूमात्मक सद्धेतु में अतिव्याप्ति हो उठेगी। वृत्तिता में हेतुतावच्छेदकसंबंधावच्छिन्नत्व विशेषण न देने पर वह्न्यभाव के आधार जल ह्रद में, कालिक-संबंध से धूम के अस्तित्व के कारण 'पर्वतो वह्नमान् धूमात्' यहां अव्याप्ति आपन्न होगी। और वृत्तिता में उस विशेषण के देने पर अव्याप्ति इसलिए वारित हो जाती है कि वह्न्यभाव के आधारभूत उक्त जल ह्रद में हेतुतावच्छेदक-संयोग-संबंध से धूम रहता नहीं इसलिए जलह्रद-निरूपित-संयोग-संबंधावच्छिन्न-वृत्तित्वाभाव धूम हेतु में आ जाता है, लक्षण-समन्वय हो जाता है। यद्यपि यह साधारण का लक्षण 'वह्निमान् जलात्' इस असदनुमान स्थलीय जलात्मक विरुद्ध हेतु में भी चला जाता है परंतु वहां जल हेतु को साधारण और

विरुद्ध उभय-स्वरूप मान लेने में कोई क्षति नहीं बतलायी जा सकती। क्योंकि उस जल हेतु को वहां दुष्ट हेतु तो माना ही जायेगा। तदनुसार उसमें साधारण्य जाने पर भी दुष्टता की आपत्ति नहीं बतलायी जा सकती। 'सर्व सपक्ष-विपक्ष-व्यावृत्तः' इसके द्वारा असाधारण व्यभिचारी का लक्षण बतलाया गया है। इसके अनुसार 'सपक्ष निरूपित वृत्तित्वत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता का भाववत्त्वे सति विपक्ष-निरूपित वृत्तित्वत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभाववत्त्वम् असाधारणत्वम्' यह लक्षण समझना चाहिए। 'सर्वसपक्षविपक्ष' यहां पर 'सर्व' पद इसी अर्थ के लाभार्थ प्रयुक्त हुआ है। निश्चित-साध्यवान् होता है सपक्ष यह बात आगे बतलायी जानेवाली है। वस्तुतः इस असाधारण-लक्षण के अंदर 'विपक्षावृत्तित्व' यह अंश देने की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि इस विशेषण का प्रयोजन विरुद्ध हेतु का निराकरण ही बतलाया जा सकता है। जब कि विरुद्ध हेतु को भी असाधारण मान लेने में कोई आपत्ति बतलायी नहीं जा सकती तब उसके निवारणार्थ विशेषण देना व्यर्थ ही कहा जायेगा। फलतः 'निश्चितसाध्यवन्निरूपित-वृत्तित्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावकत्वं असाधारणत्वम् 'यही निर्वचन असाधारण का मान्य है। लक्ष्य में लक्षण-समन्वय स्वयं मूलकार ने बतलाया है। 'शब्दः अनित्यः शब्दत्वात्' इस अनुमान स्थल में यद्यपि शब्दत्व हेतु यों सद्धेतु है, फिर भी जब कि पक्षभूत शब्द में अनित्वात्मक साध्य संदिग्ध रहेगा, तब निश्चित साध्यवान् घट आदि में अवर्त्त मान होने के कारण शब्दत्व हेतु असाधारण व्यभिचारी ही माना जायेगा। किंतु नवीन विवेचकों का इस संबंध में मत यह है कि असाधारण्य को अनित्य दोष अर्थात् कादाचिक रूप में दोष मानना उचित नहीं। इसलिए सपक्ष के लक्षण में निश्चयांश निवेश्य नहीं। फलतः 'साध्यवान् सपक्षः' इतना ही सपक्ष का निर्वचन मान्य है। ऐसा होने पर शब्दातमक पक्ष भी अनित्यत्वात्मक साध्यवान् होने के कारण सपक्ष कहलायेगा और उसमें शब्दत्व हेतु अस्तित्वशील होने के कारण उसमें 'आवृत्ती' न कहलायेगा। सपक्षवृत्तित्व शब्दत्व में नहीं आयेगा अतः 'शब्दोऽनित्यः शब्दत्वात्' इस अनुमान स्थल का हेतुभूत शब्दत्व कभी असाधारण नहीं होगा सद्धेतु ही रह जायेगा। 'अन्वयव्यतिरेक दृष्टांतरहितः' इत्यादि के द्वारा मूल ग्रंथ में अनुपसंहारी-व्यभिचारी का लक्षण बतलाया गया है। तदनुसार 'किंचिद्धर्मिक निश्चयविषयताशून्य साध्यकत्वे सति किंचिद्धर्मिकनिश्चय-विषयताशून्य साध्याभावकत्वं अनुपसंहारित्वम्' यह अनुपसंहारी व्यभिचारी का लक्षण प्राप्त होता है। 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस सदनुमान स्थल का हेतुभूत धूम, महानसधर्मिक वह्नि-प्रकारक 'धूमवन्महानसं-वह्निमत्' इत्याकारक-निश्चयीय-प्रकारतास्य-विषयतावत्साध्यक ही हो जाता है, तादृश-निश्चय-विषयताशून्य-साध्यक नहीं, एवं पृथिवी इतरेभ्योभिधते गंधवत्वात् यहां पर गंधवत्व हेतु में

'गंधाभाववज्जलं पृथिवीतरभेदाभाववत्' इत्याकारक जल-विशेष्यक-पृथिवीतर-भेदाभावस्वरूप-साध्याभाव-प्रकारक-निश्चय-विषयता-शालिसाध्यकत्व ही आता है तादृश-विषयता-शून्य-साध्यकत्व आता नहीं अतः अन्वयी किंवा व्यतिरेकी किसी प्रकार सद्धेतु में अतिव्याप्ति होगी नहीं। और 'सर्व प्रमेयं अभिधेयत्वात्' यहां पर सभी पक्ष हो जाने के कारण प्रत्येक सांसारिक वस्तु सन्दिग्धसाध्यवान् ही हो जाती है, न कोई निश्चित-साध्यवान् हो पाता है और न कोई निश्चित-साध्याभाववान्। अतः प्रमेयत्वात्मक साध्य और प्रमेयत्वाभावात्मक साध्याभाव ये दोनों ही 'किंचित्धर्मिकनिश्चयविषयताशून्य-साध्यकत्व एवं किंचिद्धर्मिक-निश्चय-विषयता शून्य-साध्याभावकत्व, दोनों दल आ जाते हैं लक्षण समन्वित हो जाता है। किंतु नवीनों का कहना इस संबंध में यह है कि अनुपसंहारी का लक्षण 'अत्यंताभावाप्रतियोगि-साध्यकत्व' अर्थात् यद्धेतुकसाध्य का अत्यंताभाव कहीं भी न मिल पाये वह हेतुक कहलाता है अनुपसंहारी। उक्त 'सर्व प्रमेयं अभिधेयत्वात्' इस अनुमान-स्थल में अभिधेयत्व हेतु इसलिए अनुपसंहारी होता है कि उसके साध्यभूत-प्रमेयत्व का अत्यंताभाव कहीं मिलता नहीं, साध्यभूत-प्रमेयत्व अत्यंताभावाप्रतियोगी हो जाता है। सुतरां अभिधेयत्व हेतु अत्यंताभावा-प्रतियोगिसाध्यक' हो जाता है। ऐसा कहने वाले नवीनों का आशय यह है कि यह कोई अनिवार्य नियम नहीं कि पक्ष में साध्य का संदेह रहेगा ही। क्योंकि जहां सिद्धि के रहते हुए भी सिषाधयिषा के बल से अनुमिति होती है वहां पक्ष में साध्य का सन्देह रहता नहीं। ऐसी परिस्थिति में उक्त 'सर्व प्रमेयं अभिधेय-त्वात् 'इस अनुमान-स्थल में पक्षेकदेश घट पट आदि में भी साध्य निश्चय हो सकता है। इसलिए साध्य किंचिद्धर्मिक-निश्चय-विषयताशून्य नहीं हो पायेगा, तादृश-साध्यकत्व स्वरूप अनुपसंहारी का लक्षण अभिधेयत्व हेतु में नहीं समन्वित हो पायेगा अतः वह लक्षण अनुपसंहारी का किया जा सकता नहीं। और विचार करने पर उस लक्षण में गौरव का भी प्रतीत होता है।

तर्क-संग्रह

साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादिति। कृतकत्वं हि नित्यत्वाभावेनानित्यत्वेन व्याप्तम्। यस्य साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते स सत्प्रतिपक्षः। यथा शब्दो नित्यः श्रावणत्वात् शब्दत्ववत्। शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात् घटवदिति। असिद्धस्त्रिविधः आश्रयासिद्धः स्वरूपासिद्धो व्याप्यत्वासिद्धश्चेति। आश्रयासिद्धो यथा गगनारबिन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवदिति। अत्र गगनारविन्दमाश्रयः स च नास्त्येव। स्वरूपासिद्धो यथा शब्दो नित्यश्चाक्षुषत्वात् रूपवदिति। अत्र चाक्षुषत्वं पक्षे नास्ति शब्दस्य श्रावणत्वात्।

अनुवाद

जहां-जहां साध्याभाव रहे वहां-वहां रहने वाला हेतु कहलाता है 'विरुद्ध'। जैसे शब्दः नित्यः कृतकत्वात् यहां पर कृतक्त्व हेतु। क्योंकि नित्यत्वाभाव स्वरूप अनित्यत्व जहां-जहां है वहां-वहां कृतकत्व रहता है। जिस हेतु के साध्य के अभाव का साधक दूसरा हेतु उपस्थित हो, वह कहलाता है सत्प्रतिपक्ष । जैसे 'शब्दः नित्यः श्रावणत्वात् शब्दत्ववत्' इस अनुमान स्थल में यदि 'शब्दः अनित्यः कृतकत्वात्' यह भी अनुमान उपस्थित हो तो श्रावणत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष होता है। असिद्ध के प्रभेद तीन हैं—आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध। आश्रया सिद्ध जैसे कि–'गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्' यहां अरविन्दत्व हेतु। क्योंकि यहां गगनारविन्द स्वरूप आश्रय अर्थात् पक्ष ही अप्रसिद्ध है। स्वरूपासिद्ध जैसे कि–'शब्दः अनित्यः चाक्षुषत्वात् रूपवत्' यहां चाक्षुषत्व हेतु। क्योंकि पक्षभूत शब्द में चाक्षुषत्व रहता नहीं। कारण शब्द तो श्रावण होता है न कि चाक्षुष।

दीपिका

विरुद्धं लक्षयति साध्येति। सम्प्रतिपक्षं लक्षयति यस्येति। असिद्धं विभजते असिद्ध इति। आश्रयासिद्धमुदाहरति गगनेति। स्वरूपासिद्धमुदाहरति शब्द इति।

अनुवाद

विरुद्ध का लक्षण करते हैं 'साध्य' इत्यादि के द्वारा। सत्प्रतिपक्ष का लक्षण बतलाते हैं—'यस्य' इत्यादि के द्वारा। असिद्ध का विभाजन करते हैं 'असिद्ध' इत्यादि के द्वारा। आश्रयासिद्ध का उदाहरण देते हैं 'गगनारविन्द' इत्यादि के द्वारा। स्वरूपासिद्ध का उदाहरण उपस्थित करते हैं शब्द इत्यादि के द्वारा।

विवरण

'साध्याभाव-व्याप्ति-विशिष्टत्वम्' यह विरुद्ध हेतु का लक्षण मूल ग्रंथ से प्राप्त होता है। इसके अंदर व्याप्ति पद से ग्राह्य है 'तदभाववदवृत्तित्व'। यहां 'व्याप्ति' पद साध्याभाव पद के आगे श्रूयमाण है अतः व्याप्तिघटक 'तत्' पद से उसी का ग्रहण होगा। तदनुसार 'साध्याभाव-व्याप्ति' इसका अर्थ प्राप्त होगा 'साध्याभावाभाववदवृत्तित्व'। द्वितीय अभाव अर्थात् अभाव का अभाव प्रथम अभाव का प्रतियोगी स्वरूप होता है, तदनुसार साध्याभावाभाव साध्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है। इसलिए पर्यवसित रूप में 'साध्यवदवृत्तित्व' ही विरुद्ध हेतु के लक्षण रूप में प्राप्त होता है। यद्यपि विरुद्धत्व के इस पर्यवसित

स्वरूप तक पहुँचने पर असाधारण्य के साथ ऐक्य की शंका आ उपस्थित होती है, तथापि असाधारण्य को 'निश्चित-साध्यवदवृत्तित्व' मानकर निश्चयांश निदेशाधिक्य-प्रयुक्त, असाधारण्य को निश्चयाघटित-विरुद्धत्व से अलग समझा जा सकता है। जो नवीन नैयायिक लोग असाधारण्य शरीर में भी निश्चय का निवेश मानते नहीं वे लोग 'साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः' यहां आई हुई व्याप्ति को व्यतिरेक-व्याप्ति-स्वरूप मानकर विरुद्धत्व और असाधारणत्व इन दोनों में अंतर बतलाते हैं। व्यतिरेक व्याप्ति है 'तदभावव्यापकीभूताभाव-प्रतियोगित्व' यह पहले बतलाया जा चुका है। इस व्याप्ति घटक 'तत्' पद से गृहीत होगा 'साध्याभाव'। तदनुसार हेतु पर आने वाला 'साध्याभावाभावव्यापकीभूताभाव-प्रतियोगित्व' यहां भी उक्त युक्ति के अनुसार साध्याभावाभाव साध्य स्वरूप होने के कारण साध्य-व्यापकीभूताभाव-प्रतियोगित्व है विरुद्धत्व यह पर्यवसित होता है। मूलकार के द्वारा विरुद्ध के उदाहरण रूप में उपस्थापित 'शब्दः नित्यः कृतकत्वात्' इस अनुमानस्थल में कृतकत्व हेतु में इस लक्षण का समन्वय इस प्रकार समझना चाहिए कि साध्यभूत नित्यत्व के आधारभूत परमाणु आकाश आदि में कभी कृतकत्व रहेगा नहीं, इसलिए कृतकत्वाभाव अवश्य रहेगा, तदनुसार साध्य-व्यापकीभूताभाव होगा कृतकत्वाभाव, उसका प्रतियोगी होगा कृतकत्व। अतः साध्यव्यापकीभूताभाव-प्रतियोगित्व कृतकत्व हेतु में आयेगा लक्षण-समन्वय होगा। कृतकत्व है जन्यत्व, फलतः उत्पत्तिशीलता। मूल में—'साध्याभाव साधकं' इत्यादि के द्वारा 'सत्प्रतिपक्ष' का परिचय दिया गया है। अभिप्राय यह है कि वादी एवं प्रतिवादी के द्वारा यदि परस्पर विरुद्ध साध्यक दो परामर्श उपस्थापित होते हैं तो हेतुगत बलाबल निर्णय न होने तक अनुमिति रुक जाती है अतः प्रथम पक्ष का हेतु सत्प्रतिपक्ष हो जाता है। सत्प्रतिपक्ष स्थल में न साध्य की सिद्धि हो पाती है और न साध्याभाव की। क्योंकि साध्य का साधक परामर्श साध्याभाव की सिद्धि में बाधक हो जाता है, और साध्याभाव का साधक परामर्श बाधक हो जाता है साध्य की सिद्धि में। यथा-यदि एक व्यक्ति को 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति का साधक 'वह्नि-व्याप्य धूमवान् पर्वतः' ऐसा परामर्श स्वतः होता है और उसी समय उसके विपक्षी के द्वारा पर्वत में अग्न्यभाव का साधक 'वह्न्यभावव्याप्य-पाषाणमत्ववान्' अर्थात् यह पर्वत अग्न्यभाव के प्रति व्याप्य होने वाले पाषाण-मयत्व से युक्त है इस प्रकार शाब्दबोधात्मक परामर्श का जनक वाक्य उपस्थापित होने पर तदनुरूप साध्याभाव साधक द्वितीय परामर्श होने के कारण 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमिति हो पाती नहीं और अग्नि-साधक प्रथम परामर्श के अस्तित्व के कारण 'पर्वतो-वह्निमान्' यह अनुमिति भी हो पाती नहीं अतः धूम हेतु सत्प्रतिपक्ष हो जाता है। 'सत्प्रति पक्ष' शब्द की व्याख्या 'सन् = विद्यमानः,

प्रतिपक्षः = विरोधी = साध्याभाव साध्य को हेतुर्यस्य, स सत्प्रतिपक्षः' यह ज्ञातव्य है। 'रत्न कोशकार' नाम से प्रसिद्ध एक महान् नव्य-नैयायिक का मत इस संबंध में यह पाया जाता है कि उक्त सत्प्रतिपक्ष की परिस्थिति में अनुमिति का सर्वथा अभाव होता है, न साध्य की अनुमिति होती है और न साध्याभाव की, यह मान्य नहीं है। किंतु तादृश स्थल में दोनों विरोधी परामर्श अपने-अपने साध्य की सिद्धि में सक्षम होते हैं अतः एक ही पक्षात्मक धर्मी में साध्य और साध्याभाव दोनों कोटियों को विषय करने वाली एक अनुमिति होती है अतः अनुमिति संशयाकार हो जाती है। सम्प्रति-पक्ष के संबंध में एक विचारणीय विषय यह भी उपस्थित होता है कि जब सत्प्रतिपक्ष स्थल में दोनों ही हेतु अपने-अपने साध्य के साधन में विफल होते हैं तब दोनों हेतुओं को सत्प्रति पक्ष अर्थात् दुष्ट माना जाय या एक मात्र उस हेतु को जो कि विवेचन के द्वारा बलाबल भाव निश्चित हो जाने पर तत्वतः दुर्बल निश्चित होता है ? तो इस संबंध में भी विवेचकों में मतभेद पाया जाता है। जो लोग सत्प्रतिपक्ष दोष को नित्य दोष मानते हैं वे यह कहते हैं कि अदुष्ट हेतु भला दुष्ट कैसे हो सकता ? अतः पीछे दुर्बल रूप से निश्चित होने वाला एक मात्र हेतु सत्प्रतिपक्ष होता है दुष्ट होता है, द्वितीय नहीं। किंतु जो लोग सत्प्रतिपक्ष को अनित्य दोष मानते हैं वे यह कहते हैं कि जब कुछ देर के लिए अनुमिति दोनों ओर की रूक जाती है तब मध्यवर्ती कुछ समय के लिए जब तक कि हेतुगत बलाबल भाव का निर्णय हो नहीं जाता तब तक के लिए उक्त हेतु के अंतर्गत होने वाले सद्धेतु को भी दुष्ट हेतु अर्थात् सत्प्रतिपक्ष या सत्प्रति-पक्षित मानना उचित है। फलतः जो लोग सत्प्रतिपक्ष को नित्य दोष मानते हैं उनके मत में कुल उदाहरण स्थल में दोनों ओर की अनुमिति रूकने पर भी, फलतः अग्नि और उसके अभाव दोनों की अनुमिति उभय परामर्श के संबंध स्थल में न होने पर भी, तत्त्वतः दुष्ट वह पाषाणमयत्व हेतु ही होता है जो कि अग्न्य-भाव के साधक रूप में परामर्श-विषय रूप से उपस्थापित होता है। धूमहेतु सत्प्रतिपक्ष होता नहीं क्योंकि वह तत्त्वतः अदुष्ट होने के कारण दुष्ट हो सकता नहीं। और जो लोग सत्प्रतिपक्ष को अनित्य दोष मानते हैं वे लोग मध्यवर्ती कुछ काल के लिए अर्थात् परामर्श-द्वय-संबलन काल तक के लिए धूम हेतु को भी दुष्ट मानते हैं। सत्प्रतिपक्ष हेतु का निस्कृष्ट लक्षण 'अग्रहीताप्रामाण्यक-साध्य-व्याप्यवत्त्वोपस्थिति-कालीनागृहीताप्रामाण्यक-साध्याभावव्याप्यवत्त्वोपस्थितिविष-यत्व' समझना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि जिसमें अप्रामाण्य का ज्ञान न हो ऐसी जो 'साव्य व्याप्यवत्ता की उपस्थिति' अर्थात् साध्य व्याप्य हेतुमान् पक्षः ऐसा परामर्श, तत्कालीन अर्थात् उसके अस्तित्वकाल में होने वाली जो उक्त प्रकार अगृताप्रामाण्यक 'साध्यताभाव-व्याप्यवत्ता की उपस्थिति' अर्थात् 'साध्या-

भाव-व्याप्यवान् पक्षः' ऐसा साध्याभाव-साधक-परामर्श, उसका विषय होना है सत्प्रतिपक्षता। तदनुसार उक्त प्रकार से विषय होने वाला हेतु है सत्प्रतिपक्ष मूलकारोक्त 'शब्द नित्यः कृतकत्वात्' इस उदाहरण-स्थल में इस लक्षण का समन्वय इस प्रकार समझा जा सकता है कि अगृहीताप्रामाण्यक अर्थात् अप्रमाण्य-ज्ञान-रहित साध्यव्याप्यवत्ता की उपस्थिति होगी अनित्यत्वव्याव्य-कृतकत्ववान् शब्दः यह परामर्श और तत्कालीन अगृहीताप्रामाण्यक-साध्याभाव-व्याप्यवत्ता की उपस्थिति होगी 'अनित्यत्वाभावव्याप्य-श्रावणत्ववान् शब्दः' ऐसा परामर्श, उसका विषय होगा श्रावणत्व, अतः सत्प्रतिपक्ष दुष्ट कहलायेगा। यद्यपि इसे सत्प्रतिपक्ष दोष का भी लक्षण कहा जा सकता है किंतु जबकि यह दुष्ट तक का लक्षण अनायास हो जाता है तब इसे दोष लक्षण मानकर इसके लक्ष्यभूत दोष से युक्त है सत्प्रतिपक्ष अर्थात् दुष्ट हेतु, ऐसा मानने में व्यर्थ गौरव प्राप्त होगा। अतः इसे दुष्ट का लक्षण मानना उचित है।

'असिद्धं विभजते' इत्यादि के द्वारा दीपिकाकार ने असिद्धि से संबंधित मूल ग्रंथ को व्यक्त किया है। किये गये असिद्ध विभाजन के आधार पर 'आश्रयासिद्ध स्वरूपासिद्ध व्याप्यत्वासिद्धान्यतमत्वम्' यह सामान्यतः असिद्ध मात्र का लक्षण अनायास व्यक्त हो उठता है, अतः सामान्य-लक्षण की अनुक्ति प्रयुक्त न्यूनता नहीं उद्भासित हो सकती। विशेष रूप से असिद्धों की लक्षण जिज्ञासा होने पर 'पक्षतावच्छेदकाभाववत्पक्षकत्वम्' किंवा पक्ष निरूपित वृत्तित्वाभाववत्पक्षतावच्छेदककत्वम् 'आश्रयासिद्धत्वम्' इस प्रकार निर्वचन आश्रयासिद्ध हेतु का ज्ञातव्य है। प्रथम का अभिप्राय यह है कि यद्धेतुक अनुमान स्थलीय पक्ष में पक्षतावच्छेदकरूप से विवक्षित होने वाला धर्म न रहे वह हेतु होता है आश्रयासिद्ध। इस निर्वचन के अनुसार 'गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्' इस अनुमान स्थल का अरविन्दत्व हेतु इसलिए आश्रयासिद्ध हो पाया है कि इसके आश्रय रूप से विवक्षित होने वाले अरविन्द में अर्थात् कमल में उसके धर्म रूप से विवक्षित होने के कारण पक्षतावच्छेदक कहलाने वाला 'गगनीयत्व' अर्थात् गगन-संबंधित्व तत्त्वतः रहता नहीं। अतः अरविन्दात्मक पक्ष गगनीयत्वात्मक पक्षतावच्छेदक के अभाव से युक्त हो जाता है। तदनुसार 'अरविन्दत्व' हेतु 'पक्षतावच्छेदकाभाववत्पक्षक' अर्थात् पक्षतावच्छेदाभाव युक्त है पक्ष जिसका, ऐसा हो जाता है, उसमें उक्त आश्रयसिद्ध का लक्षण समन्वित होता है। कहने का सारांश यह है कि 'पक्षतावच्छेदकाभाववान् पक्षः' ऐसा आश्रयासिद्ध निश्चय होने पर 'साध्यव्याप्य हेतुमान् पक्षः (पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नः)' ऐसा परामर्श हो नहीं पाता है, जिसके अभाव में 'गगनारविन्दं सुरभि' यह अनुमिति हो नहीं पाती। अरविन्दं सौरभवत् सौरभव्याप्यारविन्दत्ववच्च' ऐसी अनुमिति को हस्तगत

करने पर तो उक्त आश्रयासिद्ध-निश्चय अनुमिति के प्रति साक्षात् रूप से ही प्रतिबंधक हो जाता है ।

पक्ष में हेतु का अभाव होने पर हेतु 'स्वरूपासिद्ध' होता है। तदनुसार स्वरूपासिद्ध का लक्षण 'स्वाभाववत्पक्षकत्वं' अथवा 'पक्ष-निरुपित-वृत्तित्वाभाव-वत्वम्' यह प्राप्त होता है । 'शब्दो नित्यः चाक्षुषत्वात्' इस अनुमान स्थल में स्वशब्द से ग्राह्य होता है चाक्षुषत्व हेतु, उसका अभाव शब्दात्मक पक्ष में रहता है । अतः चाक्षुषत्व हेतु स्वाभाववत्पक्षक हो जाता है लक्षण समन्वय होता है । एवं शब्दात्मक पक्ष में चाक्षुषत्व के न रहने के कारण चाक्षुषत्व हेतु पक्ष-निरुपित वृत्तित्वाभाववान् भी हो जाता है इसलिए द्वितीय लक्षण भी उसमें समन्वित हो जाता है ।

यद्यपि पक्ष में पक्षतावच्छेदकाभाव की आश्रयासिद्धिता के समान साध्य में साध्यतावच्छेदकाभाव को साध्यप्रसिद्धिता और हेतु में हेतुतावच्छेदकाभाव को हेत्वप्रसिद्धिता एवं तदनुसार साध्याप्रसिद्धि और हेत्वप्रसिद्धि को भी अतिरिक्त दोषता उचित प्रतीत होती है। और ऐसा होने पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि असिद्ध को फिर त्रिविध ही कैसे माना गया है ? यह तो कहा नहीं जा सकता कि साध्यताप्रसिद्धि और हेत्वप्रसिद्धि को दोष नहीं मानेंगे । क्योंकि 'जलाशयः गगनारविंदवान्' इस अनुमान स्थल में 'अरविंदं गगनीयत्वाभाववत्' इस साध्या-प्रसिद्धि निश्चय के रहने पर अनुमिति होती नहीं और 'जलाशयो मनोहरः गगनारविंदवत्वात्' इस अनुमान स्थल में, उक्त 'अरविन्दं गगनीयत्वाभाववत्' इस हेत्वप्रसिद्धिन्श्चय के रहने पर 'मनोहरत्व व्याप्य गगनारविन्दवान् जलाशयः' यह परामर्श हो पाता नहीं अतः यह मानना आवश्यक होगा कि उक्त प्रकार साध्याप्रसिद्धि निश्चय एवं हेत्वप्रसिद्धि निश्चय दोनों ही उक्त स्थलीय 'साध्य व्याप्य हेतुमान पक्षः साध्यवान्' इस अनुमिति को रोकते हैं । ऐसी परिस्थिति में अनुमिति-प्रतिबंधक-यथार्थ-ज्ञान पद से उक्त प्रकार साध्याप्रसिद्धि निश्चय और हेत्वप्रसिद्धि निश्चय हस्तगत होने के कारण साध्याप्रसिद्धि और हेत्वप्रसिद्धि में 'अनुमितिप्रतिबंधक-यथार्थ-ज्ञान-विषयत्व' स्वरूप दोष-लक्षण का समन्वय अनिवार्य है । किंतु इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि उक्त दोनों दोषों के निश्चय परामर्श और अनुमिति दोनों के लिए अपेक्षित होने वाले 'साध्यव्याप्यो हेतुः' इस व्याप्ति ज्ञान को ही रोक डालते हैं अतः साध्याप्रसिद्धि और साधनाप्रसिद्धि इन दोनों को भली भांति तृतीय असिद्धि भूत व्याप्यत्वासिद्धि में एवं साध्याप्रसिद्धतथा साधना-प्रसिद्ध हेतुओं को व्याप्यत्वासिद्ध के अंदर भली-भांति गतार्थ माना जा सकता है। इसीलिए उक्त प्रश्न निरवकाश है। इसी अभिप्राय से आश्रयासिद्ध के समान

साध्याप्रसिद्ध और साधनाप्रसिद्ध को अतिरिक्त हेत्वाभास, अतिरिक्त दुष्ट-हेतु नहीं कहा गया है। साध्याप्रसिद्धि का लक्षण 'साध्यतावच्छेदकाभाववत्साध्यकत्व' अथवा 'साध्यनिरुपितवृत्तित्वाभाववत्साध्यकत्व' एवं साधनाप्रसिद्ध का 'हेतुतावच्छेदकाभाववत्व' अथवा 'स्वनिरुपित-वृत्तित्वाभाववद्धेतुतावच्छेदकत्व' ज्ञातव्य है। सीधी बात यह कि साध्य में साध्यतावच्छेदक का न रहना है साध्याप्रसिद्धि इसलिए जिस हेतुक स्थल में यह परिस्थिति प्राप्त हो वह हेतु कहलाता है 'साध्याप्रसिद्ध'। और हेतु में हेतुतावच्छेदक का न रहना है 'साधनाप्रसिद्धि' अतः ऐसी परिस्थिति जिस हेतु में प्राप्त हो वह होता है साधनाप्रसिद्ध।

तर्क-संग्रह

सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः। साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः। साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम्। साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वम्। यथा पर्वतो धूमवान् वह्निमत्वादित्यत्र आर्द्रेन्धन-संयोग उपाधिः। यत्र यत्र धूमस्तत्रार्द्रेन्धनसंयोग इति साध्यव्यापकत्वम्। यत्र यत्र वह्निस्तत्रार्द्रेन्धनसंयोगो नास्ति, अयोगोलके आर्द्रेन्धनसंयोगाभावात् इति साधनाव्यापकत्वम्। एवं साध्यव्यापकत्वे सति साध्यव्यापकत्वादार्द्रेन्धन-संयोग उपाधिः। सोपाधिकत्वात् वह्निमत्त्वं व्याप्यत्वासिद्धम्।

अनुवाद

'उपाधि' स्वरूप दोष से युक्त हेतु होता है 'व्याप्यत्वासिद्ध'। जो धर्म साध्य का व्यापक होता हुआ हेतु का अव्यापक होता है वह कहलाता है उपाधि। साध्य के आधार में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी न होने वाला कहलाता है साध्य का व्यापक और हेतु के आधार में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होने वाला कहलाता है साधन का अव्यापक। जैसे 'पर्वतो धूमवान् वह्निमत्वात्' अर्थात् पर्वत धूमयुक्त है क्योंकि अग्नियुक्त है। इस अनुमान स्थल में 'आर्द्रेन्धन-संयोग' अर्थात् कच्ची लकड़ी का संयोग होता है उपाधि। क्योंकि जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां आर्द्रेन्धनसंयोग अवश्य होता है इसलिए आर्द्रेन्धन-संयोग होता है साध्य धूम का व्यापक और जहां-जहां आग रहती है वहां-वहां नियमतः आर्द्रेन्धन संयोग रहता नहीं। क्योंकि तप्त लौह में आर्द्रेन्धन-संयोग रहता नहीं। अतः वह आर्द्रेन्धन-संयोग होता है साधन किए गये अग्नि का अव्यापक। इस प्रकार साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक होने के कारण आर्द्रेन्धन संयोग होता है उपाधि और तादृश उपाधियुक्त होने के कारण उक्त वह्नि हेतु होता है सोपाधिक और इसी लिए वह होता है व्याप्यत्वासिद्ध।

दीपिका

व्याप्यत्वासिद्धस्य लक्षणमाह सोपाधिक इति। उपाधेर्लक्षणमाह साध्येति। उपाधिश्चतुर्विधः केवलसाध्यव्यापकः, पक्षधर्मावच्छिन्न-साध्य-व्यापकः, साधनावच्छिन्न-साध्यव्यापकः, उदासीन-धर्मावच्छिन्न-साध्य-व्यापकश्चेति।आद्यः आर्द्रेन्धनसंयोगः। द्वितीयो यथा वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्ष-स्पर्शाश्रयत्वात् इत्यत्र-वहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्न-प्रत्यक्षत्व-व्यापकमुद्भूतरूप-वत्त्वम्। तृतीयो यथा प्रागभावो विनाशी जन्यत्वादिन्यत्र जन्यत्वावच्छिन्न-नित्यत्वव्यापकं भावत्वम्। चतुर्थस्तु प्रागभावो विनाशी प्रमेयत्वादित्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्व-व्यापकं भावत्वम्।

अनुवाद

व्याप्यत्वासिद्ध का लक्षण बतलाते हैं 'सोपाधिकः इत्यादि के द्वारा। उपाधि का लक्षण बतलाते हैं 'साध्य' इत्यादि के द्वारा। उपाधि चार प्रकार के होते हैं—केवल साध्य का व्यापक, पक्षधर्म-विशिष्ट-साध्यका व्यापक, साधनविशिष्टसाध्य का व्यापक और उदासीन-धर्म-विशिष्ट-साध्य का व्यापक। उक्त आर्द्रेन्धन-संयोग है प्रथम। द्वितीय जैसे—वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्ष-स्पर्शाश्रयत्वात् इस अनुमान स्थल में वाह्य-द्रव्यत्व-विशिष्ट प्रत्यक्षत्व का व्यापक उद्भूत-रूपवत्व। तृतीय जैसे प्रागभावो विनाशी जन्यत्वात् यहां पर जन्यत्व-विशिष्ट अनित्यता का व्यापक भावत्व। चतुर्थ होता है प्रागभावो विनाशी प्रमेयत्वात् यहां पर जन्यत्व-विशिष्ट अनित्यता का व्यापक वही भावत्व।

विवरण

यद्यपि व्याप्यत्वासिद्ध का लक्षण 'व्याप्यतानवच्छेदकधर्मवत्व अर्थात् तद्वि-शोषितत्व' को ही मानना उचित था। अन्यथा 'पर्वतोवह्निमान् नीलधूमात्' इस अनुमान स्थल का वह नील-धूम हेतु व्याप्यत्वासिद्ध हो पाता नहीं जिसे विश्वनाथ पंचानन आदि ने भी व्याप्यत्वासिद्ध कहा है। तथापि उपाधि को अतिरिक्त दोष मानने पर सोपाधिक हेतु को उक्त दुष्ट हेतुओं से अतिरिक्त दुष्ट हेतु होना चाहिए इस शंका के निराकरणार्थ व्याप्यत्वासिद्ध का स्वरूप वर्णन यहां 'सोपा-धिकः' इत्यादि के द्वारा किया गया है। इससे यह सूचित हुआ है कि उपाधि व्यभिचार का उद्भावक होने के कारण-ही दोष है, वह कोई स्वतंत्र दोष है नहीं कि उससे युक्त होने के कारण सोपाधिक हेतु को एक प्रकार स्वतंत्र दुष्ट हेतु माना जाय। अतः यहां का दुष्ट हेतु स्वरूप हेत्वाभास का विभाजन न्यूनता-दोष ग्रस्त नहीं कहा जा सकता। मूल में 'साध्यव्यापकत्व का विर्वचन किया

गया है 'साध्य समानाधिकरण' इत्यादि के द्वारा । 'समानाधिकरण' का अर्थ हेत-दधिकरण में रहने वाला । तदनुसार 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' इस अनुमान स्थल में साध्य है धूम, उसके आधार-भूत पर्वत आदि में रहने वाला अत्यंताभाव आर्द्रेन्धनसंयोग का अत्यंताभाव हस्तगत होता नहीं जो घट पट आदि का अत्यंताभाव हस्तगत होता है उसका प्रतियोगी आर्द्रेन्धन संयोग होता नहीं इसलिए वह उसका अप्रतियोगी हो जाता है अतः साध्य व्यापकता आर्द्रेन्धन संयोग में आ पाती है । साधन और हेतु ये दोनों शब्द हैं पर्यायवाची इसलिए उक्त 'पर्वतोधूमवान् वह्नेः' इस अनुमान स्थल में साधन है अग्नि, उसके आधार भूत तप्त लौह में रहने वाला अत्यंताभाव आर्द्रेन्धन संयोग का अभाव पाया जाता है इसलिए आर्द्रेन्धनसंयोग-साधनसमानाधिकरण अत्यंताभाव का प्रतियोगी हो जाता, साधन का अव्यापक भी हो जाता है। इसी परिस्थिति का व्यक्तीकरण मूलकार ने 'यथा पर्वतो धूमवान्' इत्यादि के द्वारा किया है । उपाधि-लक्षण का परिष्कृत रूप साध्यव्यापकतावच्छेदक-सम्बन्धावच्छिन्न-साधन-व्यापकता-वच्छेदकत्वाभाव समानाधिकरण-साध्य व्यापकतावच्छेदकतावद्धर्मवत्त्व' समझना चाहिए । 'धूमवान वह्नेः' इस सोपाधिक स्थलीय उपाधि 'आर्द्रेन्धन संयोग' में इस परिष्कृत उपाधि-लक्षण का समन्वय इस प्रकार ज्ञातव्य है कि धूमात्मक साध्य के प्रति आर्द्रेन्धन-संयोग स्वरूप उपाधि होता है व्यापक समवाय संबंध से । इसलिए साध्य-व्यापकतावच्छेदक-सम्बन्ध हुआ समवाय, तत्ससंबंधावच्छिन्न साधन-व्यापकता अर्थात् वह्नि-व्यापकता आती है काल-संयोग दिक्-संयोग आदि में, आर्द्रेन्धन संयोग में वह साधन व्यापकता आती नहीं । अतः आर्द्रेन्धन-संयोगत्व में धूम-व्यापकतावच्छेदक-समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न-वह्निव्यापकता-वच्छेदकत्वाभाव आ जाता है और दूसरी ओर से धूम-व्यापकतावच्छेदकत्व भी आता है । इसलिए 'साध्य व्यापकतावच्छेदक-सम्बन्धावच्छिन्न-साधन-व्यापकता-वच्छेदकत्वाभाव-समानाधिकरण-साध्यव्यापकतावच्छेकतावान् धर्म होता है 'आर्द्रेन्धन संयोगत्व' तादृश धर्मत्व आर्द्रेन्धन संयोग में आता है । उपाधि-लक्षण का ऐसा परिष्कार न करने पर 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' यहां पर 'महानसीय वह्नि' उपाधि कहलाने लगेगा । क्योंकि वह्नित्व वह्नित्व-धर्म-पुरस्कृत रूप में वह्नि का व्यापक भी होता है और महानसीय वह्नित्व पुरस्कृत रूप में धूम का अव्यापक भी । साधन-व्यापकता में साध्य-व्यापकतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्नत्व का निवेश नहीं करने पर 'वह्निमान धूमात्' यहां पर 'आलोक भी उपाधि हो बैठेगा । क्योंकि वह संयोग से वह्नि के प्रति व्यापक भी होता है और समवाय से धूम का अव्यापक भी । साध्य में निरवच्छिन्नत्व और सावच्छिन्नत्व विशेषण की अपेक्षा एवं अवच्छेदक भेद के आधार पर दीपिकाकार ने 'उपाधिश्चतुर्विधः' इसके द्वारा उपाधिगत

चातुर्विध्य बतलाया है। केवल साध्य व्यापक यहां पर 'केवल' का विवक्षित अर्थ है 'साध्यतावच्छेदकेतरानवच्छिन्न'। 'पक्षधर्मावच्छिन्न' इत्यादि के द्वारा द्वितीय प्रकार उपाधि का परिचय दिया गया है। समानाधिकरण पदार्थ द्वय को आपस में 'अवच्छेद्यावच्छेदकभाव' होता है यह बात प्रत्यक्ष-खंड में बतलायी जा चुकी है। तदनुसार पक्षधर्म और साध्य इन दोनों में अवच्छेद्यावच्छेदकभाव बन सकने के कारण साध्य पक्ष धर्मावच्छिन्न होता है। तृतीय उदाहरण में साध्य को साधनावच्छिन्न भी इसी प्रकार समझना चाहिए। 'आद्यः' इत्यादि के द्वारा उदाहरण-प्रदर्शन पूर्वक उक्त उपाधि प्रभेदों का स्पष्टीकरण किया गया है।

तर्क-संग्रह

यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः स बाधितः। यथा 'वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात्' इति। अत्रानुष्णत्वं साध्यं, तदभावः उष्णत्वम् स्पार्शनप्रत्यक्षेण गृह्यते इति बाधितत्वम्। व्याख्यातमनुमानम्।

अनुवाद

जिस हेतु के साध्य का अभाव पक्ष में निश्चित होता है, वह कहलाता है बाधित। जैसे 'वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात्' यहां पर द्रव्यत्व हेतु है। यहां अनुष्णत्व है साध्य, उसका अभाव भूत उष्णत्व स्पार्शन-प्रत्यक्ष के द्वारा अग्नि में गृहीत होता है। इसलिए द्रव्यत्व हेतु है बाधित। अनुमान व्याख्यात हुआ।

दीपिका

बाधितस्य लक्षणमाह यस्येति। अत्र बाधस्य ग्राह्याभाव-निश्चयत्वेन, सत्प्रतिपक्षस्य विरोधिज्ञान-सामग्रीत्वेन साक्षादनुमिति-प्रतिबन्धकत्वम्। इतरेषां परामर्श-प्रतिबन्धकत्वम्। तत्रापि साधारणस्याव्यभिचाराभाववत्तया। विरुद्धस्य सामानाधिकरण्याभाववत्तया व्याप्यत्वासिद्धस्य विशिष्ट-व्याप्त्यभाववत्तया, असाधारणानुपसंहारिणोः व्याप्तिसंशयाधायकत्वेन व्याप्तिज्ञान-प्रतिबन्धकत्वम्। आश्रयासिद्ध-स्वरूपासिद्ध्योः पक्षधर्मताज्ञान-प्रतिबन्धकत्वम्। उपाधिस्तु व्यभिचारज्ञान द्वारा व्याप्तिज्ञान-प्रतिबन्धकः। सिद्धसाधनं तु पक्षधर्मताविघटकतया आश्रयासिद्धेऽन्तर्भवतीति प्राञ्चः। निग्रहस्यानान्तरमिति नवीनाः। इति तर्कदीपिकायामनुमानं समाप्तम्।

अनुवाद

बाधित हेतु का लक्षण बतलाते हैं 'यस्य' इत्यादि के द्वारा। दोषों के अंदर बाध को साध्याभाव निश्चयविधया अनुमिति के प्रति प्रतिबंधकता होती है। और सत्प्रतिपक्ष को बाधसामग्री-निश्चय रूप में अनुमिति के प्रति साक्षात् प्रति-

बंधकता होती है। और दोषों को परामर्श के प्रति प्रतिबंधकता होती है। उन दोषों के अंदर साधारण्य निश्चय को हेतु-निष्ठ अव्यभिचाराभाव-विषयक रूप में, विरोध निश्चय को हेतु-धार्मिक सामानाधिकरण्याभाव-विषयक रूप में, हेतु-गत व्याप्यत्वासिद्धिनिश्चय को हेतुधर्मिक विशिष्ट-व्याप्त्यभावविषयक रूप में प्रतिबंधकता होती है असाधारण्य और अनुपसंहारित्व के निश्चय को पक्ष-धर्मता-ज्ञान के प्रति। उपाधि का निश्चय व्यभिचार-ज्ञान द्वारा व्याप्ति-ज्ञान के प्रति प्रतिबंधक होता है। पक्षता का विघटक होने के कारण सिद्ध-साधन आश्रयासिद्धि में अंतर्मुक्त होता है यह प्राचीनों का मत है। किंतु नवीन-लोग उसे निग्रह-स्थानान्तर मानते हैं।

विवरण

हेत्वाभास के लक्षण में प्रतिबंधकता का निवेश अनिवार्य है यह प्रदर्शित उसके लक्षण से अवगत है, तदनुसार विभिन्न हेतु दोषों में दोष-लक्षण तभी समन्वित हो सकता है जबकि उन दोषों के निश्चय अनुमिति या परामर्श के प्रति प्रतिबंधक निर्णीत हो जायं अतः दोष निश्चयों की प्रतिबंधकता का वर्णन किया है दीपिकाकार ने 'बाधस्य' इत्यादि के द्वारा। ग्राह्य का अर्थ ज्ञातव्य है साध्य। 'विरोधिज्ञान-सामग्रीत्वेन' यहां पर 'विरोधी' पद से बाध का ग्रहण कर्तव्य है 'तत्रापि साधारणस्य' यहां पर 'साधारण' पद से भाव-प्रधान निर्देशानुसार ज्ञातव्य है 'साधारण्य', और उसका भी अर्थ समझना चाहिए 'साधारण्य निश्चय'। इसी प्रकार 'विरुद्धस्य' इत्यादि स्थल में भी अभिप्रेत अर्थ ज्ञातव्य है। सिद्ध-साधन को निग्रह-स्थानांतर मानने वाले नवीनों का आशय यह है कि सिषाधयिषा-विरह-विशिष्ट-सिद्धि भले ही अनुमिति के प्रति प्रतिबंधक हो किंतु सिद्धि मात्र तो अनुमिति के प्रति प्रतिबंधक नहीं हो सकती। अतः अनुमिति प्रतिबंधकता घटित हेत्वाभास लक्षण सिद्धसाधन में जा सकता नहीं अतः हेत्वाभासात्मक निग्रह स्थान में उसका अंतर्भाव होता नहीं सुतरां उसे अतिरिक्त निग्रह स्थान ही मानना उचित है। अतिरिक्त निग्रह-स्थान का अर्थ है हेत्वाभास से अतिरिक्त निग्रह-स्थान। सारांश यह कि प्राचीन लोग सिद्ध-साधन को हेत्वाभासांतर्गत रूप में निग्रह-स्थान मानते थे और नवीन लोगों ने तदतिरिक्त रूप में उसे निग्रह-स्थान माना।

अथोपमानम्

तर्क-संग्रह

उपमितिकरणमुपमानम् । संज्ञासंज्ञिसंबंधज्ञानमुपमितिः । तत्करणं, सादृश्य-ज्ञानम् । तथा हि कश्चिद्गवयशब्दवाच्यमजानन् कुतश्चिदारण्यकपुरुषात् गोसदृशो गवयः इति श्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् गोसदृशं पिण्डं पश्यति । तदनन्तरं अयं गवयशब्दवाच्य इत्युपमितिरुत्पद्यते । इत्युपमानम् ।

अनुवाद

उपमिति का करण है उपमान । नाम और नामी के बीच होने वाले वाच्य-वाचक-भावात्मक संबंध का ज्ञान है उपमिति । उसका करण होता है सादृश्य का ज्ञान । जैसे गवयपशु से अपरिचित कोई व्यक्ति जब कि किसी अन्य व्यक्ति से 'गवय, गाय के जैसा होता है' ऐसा सुनकर बन जाने पर उक्त वाच्यार्थ का स्मरण करता हुआ गैए के समान पशु को देखता है, तो उसे होने वाला 'गवय पद का वाच्य पशु यही है' यह ज्ञान है उपमिति । उपमान समाप्त हुआ ।

दीपिका

उपमितिं लक्षयति उपमितीत्यादि । इत्युपमानम् ।

अनुवाद

उपमान का लक्षण करते हैं 'उपमिति' इत्यादि के द्वारा । उपमान दीपिका समाप्त ।

विवरण

उपमिति से पूर्व तृतीय क्षण में गवय का गोसादृश्य और पशुत्व मात्र युक्त रूप में प्रत्यक्ष होता है । पूर्व द्वितीय-क्षण में पूर्व श्रुत 'गोसदृशो गवयो भवति' इस वाक्य के अर्थ का स्मरण होता है । तदनन्तर क्षण में 'यही गवय पशु है' यह उपमिति उत्पन्न होती है । इसलिए सर्वप्रथम होने वाला उक्त सादृश्य-प्रत्यक्ष होता है उपमिति के प्रति करण होने के कारण उपमान और द्वितीय क्षण में होने वाला पूर्वश्रुत वाक्यार्थ का स्मरण होता है व्यापार । इसी व्यापार को लेकर सर्वप्रथम होने वाला सादृश्य प्रत्यक्ष में व्यापारवत्व जा पाता है, और तृतीय क्षण में होने वाली उपमिति के प्रति असाधारण रूप से वह कारण भी होता है

इसलिए सर्वप्रथम जायमान सादृश्य-प्रत्यक्ष में उपमिति के प्रति 'व्यापारवत्त्वे सति असाधारणकारणत्व' स्वरूप करणत्व आता है इसलिए सर्वप्रथम जायमान सादृश्य प्रत्यक्ष उपमान होता है। मध्यवर्ती वाक्यार्थ-स्मरण व्यापार इसलिए होता है कि वह करण भूत सादृश्य प्रत्यक्ष से उत्पन्न भी होता है और उस सादृश्य-प्रत्यक्ष से उत्पन्न होने वाली उक्त वाच्यता-निर्णयात्मक उपमिति का उत्पादक भी होता है। तदनुसार उस मध्यवर्ती वाक्यार्थ स्मरण में 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्व' स्वरूप व्यापार का लक्षण समन्वित होता है। यद्यपि मूलकार के द्वारा प्रयुक्त 'वाक्यार्थं स्मरन् गोसदृशं पिण्डं पश्यति' इस वाक्य-प्रयोग से वाच्यार्थ-स्मरण और पिंड दर्शन की समसामयिकता प्राप्त होती है परंतु अनुभवसिद्ध वस्तु-स्थिति के अनुसार 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इसके अनुसार 'स्मरन्' का अर्थ 'अनुपदं स्मरिष्यन्' यह करके ग्रंथ समझना चाहिए। साथ ही उपमिति का आकार जो मूलकार के द्वारा 'अयं गवयपदवाच्यः' ऐसा बतलाया गया है उसका भी अभिप्रेत अर्थ और आकार 'गवयो गवयपदवाच्यः' अर्थात् एतज्जातीय सारे पशु गवय पद वाच्य हैं ऐसा ज्ञातव्य है। क्योंकि उपमिति ज्ञान में इदन्त्व को धर्मितावच्छेदक मानने पर केवल तद्गवय व्यक्ति में ही गवयपदवाच्यता समझी जा पायेगी, अन्य में नहीं। किंतु परिस्थिति ऐसी होती नहीं। उस व्यक्ति के लिए सारे गवय सदा के लिए गवय पद वाच्य रूप में निर्णीत हो जाते हैं। यद्यपि प्रकृत-ग्रंथकार एवं टीकाकार ने केवल साधर्म्योपमिति की ही चर्चा की है वैधर्म्येपिमिति की नहीं, किंतु साधर्म्योपमिति के समान वैधर्म्योपमिति भी मान्य है। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि यदि किसी ऊंट से अपरिचित को कोई ऊंट का परिचय रखने वाला व्यक्ति यह कहता है कि 'धिक्करभमतिलम्बौष्ठं दीर्घग्रीवं कठोरकण्टकाशिनं पशूनामपसदम्' अर्थात् वह धिक्करणीय करभ लम्बौष्ठ दीर्घ्रग्रीव एवं कंटक भोजी पशुओं में जघन्य होता है' अनंतर यह सुनने वाला व्यक्ति मारवाड़ जाकर ऊंट को अन्य पशु से विधर्मा देखकर यदि पूर्वश्रुत 'धिक्करभ' इत्यादि वाक्य स्मरण करता है तो 'यही करभ है ऊंट है' ऐसा ज्ञान उस व्यक्ति को अवश्य होता है। यही अंतिम ज्ञान है वैधर्म्योपमिति और सर्वप्रथम होने वाला वहां का उक्त वैधर्म्य-दर्शन होता है वैधर्म्योपामान। वैशेषिक और बौद्ध दार्शनिक उपमान को स्वतंत्र प्रमाण मानते नहीं, अतः उनके मत में उपमिति भी अनुमिति प्रमा में ही अन्तभुक्त होती है। परंतु उपमिति को अनुमिति से अतिरिक्त प्रमा मानने में युक्ति यह है कि अनुमिति के लिए हेतु में साध्य व्याप्ति का ज्ञान नितांत आवश्यक होता है और उपमिति के लिए उसकी आवश्यकता बिल्कुल नहीं होती। साथ ही यह भी एक इस संबंध में ध्यान रखने वाली बात है कि ज्ञान

का परिचय उसके अव्यवहित उत्तर होने वाले अनुव्यवसाय से मिलता है। उपमिति के अनंतर उपमाता ऐसा अनुव्यवसाय करता नहीं कि मुझे अनुमिति हुई है। अतः अनुमिति और उपमिति को एक नहीं माना जा सकता। उपमिति का सरल लक्षण वह उपमितित्व है जो कि 'उपमिनोमि' इस प्रकार होने वाले अनुव्यवसाय का विषय होता है। अनुमान निरूपण के अनंतर उपमान का निरूपण प्रसंग-संगति प्रयुक्त हुआ है इसलिए असंगताभिधान की शंका नहीं की जा सकती। प्रसंग संगति का परिचय अनुमान विचार के अवसर पर दिया जा चुका है।

उपमान विवरण समाप्त।



अथ शब्दः

तर्क संग्रह

आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथार्थवक्ता। वाक्यं पदसमूहः। यथा—गामानय शुक्लां दण्डेनेति।

अनुवाद

आप्तव्यक्ति का वाक्य होता है शब्द प्रमाण। यथार्थभाषी कहलाते हैं आप्त। पदों का समुदाय कहलाता है वाक्य। जैसे 'सफेद गाय को डंडे से हांक लाओ' इत्यादि।

दीपिका

शब्दं लक्षयति आप्तेति। वाक्यं लक्षयति वाक्यमिति।

अनुवाद

शब्द प्रमाण का लक्षण बतलाते हैं—'आप्तवाक्यं' इत्यादि के द्वारा। वाक्य का लक्षण करते हैं। 'वाक्यं' इत्यादि के द्वारा।

विवरण

उपमान निरूपण के अनंतर शब्द प्रमाण का निरूपण इसलिए प्रारंभ किया जा रहा है कि इन दोनों के बीच 'कार्यकारणभाव' संगति है। यद्यपि यह बात सही है कि कार्य-कारण-भाव संगति उपमिति और शाब्दबोधात्मक फलों के बीच है अर्थात् प्रमितियों के बीच है न कि उनके प्रति प्रमाण-भूत उपमान और शब्दों के बीच। तथापि फलगत कार्यकारण-भाव का उपचार अर्थात् गौणरूप से स्वीकार, प्रमाण-भूत उपमान और शब्दों के बीच भी माना जा सकता है और उसके आधार पर अनुमान और शब्द के बीच कार्यकारण-भाव संगति कही जा सकती है। जो नव्यनैयायिक लोग शाब्दबोध के प्रति शब्द को प्रमाण न मान कर शब्द-ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। उनके मत में तो प्रमाणगत भी कार्य-कारण-भाव स्वतः सम्पन्न हो जाता है, उक्त प्रकार उपचार की आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि 'गवयो गवयपदवाच्यः' अर्थात् एतज्जातीय पशु गवय कहलाते हैं, इस प्रकार होने वाला उपमिति—ज्ञान भी पद विषयक होने के कारण पद-ज्ञान कहलाने का अधिकारी होता है जिसके प्रति सादृश्य-ज्ञानात्मक उपमान, कारण होता ही है। पद-ज्ञान में अनायास उपमान जन्यत्व प्राप्त होने के कारण उप-

मान और पदज्ञान इनदोनों के बीच अनायास कार्यकारण-भाव संगति उपस्थिति हो जाती है। यथार्थवक्ता तो कोई अज्ञ रट्टू प्राणी भी हो सकता है किंतु उसे आप्त नहीं कहा जा सकता। अतः 'आप्तत्व' की व्याख्या 'स्वप्रयुक्त-वाक्यार्थ-यथार्थ-ज्ञानवत्व' ज्ञातव्य है। कहने का तात्पर्य यह कि वस्तुस्थिति के अनुरूप ज्ञान-युक्त होते हुए तदनुरूप वाक्य प्रयोक्ता व्यक्ति होता है यथार्थ-वक्ता, और वही होता है आप्त कहलाने का अधिकारी। फलतः उक्त प्रकार आप्त का वाक्य है शब्द प्रमाण।

तर्क संग्रह

शक्तं पदं। 'अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः' इतीश्वरसंकेतः शक्तिः।

अनुवाद

शक्ति युक्त शब्द है पद। 'इस पद से यह वस्तु समझी जाय' इस प्रकार होने वाली भगवान् की इच्छा है शक्ति।

दीपिका

पदलक्षणमाह शक्तमिति। अर्थस्मृत्यनुकूल-पदार्थ-सम्बन्धः शक्तिः, सा च पदार्थान्तरमिति मीमांसकाः, तन्निरासार्थमाह अस्माच्छब्दादित्यादि। डित्थादीनामिव घटादीनामपि संकेत एव शक्तिः न तु पदार्थान्तरमित्यर्थः।

अनुवाद

पदका लक्षण बतलाते हैं शक्तं इत्यादि के द्वारा। पद और अर्थों के बीच होने वाला वह संबंध जो कि पदार्थ-स्मरण के प्रति अनुकूल हो, है शक्ति। वह द्रव्य आदि पदार्थों से अतिरिक्त एक स्वतंत्र पदार्थ है, यह मीमांसकों का मत है, तन्निराकरणार्थ कहा जा रहा है 'अस्मात्' इत्यादि। डित्थ आदि पदस्थल में जिस प्रकार संकेत ही है शक्ति घट आदि पदों के लिए भी उसी प्रकार संकेत ही है शक्ति। अतः वह अतिरिक्त पदार्थ नहीं है यह वक्तव्य है।

विवरण

शक्ति संबंधी मीमांसक मत के खंडनार्थ मूलकार ने 'अस्मात्शब्दात्' इत्यादि कहा है इस आशय के स्फुटीकरणार्थ मीमांसक मत का वर्णन करते हैं 'अर्थस्मृति' इत्यादि के द्वारा। तात्पर्य यह है कि शाब्दबोध का जनक जो पदार्थस्मरण, तदनुकूल जो पद एवं पदार्थ का संबंध वही है शक्ति, यह है मीमांसकों का मत। तदनुसार 'शाब्दबोध-जनकीभूत-पदार्थ-स्मरणानुकूल-पदार्थान्तरप्रतियोगिक-संबंध-

त्वं शक्तित्वम्' यह शक्ति का लक्षण प्राप्त होता है। यहां पर 'अर्थान्तरप्रतियोग्यनुयोगिकसंबंधत्वं' शक्तित्वम् एतावन्मात्र कहने पर पदप्रतियोगिक अर्थानुयोगिक अथवा अर्थप्रतियोगिक पदानुयोगिक कालिक संबंध में उक्त शक्तिलक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न होगी। लक्षण में उक्त अनुकूलांत कहने पर अतिव्याप्ति का निराकरण इसलिए हो जाता है कि वह कालिक संबंध शाब्दबोधजनक पदार्थ-स्मरण का अनुकूल होता नहीं। यदि 'अर्थस्मृत्यनुकूलत्व' मात्र को शक्ति का लक्षण कहा जाय, तो काल में अतिव्याप्ति हो जायेगी। क्योंकि काल कार्य मात्र के प्रति कारण होता है। प्रकृत लक्षण के लक्ष्य-भूत शक्ति को मीमांसक लोग द्रव्य गुण आदि की तरह एक स्वतंत्र पदार्थ मानते हैं और उसका लक्षण कहते हैं 'अर्थ स्मृत्यनुकूल संबंधत्व। यद्यपि यह मीमांसकाभिमत शक्तिलक्षण न्याय-मतसिद्ध शक्ति में भी समन्वित हो जाता है। क्योंकि नैयायिक लोग भी पद-शक्ति को पदार्थ का स्मारक संबंध मानते ही हैं, तथापि लक्षणा को भी वृत्यन्तर मानने वाले नैयायिकों के मत में मीमांसकमत-सिद्ध उक्त लक्षण को शक्ति का लक्षण नहीं माना जा सकता। अन्यथा लक्षणा में शक्ति-लक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न हो उठेगी। इसीलिए तर्कसंग्रहकार ने 'अस्माच्छब्दात्' इत्यादि के द्वारा न्यायमत सिद्ध शक्ति का वर्णन करते हुए उसे इच्छात्वरूप बतलाकर गुणत्व ज्ञापनपूर्वक पदार्थान्तरत्व का खंडन किया है। उक्त मूलग्रंथ से 'इस पद से यह वस्तु समझी जाय' इत्याकारक भगवदिच्छा ही प्रकृत शक्ति है यह बात जो बतलायी गयी है, यहां अब प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि भगवान् की इच्छा तो सर्वविषयक नित्य एवं एक ही होती है, तदनुसार भगवान् की उक्त-प्रकार इच्छा घटविषयक होने के साथ पटविषयक भी होगी ही, तो फिर घटपद से पट का भी बोध होना चाहिए। क्यों वैसा बोध होता नहीं ? तो इसके उत्तर में नैयायिकों का वक्तव्य यह ज्ञातव्य है कि उक्त प्रकार ईश्वरेच्छीय-विशेष्यता है शक्ति। इच्छा के एक होने पर भी विशेष्यता विशेष्यभेद से भिन्न होने के कारण घटगत उक्त इच्छीय-विशेष्यता पटमें जायेगी नहीं, अतः घटपद का शक्य पट नहीं कहलायेगा। तात्पर्य यह कि 'तत्पदजन्यबोधविषयत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपित-भगवदिच्छीयविशेष्यता तदर्थे तत्पदशक्तिः' यह स्थिर होता है। ज्ञान के समान इच्छा के भी प्रकार एवं विशेष्य होते हैं। 'घटः घटपदात् बोद्धव्यः' इस इच्छा का परिष्कृत आकार होता है 'घटः घटपदजन्य-बोधविषयतावान् भवतु।' तदनुसार घट होता है इस इच्छा का मुख्य विशेष्य और 'घटपद्जन्यबोधविषयत्व' होता है प्रकार। मुख्यविशेष्य वह कहलाता है जो कि किसी में विशेषण हो पाता नहीं। इस वस्तुस्थिति के अनुसार 'घटः घटपदात् बोद्धव्यः' इस इच्छा की मुख्य विशेष्यता घट में ही जायेगी अन्यत्र नहीं। इसलिए पट में घटपद-वाच्यता की

उक्त प्रकार आपत्ति नहीं दी जा सकती। यहां एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि भगवान के ज्ञान एवं यत्न को शक्ति न मानकर उनकी उक्त प्रकार इच्छा को ही शक्ति क्यों माना जा रहा है ? इसके उत्तर में दीपिका के व्याख्याता नीलकंठ ने यह कहा है कि 'आधुनिक संकेतात्मक परिभाषा की इच्छारूपता सर्वानुभवसिद्ध होने के कारण भगवत्संकेतस्वरूप शक्ति को भी उनकी इच्छा ही मानना उचित होगा' ऐसा कहा है। परंतु इस संबंध में मेरा कथन यह है कि प्रमा अप्रमा, संशय निश्चय, प्रत्यक्षअनुमिति आदि रूप में मंथिज्ञान की विभिन्नता के कारण आधुनिक संकेत को सामान्यतः ज्ञान स्वरूप मानना कठिन होगा। क्योंकि अस्माच्छब्दात् अपमर्थो बोद्धव्यो न वा ? इस ज्ञान से पदार्थ की उपस्थिति होकर शाब्दबोध होता हुआ पाया जाता नहीं। संकेत को निश्चयात्मक ज्ञान कहने में गौरव इसलिए प्राप्त होगा कि निश्चय का निर्वचन 'संशयान्यज्ञानत्व' होता है। इसलिए निश्चयत्वघटित शक्ति के निर्वचन में गौरव अनिवार्य रूप से आपन्न होगा। संकेतात्मक परिभाषा स्वरूप मान लेने पर यह कठिनाई उपस्थित होती नहीं। इस प्रकार परिभाषात्मक संकेत को इच्छा स्वरूप मान लेने पर भगवत्संकेतात्मक शक्ति को भी इच्छा स्वरूप ही मानना इसलिए उचित होगा कि संकेतत्व उभयसाधारण हैं। डित्थादीनां इत्यादि के द्वारा दृष्टांत उपस्थित किया गया है। कहने का तात्पर्य यह कि 'डित्थः काष्ठमयो हस्ती डवित्थः तन्मयो मृगः' इस परिभाषा के अनुसार जिस प्रकार 'डित्थ' पद से काठ का हाथी और 'डवित्थ' पद से काठ का मृग समझा जाता है, उसी प्रकार 'घटपदात् कम्बुग्रीवादिमान् बोद्धव्यः' इस संकेत से घटपद से कम्बुग्रीवा आदि युक्त जलाहरणपात्र समझे जाने के कारण संकेत को ही शक्ति मानना उचित है।

दीपिका

गवादिपदानां जातावेव शक्तिर्विशेषणतया जातेः प्रथममुपस्थितत्वात्। व्यक्तिलाभस्त्वाक्षेपात् इति केचित्तन्न गामानयेत्यादौ सर्वत्रानयनादेर्व्यक्तावेव सम्भवेन जातिविशिष्टव्यक्तावेव शक्तिकल्पनात्। शक्तिग्रहश्च वृद्धव्यवहारेण। तथाहि व्युत्पित्सुर्बालो गामानयेत्युत्तमवृद्धवाक्यश्रवणानन्तरं मध्यमवृद्धप्रवृत्तिमुपलभ्य गवानयनं च दृष्ट्वा मध्यमवृद्धप्रवृत्तिजनकज्ञानस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यजन्यत्वं निश्चित्य अश्वमानय गां बधान इति वाक्यान्तरे आवापोद्वापाभ्यां गोपदस्य गोत्वविशिष्टे शक्तिः, अश्वपदस्य अश्वत्व-विशिष्टे शक्तिः इति व्युत्पद्यते।

अनुवाद

गो प्रभृतिशब्दों की शक्ति गोत्व आदि जाति में है। क्योंकि विशेषण होने

के कारण पहले जाति की ही उपस्थिति होती है। व्यक्ति का लाभ तो आक्षेप से हो जाता है, यह कुछ लोगों का कहना है। किंतु यह सही नहीं। क्योंकि 'गाय लाओ' इत्यादि वाक्य-प्रयोग-स्थल में आनयन आदि क्रियाओं का संबंध गाय प्रभृति व्यक्तियों के साथ ही होता हुआ पाया जाता है। अतः गोत्व आदि विशिष्ट गाय आदि धर्मियों में ही शक्ति की कल्पना करनी होगी। शक्ति का ज्ञान वृद्ध-व्यवहार से हुआ करता है। यथा—समझने के लिए इच्छुक बालक उत्तमवृद्ध के द्वारा उच्चारित 'गामानय' इस वाक्य को सुनकर होने वाली मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति और गवानयन को देखकर अन्वय-व्यतिरेक प्रयुक्त यह निश्चय करता है कि इस मध्यम वृद्धि की प्रवृत्ति का जनक उसको होने वाला ज्ञान, अवश्य उत्तम वृद्धि के वाक्य से जनित है। अनंतर 'अश्वमानय' गां बधान' इत्यादि-वाक्यान्तर में पदों के त्याग परिग्रहात्मक आवाप और उद्वाप के द्वारा वह निर्णय करता है कि गोपद की शक्ति गोत्व-धर्मयुक्त गाय में है और अश्वपद की शक्ति-अश्वत्व-धर्मयुक्त अश्व में।

विवरण

खण्डनार्थ मीमांसकमत उपस्थित करते हैं गवादिपदानां इत्यादि के द्वारा। हेतु-बतलाते हैं विशेषणतया इत्यादि द्वारा। अभिप्राय यह है कि विशेषण के ज्ञान के बिना विशिष्ट-बुद्धि होती नहीं। 'अयं घटः' इस वाक्य से यदि घट का बोध होगा तो उसके पहले विशेषण भूत घटत्व का ज्ञान आवश्यक होगा। घटत्व घट में विशेषण होता है इसलिए घटपद की शक्ति उसी में माननी चाहिए। इस पर प्रश्न यह होगा कि फिर घटपद से घड़े का बोध कैसे होगा? अतः उसका उपपादन किया गया है 'आक्षेपात्' यह कहकर। जिसके बिना जो उपपन्न होता नहीं उसका उससे आक्षेप हुआ करता है। जैसे 'पीनोऽयं देवदत्तः दिवा नु भुंक्ते' यहां पर पीनत्व से रात्रिभोजन का आक्षेप होता है। मीमांसकों का कहना है कि घटत्व आदि जातियां घर आदि आश्रय के बिना रह नहीं सकतीं अतः आश्रयभूत घट की कल्पना हो जायेगी। कल्पना ही है आक्षेप। इस मीमांसक मत का खण्डन किया गया है 'तन्त्र' इत्यादि के द्वारा। इस उत्तर ग्रंथ का आशय यह है कि 'गामानय' इस वाक्य से गोत्वजाति-युक्त गोव्यक्ति-कर्मक आनय का ही बोध होता है गोत्वकर्मक आनयन का नहीं। यदि 'गो' पद का अर्थ गोत्व ही माना जाय तो उक्त वाक्य से गोत्व-कर्मक आनयन का बोध होना चाहिए, जैसा कि होता नहीं। क्योंकि गोत्व जाति द्रव्य नहीं कि उसमें आनयन क्रिया का अन्वय हो सके। अतः 'गो' आदि पद की शक्ति गोत्व आदि जाति युक्त गो आदि में ही मानना उचित है। 'कल्पनात्' इसका अर्थ है 'अनुमानात्'।

अनुमान का आकार 'गोपदं गोत्वावच्छिक वाचकं वृद्धैस्तत्र व्यवह्रित्यमाणत्वात्' ऐसा ज्ञातव्य है । यद्यपि शक्ति-ग्राहक व्याकरण उपमान आदि अनेक हैं, तथापि अज्ञ बालकों को पद-शक्ति का ज्ञान वृद्ध-व्यवहार से ही हुआ करता है । अतः ऐसा कोई व्यक्ति नहीं बतलाया जा सकता जिसे कि व्यवहार से शक्ति ग्रह न हुआ हो । इसलिए वृद्ध व्यवहार को ही यहां शक्ति-ग्राहक रूप में बतलाया गया है । शक्ति ग्राहकों का परिगणन अन्यत्र :—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद्विकृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

इस पद्य के द्वारा किया गया है । जैसे 'डुपचक पाके' इस व्याकरण वाक्य से यह ज्ञात होता है कि पच धातु की शक्ति पाक अर्थ में है । उपमान से शक्ति-ग्रह किस प्रकार होता है यह उपमान खंड के द्वारा बतलाया गया है । 'उमा कात्यायनी गौरी' इत्यादि कोश-वाक्य से यह ज्ञात होता है कि उमा पद हिमालय-पुत्री पार्वती का वाचक है । 'कोकिलः पिकपदवाच्यः' इस आप्तवाक्य से पिकशब्द की शक्ति कोकिल में है यह ज्ञात होता है । व्यवहार से होने वाले शक्ति ग्रह का वर्णन तो दीपिका-कार ने स्वयं किया है । 'यवमयश्चरुर्भवति' यहां यव पद का दीर्घशूक अन्न में शक्ति-ग्रह 'वसन्ते सर्वशस्यानां जायते पत्र-शातनम् । मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः ॥ इत्यादि वाक्य शेष से होता है । 'पचति' यहां पर 'पाकं करोति' इस विवरण से 'ति' आख्यात की शक्ति का ग्रह यत्न अर्थ में होता है । 'सहकारतरौ मधुरं पिको रौति' इत्यादि-वाक्य प्रयोगस्थल में 'पिक' पद का कोकिल में शक्ति-ग्रह 'मधुरं' और 'रौति' इन प्रसिद्ध पदों के सान्निध्य से होता है । दीपिका में 'तथाहि' के द्वारा व्यवहार से होने वाले शक्ति-ग्रह का विशद वर्णन किया गया है । तात्पर्य यह है कि आदेशकवृद्ध यदि दूसरे आदेश्य व्यक्ति से यह कहता है कि 'गामानय' और तदनुसार वह आदेश्य व्यक्ति गाय ले आता है तो वहां बैठा हुआ अज्ञ बालक प्रथमतः यह समझता है कि यह आदेश्य व्यक्ति इस गाय को उधर से इधर इस आदेशक वृद्ध के कथनानुसार ही किया है । इसके अनंतर आदेशक वृद्ध यदि पुनः आदेश्य व्यक्ति को यह कहता है कि 'गां नय, अश्वमानय' और तदनुसार वह आदेश्य व्यक्ति गाय को ले जाता है और घोड़ा ले आता है तो वहां बैठा हुआ परिस्थिति का अध्ययन करने वाला वह बालक विभिन्न परिस्थिति से सम्बद्ध विभिन्न उक्त वाक्य-गत विभिन्न पदों के त्याग-परिग्रहात्मक आवाप और उद्वाप की ओर ध्यान देकर 'गो' पद का अर्थ है गाय और 'आनय' का अर्थ है उधर से इधर करना स्वरूप ले आना, यह शक्तिग्रह करता है । यही शक्ति-ग्रह कहलाता

है व्यवहार से होने वाला शक्ति ग्रह । मीमांसक मत में शक्ति-ग्रह केवल इस वृद्धव्यवहार से ही हुआ करता है ।

दीपिका

ननु सर्वत्र कार्यपरत्वाद्व्यवहारस्य कार्यवाक्य एव व्युत्पत्तिः न सिद्धे इति चेन्न, काञ्च्यां त्रिभुवनतिलको भूपतिः इत्यादौ सिद्धेऽपि व्यवहारात् । 'विकसितपद्मे मधूनि पिबति मधुकरः' इत्यादौ प्रसिद्ध-पद-व्यवहारात् सिद्धेऽपि मधुकरादेर्व्युत्पत्तिदर्शनाच्च । लक्षणापि शब्दवृत्तिः । शब्दसम्बन्धो लक्षणा । गंगायां घोषः इत्यत्र गंगापदवाच्य-प्रवाहसम्बन्धादेव तीरोपस्थितौ तीरेऽपि शक्तिर्न कल्प्यते । सैन्धवादौ लवणाश्वयोः परस्परसम्बन्धाभावात् नानाशक्तिकल्पनम् । लक्षणा त्रिविधा जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा चेति । यत्र वाच्यार्थस्यान्वयाऽभावः तत्र जहल्लक्षणा । यथा मंचाः क्रोशन्ति । यत्र वाच्चार्थस्याप्यन्वयस्तत्राजहदिति । यथा छत्रिणो यान्ति । यत्र वाक्यैकदेशत्यागेन एकदेशान्वयस्तत्र जहदजहदिति । यथा–तत्त्वमसीति । गौण्यपि लक्षणैव लक्ष्यमाण-गुणसम्बन्धरूपा । यथा अग्निर्माणवक इति ।

अनुवाद

सारे व्यवहार, आनयन प्रभृति कृतिसाध्य क्रिया अर्थक ही होते हैं । अतः बोधजनक-शक्ति कार्यताबोधक वाक्यों में ही मान्य है सिद्ध पदों में नहीं, यह बात नहीं कही जा सकती । क्योंकि 'कांच्यां त्रिभुवनतिलको भूपतिः' इति वाक्य-प्रयोगस्थल में सिद्ध पदों के द्वारा किया जाने वाला व्यवहार भी यतः पाया ही जाता है । और 'विकसित-पद्मे मधूनि पिवति मधुकरः' इत्यादि वाक्यस्थल में प्रसिद्ध पदों के समभिव्याहार से मधुकरपद की शक्ति का ग्रह भ्रमर कीट में होता है । लक्षणा भी अर्थ के साथ होने वाला शब्द का एक प्रकार संबंध है । शक्य अर्थ का संबंध है लक्षणां । 'गंगायां घोषः' यहां पर गंगा पद के शक्य अर्थ-प्रवाह का तीर में होने वाला सामीप्य संबंध है लक्षणा । उसी से तीर अर्थ की उपस्थिति होती है, अतः तीर में गंगा पद की शक्ति मान्य होती नहीं । सैन्धव पद के अर्थभूत लवण और अश्व इन दोनों में कोई संबंध होता नहीं अतः वहां दोनों अर्थों में सैन्ध पद की दो शक्तियां मानी जाती हैं । नाना शक्ति की कल्पना होती है । जहां शक्य अर्थ का अन्वय होता नहीं वहां की लक्षणा होती है जहल्लक्षणा जैसे 'मंचाः क्रोशन्ति' यहां पर । जहां शक्य पदार्थ का भी अन्वय होता है वहां की लक्षणा होती है अजहल्लक्षणा । जैसे 'छत्रिणो यान्ति' यहाँ पर । जहां एक देश को छोड़कर अपर एक देश का ही अन्वय-बोध होता है वहां होती

है जहदजहल्लक्षणा जैसे 'तत्त्वमसि' यहां पर। ज्ञायमान होता है गुण संबंध जहां पर, वह गौणी भी लक्षणा के अंदर ही गतार्थ है। जैसे 'अग्निर्माणवकः' यहां पर।

विवरण

मीमांसक लोग वाक्यों को कार्यवाक्य एवं सिद्ध वाक्य रूप में दो भागों में विभक्त मानते हैं। कार्य-वाक्य वे उसे कहते हैं जो कि कार्यतावाचक लिङ् लोट् तव्य प्रत्यय-वाचक-पद-घटित होता है। और उससे भिन्न वाक्य को मानते हैं सिद्ध-वाक्य। इन दोनों वाक्यों के अंदर शाब्दबोध का जनक वे लोग कार्यवाक्यों को ही मानते हैं सिद्ध-वाक्यों को नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि उनके मत में 'घटमानय' इत्यादि वाक्यों से ही शाब्दबोध होता है केवल 'घटोऽस्ति' इत्यादि वाक्यों से नहीं। इस मतवाद के खंडनार्थ प्रश्न उठाया गया है 'ननु सर्वत्र' इत्यादि के द्वारा। यहां 'सर्वत्र व्यवहारस्य कार्यपरत्वात्' इस प्रकार वाक्य-योजना ज्ञातव्य है। 'कार्यपरत्वात्' इसका अर्थ यह है कि व्यवहार नियमतः कार्यता-वाचक-पदघटित ही हुआ करता है। 'कार्यवाक्ये एव व्युत्पत्तिः' इसका अर्थ यह है कि कार्यतावाचक पदघटिति वाक्य से ही शक्ति-ग्रह हुआ करता है। इस मीमांसकीय युक्ति का खंडन किया गया है 'न, कांच्यां त्रिभुवनतिलको भूपतिः' इत्यादि के द्वारा। आशय यह है कि यहां जबकि कार्यतावाचक लिङ् लोट् तव्य-प्रत्ययघटित पद के न रहते हुए भी शाब्दबोध होता हुआ पाया जाता है तब कैसे मीमांसकों का यह कथन मान्य ठहराया जाय कि सिद्ध-वाक्य से बिल्कुल बोध होता नहीं? 'विकसितपद्मे' इत्यादि के द्वारा दूसरी युक्ति बतलायी गयी है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'विकसितपद्मे मधूनि पिबति मधुकरः' इस वाक्य के अंदर भी कार्यतावाचक कोई पद है नहीं किंतु इस वाक्य से प्रसिद्ध-पदसान्निध्य-प्रयुक्त-शक्ति-ग्रह होता है। ऐसी परिस्थिति में यह बिल्कुल नहीं कहा जा सकता कि इस सिद्ध-वाक्य से बोध होता नहीं। अतः मीमांसकों का यह कथन संगत नहीं कि कार्यवाक्य से ही शाब्द-बोध होता है सिद्ध-वाक्य से नहीं। वैयाकरण लोग शक्ति से अतिरिक्त लक्षणा नामक शब्द वृत्ति मानते नही किंतु न्याय वैशेषिक सिद्धांत में लक्षणा भी स्वतंत्र वृत्ति रूप में मान्य है, यह बतलाया गया है 'लक्षणाऽपि शब्दवृत्तिः' यह कहकर 'शब्दवृत्तिः' इसका अर्थ है 'शब्द-सम्बन्धः'। सारांश यह हुआ कि वाक्य अर्थ में जिस प्रकार वाचक शब्द का 'शक्ति' संबंध मान्य होता है, उसी प्रकार पद प्रतियोगिक और अर्थानुयोगिक लक्षणा नामक संबंध भी मान्य है। क्योंकि 'गंगायां घोषः' एतादृश वाक्य-प्रयोग-स्थल में गंगा पद का अर्थ होता है 'भगीरथवातावच्छिन्न जल प्रवाहः' उसमें गोपग्रामात्मक घोष का अस्तित्व बाधिक होता है, वह हो सकता

नहीं। फलतः 'अर्थाबोध' स्वरूप योग्यता का ज्ञान न हो सकने के कारण वहां शाब्द-बोध तब तक नहीं हो सकता जब तक घोष के आधारभूत तीर में गंगा पद की लक्षणावृत्ति न मानी जाय। तीर के साथ गंगा पद की लक्षणात्मक वृत्ति मानने पर उसके सहारे गंगा पद से उपस्थित होने वाले गंगातीर में अनायास घोष का अस्तित्व बोध हो पाता है। इसी प्रकार अन्यलाक्षणिक पद-घटित वाक्य-प्रयोग-स्थल में भी ज्ञातव्य है। 'शक्यसंबंधः' इसके द्वारा लक्षणा का लक्षण बतलाया गया है। फलतः 'शक्यसंबंधत्वं लक्षणात्वम्' यह लक्षणा का लक्षण ज्ञातव्य है। लक्षणा का भी काम नाना शक्ति की मान्यता से ही क्यों न संपन्न किया जाता है? उसका उत्तर स्पष्ट रूप से बतलाया गया है 'गंगायां घोषः' इत्यादि के द्वारा। इसका आशय यह है कि लक्षणात्मक गौणवृत्ति को ही मानकर जबकि ऐसे स्थलों में कार्य-निर्वाह हो सकता है तब नानाशक्ति की कल्पना-प्रयुक्त गौरव दोष का वहन संगत नहीं कहा जा सकता। इस पर प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि तब तो सैन्धव हरि आदि सभी नानार्थक स्थलों में लक्षणा से काम चलाया जा सकता है फिर उन स्थलों में नानाशक्ति को मान्यता क्यों दी जाती है? अतः इसका उत्तर दिया गया है 'सैन्धवो लवणाश्वयोः' इत्यादि के द्वारा। कहने का तात्पर्य यह है कि एक सैन्धव-पद के अर्थभूत लवण और अश्व के बीच कोई ऐसा उपयुक्त संबंध विद्यमान है नहीं कि एक को वाच्य अर्थ रूप में लेकर तत्संबंधात्मक लक्षणा-वृत्ति के सहारे ग्राह्य द्वितीय अर्थ को लिया जा सके। अतः अगत्या वहां एक सैन्धव पद की लवण और अश्व दोनों में अलग-अलग शक्ति मानी जाती है। दूसरा एक कारण वहां यह भी है कि वहां उक्त दोनों अर्थों में समान रूप से प्रयोगाधिक्य प्राप्त होता है। इसलिए विनिगमक के अभाव-प्रयुक्त दोनों अर्थों में एक पद की शक्ति समानरूप से मान्य होती है। 'गंगायां घोषः' इत्यादि वाक्य-प्रयोग स्थलों में यह बात होती नहीं। गंगा शब्द का प्रयोग प्रवाह अर्थ में ही होता हुआ पाया जाता है। 'लक्षणा त्रिविधा' इसके द्वारा लक्षणा का विभाजन किया गया है। जहां पद-शक्य-अर्थ का बोधक न होता हुआ केवल लक्ष्य मात्र का बोधक होता है वहां भी लक्षणा होती है जहल्लक्षणा। इसे ही जहत्स्वार्था भी कहते हैं। इस वस्तुस्थिति के अनुसार जहल्लक्षणा का लक्षण 'तद्बोधाविषय-शक्यार्थसम्बन्धत्वम्' यह समझना चाहिए। इस जहल्लक्षणा का उदाहरण उपस्थित किया गया है 'यथामंचाक्रोशन्ति' इत्यादि के द्वारा। तात्पर्य यह कि यहां मंच पद से शक्य अर्थ मंच का बोध न होकर व्यक्ति का बोध होता है। फलतः यहां की लक्षणा 'शब्दार्थ-मंचनिष्ठ-आधारतानिरूपित आधेयता' संबंध स्वरूप होती है। जहां शक्य अर्थ एवं तद्भिन्न अर्थ दोनों का बोध होता है वहां होती है अजहल्लक्षणा। फलतः 'तत्पदशक्त्यननुयोगिविषयक बोधविषयशक्यार्थसम्बन्ध-

त्वम्' यह अजहल्लक्षणा का लक्षण ज्ञातव्य है। 'छत्रिणो जान्ति' इस वाक्य-प्रयोग स्थल में छत्रिपदशक्य-प्रतियोगिक शक्तिसंबंध का अननुयोगी होगा साथ जाने वाला अछत्र व्यक्ति, उसका भी बोध होता है और शक्य-अर्थ छत्रधर व्यक्ति का भी।

जहदजहल्लक्षणा वहां होती है जहां वाच्य-अर्थ-भूत विशिष्ट के अंदर विशेषण अंश का परित्याग करके विशेष्य मात्र अर्थ का बोध होता है। यथा-वेदान्तमत-सिद्ध-जीव ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादक 'तत्त्वमसि' यह वाक्य प्रयुक्त होने पर 'तत्' पद का वाच्य अर्थ होता है सर्वज्ञाता आदि से विशिष्ट अर्थात् युक्त परमेश्वर और 'त्वं' पद का वाच्य अर्थ होता है अन्तःकरण से विशिष्ट अर्थात् सीमिति होने के कारण अल्पज्ञता आदि से युक्त जीव। अब इन दोनों की अभिन्नता तो वेदान्तमत में भी संभव नहीं। क्योंकि विशेषणों की भिन्नता प्रयुक्त जिस प्रकार नीलघट और पीतघट ये दोनों अभिन्न नहीं हो पाते उसी प्रकार सर्वज्ञता और अल्पज्ञता स्वरूप विभिन्न विरुद्ध विशेषणों के कारण जीव ब्रह्म भी जो कि 'त्वं' और 'तत्' पद के वाच्य अर्थ हैं एक नहीं हो सकते। किंतु उक्त श्रुति-प्रतिपादित अभेद को किसी न किसी प्रकार बनाना वेदान्तियों के लिए अति आवश्यक है। अतः दोनों ओर से विशेषण अंश सर्वज्ञता और अल्पज्ञता आदि को छोड़कर तत्पद का लक्ष्य अर्थ केवल आत्मा अर्थात् चैतन्य, और त्वं पद का लक्ष्य अर्थ केवल आत्मा अर्थात् चैतन्य को लेकर दोनों की अभिन्नता कही जाती है। फलतः कुछ अंश (विशेषण) का दोनों ओर से त्याग और कुछ अंश (विशेष्य) का दोनों ओर से ग्रहण होने के कारण वह लक्षणा कहलाती है जहदजहल्लक्षणा। इस जहदजहल्लक्षणा का लक्षण न्यायपरिभाषा के अनुसार होगा 'वाचकपदोपस्थाप्य-किंचिद्धर्मविशेष्यत्वानवच्छिन्न-शक्यसम्बन्धत्वम्'। तत् 'पद के द्वारा उपस्थाप्य' किंचिद् धर्म होगा 'सर्वज्ञत्वं' तत्प्रकारक अर्थात् तद्विशेषणक ज्ञान उस समय ब्रह्म में होगा नहीं 'उक्त प्रकार ज्ञान-विशेष्यता उस समय ब्रह्म में होगी नहीं, अतः ब्रह्मनिष्ठ संबंध उक्त प्रकार विशेष्यत्वान-वच्छिन्न हो जायेगा।

इसी प्रकार 'त्वं' पद की ओर भी ज्ञातव्य है। किंतु न्याय-मत में जहदज-हल्लक्षणा का सही उदाहरण यह हो नहीं सकता। क्योंकि न्यायमत में जीवात्मा और परमात्मा के बीच अभिन्नता बिल्कुल मान्य नहीं। इसलिए जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण स्थल 'सोऽयं देवदत्तः' अर्थात् 'यह वही देवदत्त है' इत्यादि वाच्य प्रयोग स्थल को समझना चाहिए। क्योंकि तत्काल और एतत्काल इन दोनों का संबंध किसी भी एक ही वस्तु में एक ही समय समझा नहीं जा सकता।

अतः विरुद्ध विशेषण-अंशभूत तत् काल और एतत् काल दोनों का दोनों ओर से त्याग करके केवल देवदत्त मात्रस्वरूप विशेष्य अंश को लेकर ही अभिन्नता बनायी एवं बतलायी जा सकती है। परंतु यदि दोनों ओर वाच्य अर्थ के अंदर आने वाली तत्ता (तत् काल) और एतता (एतत् काल) इन दोनों को विशेषण न मानकर उपलक्षण अर्थात् परिचायक मात्र मान लिया जाय तो जहदजहल्लक्षणा मानने की आवश्यकता रह नहीं जाती। इसलिए अधिकतर नैयायिकों ने लक्षणा के विचारावसर पर उस तृतीय जहदजहल्लक्षणा की चर्चा नहीं की है। जिस गुण-प्रधान-लक्षणा को वैयाकरण लोग गौणी पुकारते हुए भी उसे लक्षणा न मानकर एक प्रकार शक्ति ही मानते हैं वह वस्तुतः लक्षणा है शक्ति नहीं यह बात बत-लायी गयी है 'गौण्यपि' इत्यादि के द्वारा।

दीपिका

व्यंजनाऽपि शक्तिलक्षणान्तर्भूता शब्दशक्तिमूला अर्थशक्तिमूला च अनुमानादिनाऽन्यथासिद्धा। तात्पर्यानुपपत्तिर्लक्षणाबीजम्। तत्प्रतीती-च्छयोच्चरितत्वस्वरूपतात्पर्यज्ञानं च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः, नानार्थानु-रोधात्। प्रकरणादिकं तात्पर्यग्राहकम्। द्वारमित्यादौ विधेहीति शब्दा-ध्याहारः नन्वर्थज्ञानार्थत्वाच्छब्दस्य, अर्थमविज्ञाय शब्दाध्याहारासम्भवात् अर्थाध्याहार एव युक्तः, इति चेन्न। पदविशेषजन्यपदार्थोपस्थितेः शाब्द-ज्ञाने हेतुत्वात्। अन्यथा घटः कर्मत्वमानयनं कृतिरित्यादावपि शाब्द-ज्ञानप्रसंगात्।

अनुवाद

शब्दशक्तिमूला व्यंजना शक्ति अथवा लक्षणा के अंदर ही यथासंभव अंतर्मुक्त है। अर्थशक्तिमूलाव्यंजना अनुमानादि से व्यर्थीकृत है। लक्षणा के प्रति बीजरूप से मान्य है तात्पर्यानुपपत्ति। इस वाक्य से ऐसा ज्ञान किया जाय, इस प्रकार होने वाली इच्छा प्रयुक्त उच्चारित होना है तात्पर्य, जोकि वाक्यार्थ-बोध के प्रति कारण है। यह इसलिए कि ऐसा न मानने पर अनेकार्थक वाक्य स्थल में अपेक्षित बोध का सम्पादन हो नहीं पायेगा। तात्पर्य के ग्राहक होते हैं प्रकरण आदि। 'द्वारं' इत्यादि प्रयोगस्थलों में 'विधेहि इत्यादि पदों का अध्याहार हुआ करता है। यहां यह कहना उचित नहीं कि शब्द का प्रयोग तो अर्थज्ञान के लिए ही किया जाता है, अर्थ को समझे बिना शब्द का अध्याहार भी संभव नहीं। अतः अर्थ का ही अध्याहार मानना उचित है। क्योंकि पदार्थ की पदजन्य उपस्थिति ही शाब्दबोध के प्रति हेतु है। अन्यथा घटः, कर्मत्वम्, आनयनम्, कृति इत्यादि वाक्यों से भी शब्दबोध आपन्न हो पड़ेंगे।

विवरण

आलंकारिक लोग शक्ति और लक्षणा के समान व्यंजना को भी शब्द और उनके अर्थों के बीच होने वाला संबंध मानते हैं ।

उनका इस संबंध में कहना यह है कि शक्ति या लक्षणा जहां स्वगत सामर्थ्य से एक अर्थ बोध का संपादन कर चरितार्थ हो जाता है, विरत हो जाती है, वहां उसी वाक्य से सहृदय व्यक्ति को जो अर्थान्तर का बोध होता हुआ पाया जाता है, उसकी उपपत्ति के लिए व्यंजना को भी अवश्य माना जाता है । उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि—किसी वैद्य ने किसी अंगवेदना से खिन्न व्यक्ति को वेदना की निवृत्ति के लिए यदि यह उपचार बतलाया है कि 'नागर (नागर मोथा) से मिलित वयस्था (शोंठ) अंगवेदना नाशक है तो वहां विद्यमान किसी अन्य सहृदय को उस वाक्य से यह दूसरा अर्थ भी अनायास प्रतीत हो जाता है कि वयस्था (युवती) नागर (युवक) से संयुक्त होकर अंगगत वेदना को (कामपीड़ा) को हटा रही है ।

यह सहृदय व्यक्ति को होने वाला द्वितीय बोध शक्ति से इसलिए संपादित होने वाला नहीं माना जा सकता कि शक्ति से होने वाला प्रथम बोध तो पहले ही संपादित हो गया रहता है। अतः व्यंजना नामक वृत्ति भी अवश्य मान्य है । इसी आलंकारित मतवाद का खंडन किया गया है—'व्यंजनाऽपि' इत्यादि ग्रंथ के द्वारा । नैयायिकों का कहना इस संबंध में यह है कि वह दूसरा बोध भी क्यों न शक्ति-ज्ञान के ही अधीन होने वाला माना जाय ? क्योंकि 'वयस्था' शब्द की समुदायशक्ति अर्थात् रूढ़ि यदि शोंठ स्वरूप औषध में है तो 'वयसि-स्थिता वयस्था' इस अभिप्राय से अवयव शक्ति अर्थात् योगशक्ति युवती स्वरूप अर्थान्तर में भी विद्यमान होती है । इसी प्रकार नागर शब्द भी 'नगरे भवः' इसके अनुसार द्वितीय योग-शक्ति से युवक अर्थ का भी वाचक होता ही है । संभव है कि इस पर आलंकारिकों की ओर से यह कहा जाय कि तब दूसरे अर्थ को सहृदय मात्रवेद्यता नहीं हो पायेगी । क्योंकि शक्ति लभ्य अर्थ सर्वसाधारण हुआ करता है । तो इसके उत्तर में उन्हें यह भलीभांति कहा जा सकता है कि द्वितीय शक्ति से अर्थान्तर की झटिति होने वाली उपस्थिति को—सहृदयता का फल मान लेने पर यह अनुपपत्ति अनायास हटायी जा सकती है ।

अब यहां प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि शाब्दी व्यंजनास्थल में इस प्रकार शक्ति से काम चला लेने पर भी आर्थी व्यंजना स्थल में शक्ति के द्वारा व्यंग्य वस्तु का बोध नहीं सम्पन्न किया जा सकता । उदाहरण के द्वारा इसे यों

समझा जा सकता है कि जहां प्रिय-समागम के लिए प्रेषित दूती—स्वयं वहां संभोग करके नायिका के पास आती है और वह खिन्न नायिका उस दूती से यह कहती है कि—

'स्तन तट हैं निःशेष भाव से विच्युत चन्दन
अधररागनिर्मृष्ट, अनंजन हुए विलोचन ।।
गयी अधम के निकट न तू ओ मिथ्या वादिनि
करने को थी गयी स्नान वापी ओ पापिनि ।।

यहां वाच्य अर्थ होता है नायक के निकट न जाना । परंतु व्यंग्य अर्थ होता है उसके विपरीत उस नायक के यहां जाकर संभोग करना । फलतः अत्यन्त विरुद्ध होने वाले दोनों अर्थों के साथ कोई भी शब्द वाच्य-वाचक-भावापन्न प्राप्त हो पाता नहीं, जैसा कि उक्त 'वयस्था' और 'नागर' शब्द अपेक्षित दोनों अर्थों से वाच्य-वाचक-भावापन्न होते हैं । अतः ऐसी आर्थी-व्यंजना स्थलों में शक्ति से बोध का निर्वाह संभव न हो सकने के कारण व्यंजना को मान्यता देनी ही होगी । अतः इसका उत्तर दिया गया है 'आर्थी व्यंजनाय' इत्यादि के द्वारा । इस उत्तर ग्रंथ का आशय यह है कि ऐसे स्थलों में भी यह भली भांति कहा जा सकता है कि अनुमान से ही अपेक्षित बोध होता है, व्यंजनावृत्ति के सहारे नहीं । यहां अनुमान का आकार यह कहा जा सकता है कि—'इयं भूतनायक-सम्भोग-फलकोत्तरदेश-संयोगवती विलक्षणशारीरिक-परिस्थिति-युक्तत्वात्' अर्थात् 'यह दूती नायक से संभोग के लिए गयी थी और कृतकार्य होकर आयी है, क्योंकि इसकी वर्तमान शारीरिक परिस्थिति तदनुरूप ही पायी जा रही है ।'

जो लोग अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का वीज मानते थे उनके मत की अनादरणीयता के सूचनार्थ स्वमत बतलाया है दीपिकाकार ने 'तात्पर्यानुपपत्तिः' इत्यादि के द्वारा । अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का हेतु मानने पर 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' अर्थात् 'कौवे से दही को बचाओ' इत्यादि वाक्य-प्रयोगस्थल में लक्षणा न हो पायेगी जो कि होती है । क्योंकि वहां 'काक' पद से सारे 'दधिविनाशक' गृहीत होते हैं । इसीलिए उपदेश्य व्यक्ति दही की रक्षा केवल कौवे से ही नहीं करता, अपितु बिल्ली आदि अन्य दधि-विनाशकों से भी । तात्पर्य का लक्षण सूचित करते हुए शाब्दबोध के प्रति उसका ज्ञान कारण होता है यह बतलाया गया है 'तत्प्रतीतीच्छया' इत्यादि ग्रंथ के द्वारा । और तात्पर्य को शाब्द बोध के प्रति कारण मानने का कारण बतलाया गया है 'नानार्थानुरोधात्' इस कथन के द्वारा । कहने का तात्पर्य यह है कि तात्पर्य-ज्ञान को यदि शाब्दबोध के प्रति कारण न माना जाय तो 'सैन्धवमानय' इस वाक्य से भोजन काल में नियमतः

लवणानयन का ही बोध; और यात्रास्थल में नियमतः अश्वानयन का ही बोध नहीं हो पायेगा, जैसा कि होता है। तात्पर्य-ज्ञान को शाब्द-बोध के प्रति कारण मान लेने पर उक्त अनुपत्ति इसलिए नहीं आपन्न हो पायेगी कि जब 'अत्र सैन्धवपदं लवणबोधनेच्छया उच्चरितम्' अर्थात् 'यहां उक्त सैंधव पद नमक को समझाने के लिए उक्त हुआ है इस प्रकार तात्पर्य-ज्ञान श्रोता को होगा तो वह वहां नमक के आनयन को ही समझेगा अश्वानयन को नहीं। इसी प्रकार जब कि 'अत्र सैन्धव पदं अश्वबोधनेच्छया उच्चरितम्' अर्थात् यहां सैन्धवपद घोड़े को समझाने के लिए ही प्रयुक्त हुआ है इस प्रकार तात्पर्यज्ञान श्रोता को होगा वहां उक्त वाक्य से घोड़े का आनयन ही समझा जायेगा नमक का आनयन नहीं। उक्त प्रकार तात्पर्य-समझा कैसे जा सकेगा? इस शंका के निवृत्यर्थ कहा गया है 'प्रकरणादिकं' इत्यादि के द्वारा। आदि पद से विशेषणों को तात्पर्य का ग्राहक समझना चाहिए। जैसे 'शंखचक्रधर हरि आये' ऐसे वाक्यों के प्रयोग स्थल में, हरि शब्द अनेकार्थक होने पर भी 'शंखचक्रधर' इस विशेषण के कारण उससे विष्णु ही समझे जाते हैं। अन्य कोई सिंह, मेढ़क, बंदर आदि अर्थ लिए जाते नहीं।

अब प्रश्न यहां यह उपस्थित होता है कि प्रकरण को तात्पर्य का नियामक न मानकर शाब्दबोध के प्रति ही क्यों न कारण मान लिया जाता है? तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि विभिन्न स्थलों में प्रकरण की विभिन्नता के कारण उसे अनुगत रूप से शाब्द बोध के प्रति कारण माना जा सकता नहीं। और अननुगत-रूप से प्रकरणों को शाब्दबोध के प्रति कारण मानने में गौरव दोष अनिवार्य हो उठता है। अतः प्रकरण को शाब्द बोध के प्रति कारण न मानकर शाब्द-बोध के कारण तात्पर्य ज्ञान का ही नियामक मानना उचित है।

अपूर्ण वाक्य-प्रयोग स्थलों में—शब्दाध्याहार के द्वारा वाक्य को पूर्ण कर लेना नितांत आवश्यक है यह बतलाते हैं—दीपिकाकार 'द्वारम्' इत्यादि के द्वारा। किये गये उसके उत्तर का सम्मिलित अभिप्रेत अर्थ यह ज्ञातव्य है कि शाब्दबोध-घटक पदार्थ का पदजन्य स्मरण शाब्दबोध के प्रति कारण होता है। इस वस्तु-स्थिति के अनुसार यदि 'विधेहि' पद नहीं रहेगा तो उद्बोधकान्तरवश विधान स्वरूप अर्थ की स्मृति होने पर भी वह स्मृति 'पदजन्य' अर्थात् पद से होने वाली हो पायेगी नहीं। और यदि यह कहा जाय कि शाब्द बोध के प्रति 'पदार्थो-पस्थिति' को ही कारण मानेंगे। उस उपस्थिति में पदजन्यता की अपेक्षा नहीं मानेंगे, तो यह इसलिए नहीं कहा जा सकता कि 'घटः, कर्मत्वम्, आनयनम्, कृतिः' इस विश्रृंखल प्रयोग स्थल में भी, 'घड़ा ले आओ' यह सुश्रृंखल बोध आपन्न हो उठेगा, जोकि होता नहीं।

दीपिका

पंकजादि पदेषु योगरूढ़िः। अवयवशक्तिर्योगः, समुदायशक्ती रूढ़िः। नियत-पद्मज्ञानार्थं समुदाय-शक्तिः। अन्यथा कुमुदेऽपि प्रयोगप्रसंगः। इतरान्निते शक्तिरिति प्राभाकराः। अन्वयस्य वाक्यार्थतया भान-सम्भवात् अन्वयांशेऽपि शक्तिर्न कल्पनीया इति गौतमीयाः।

अनुवाद

पंकज आदि शब्दों में होने वाली शक्ति होती है योगरूढ़ि। अवयव शक्ति का नाम है योग और समुदाय शक्ति का नाम रूढ़ि। पंकज पद में समुदाय-शक्ति इसलिए मानी जाती है कि नियमित भाव से उससे कमल का ज्ञान हो सके। अन्यथा केवल योग-शक्ति के आधार पर कुमुद अर्थ में भी पंकज पद का प्रयोग होने लगेगा। मीमांसक प्रभाकर का कहना यह है कि पदों की शक्ति इतर पदार्थ-संबद्ध स्वशक्य अर्थ में हुआ करती है। किन्तु गौतमानुयायी नैयायिकों का कहना यह है कि दो पदार्थों के बीच होने वाले संबंध का मान वाक्यार्थ रूप में आकांक्षा के सहारे हो सकता है अतः अन्वयांश में पद की शक्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

विवरण

पदगत शक्ति के प्रभेद चार हैं यथा योग, रूढ़ि, योगरूढ़ि और यौगिक रूढ़ि। समुदाय शक्ति की अपेक्षा न रखते हुए प्रकृत और प्रत्यय के अनुरूप होने वाले अर्थों की बोधिका पद-शक्ति होती है योग। और योगानपेक्ष होकर एक धर्मावच्छिन्न-अर्थ-बोधक पद-शक्ति कहलाती है रूढ़ि। योगसापेक्ष पदशक्ति होती है योगरूढ़ि और परस्परानपेक्ष होकर बोध द्वयजनिका शक्ति कहलाती है यौगिक रूढ़ि। शक्ति की इस चतुर्विधता के कारण विभिन्न तत्तत्-शक्ति-युक्त पद भी यौगिक, रूढ़, योगरूढ़ और यौगिकरूढ़ इस प्रकार चतुर्विध होते हैं। उदाहरणों के द्वारा इन्हें यों अलग-अलग समझना चाहिए कि पाचक पद हैं यौगिक। क्योंकि वहां-धात्वर्थ पाक और प्रत्ययार्थ कर्तृत्व इन दोनों को समझाने वाली योगशक्ति विद्यमान है।

घट शब्द है रूढ़। क्योंकि वहां विद्यमान शक्ति योगानपेक्ष होकर घटत्वावच्छिन्न घटात्मक अर्थ का बोधक होती है। पंकज पद है योगरूढ़ क्योंकि वहां—'पंकात् जायते इति पंकजम्' इस विग्रह के अनुसार पंकजनिकर्ता से अभिन्न कमलत्वावच्छिन्न कमल का बोध नियमित रूप से होने के कारण योगशक्तिसापेक्षसमु-

दाय शक्तिस्वरूप योगरूढ़ि विद्यमान है। 'उद्भित्' पद होता है यौगिक रूढ़ि। क्योंकि उसमें ऐसी यौगिक रूढ़ि शक्ति विद्यमान होती है कि उस पद से उक्त शक्तिद्वयगत परस्परानपेक्षा के कारण कभी लता वनस्पति का स्वतंत्र भाव से बोध होता है तो कभी यज्ञविशेष का। उक्त चार प्रकार शक्तियों के अंदर सुबोध और औरों का भी परिचायक होने के कारण योगरूढ़ि का ही उदाहरण बतलाया गया है—'पंकजादिपदेषु' इत्यादि के द्वारा।

'इत्तरान्जित' इत्यादि के द्वारा अन्विताभिधानवादी प्रभाकर का मत बतलाया गया है। उनका कथन यह है कि घट आदि पदों की शक्ति केवल घटत्व आदि धर्मावच्छिन्न में होती नहीं किंतु अन्वित-घटत्वावच्छिन्न आदि में। फलतः किंचित् संबद्ध घट आदि में। जैसे 'घटमानय' अर्थात् घड़ा ले आओ इस वाक्य प्रयोग स्थल में, घट पद की शक्ति होती है आनयन से अन्वित घट में। फलतः आनयनक्रिया-निरूपित-कर्मताविशिष्ट घट में। यह इसलिए कि ऐसा न मानने पर उक्त वाक्य से 'आनयनं घटकर्मताकम्' अर्थात् घड़े का आनयन, यह बोध नहीं हो सकता, जो कि हुआ करता है। क्योंकि 'तद्विषयकशाब्द-बुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति वृत्तिज्ञानाधीनतत्तत्पदजन्यतद्विषयक-पदार्थस्मृतिः कारणम्' अर्थात् जिस विषयक शाब्दबोध कर्तव्य होता है पदजन्य उस पदार्थ का स्मरण उस शाब्दबोधात्मक प्रभिति के लिए नितांत आवश्यक हुआ करता है। ऐसा यदि न माना जाय तो 'अयं घटः' यह वाक्य कहने पर घटपद से होने वाला घड़े का स्मरण जहां उद्बोधकांतरवश पटविषयक भी हो जाता है वहां घड़े की तरह कपड़े का भी बोध अनिवार्य हो पड़ेगा।

क्योंकि घटाशाब्द-बोध के लिए अपेक्षित रूप से मान्य होने वाला घट पदार्थ का स्मरण तो वहां हुआ रहेगा ही। उक्त मान्य कार्यकारण-भाव के आधार पर इस आपत्ति का निराकरण इसलिए हो जायेगा कि उद्बोध कांतरवश होने वाला पटस्मरण पदजन्य होगा नहीं। ऐसी परिस्थिति में उक्त प्रकार कार्यकारणभाव को मान्यता देने पर दो पदार्थों के बीच होने वाला संबंधात्मक अन्वय शाब्दबोध का विषय इसलिए नहीं हो पायेगा कि अन्वय अंश में पद शक्ति अभिहितान्वयवादियों के मत में होगी नहीं। अन्विताभिधानवादियों के मत में यह अनुपपत्ति इसलिए नहीं हो पायेगी कि दो पदार्थों के बीच होने वाले अन्वयात्मक संबंध अर्थ में पदशक्ति मान्य होने के कारण उक्त अन्वय का स्मरण भी पदजन्य हो ही जायेगा।

इसलिए संबंधविषयक बोध होने में कोई बाधा नहीं रह जायेगी। इस अन्विताभिधान की मान्यता पक्ष में 'घटपदं घटे शक्तम्' शक्तिज्ञान का आकार

न होकर 'घटपदं अन्वितघटे शक्तम्' अर्थात् 'घटपद अन्यसंबद्ध अर्थ का वाचक है ऐसा होगा। इस प्रभाकर सम्मत अन्विताभिधानवाद की खंडनीयता के सूचनार्थ दीपिकाकारने अपना मत बतलाया है 'अन्वयस्य वाक्यार्थतया' इत्यादि के द्वारा। 'वाक्यार्थतया' इस कथन का अभिप्राय यह है कि पदार्थद्वयके बीच होने वाले संबंध का मान किसी पद के वाच्य रूप में भले ही न हो पाये किंतु वाक्यार्थ रूप में तो उसका मान हो ही सकेगा। अर्थात् शाब्दबोध में पदार्थद्वय के संबंध का मान आकांक्षा के बल से संपन्न हो सकता है। अतः तदर्थ संबंध में पदवाच्यता मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

यह बात गदाधर भट्टाचार्यने व्युत्पत्तिवाद के आरंभ में लिखी है 'शाब्दाबोधे चैकपदार्थेअपरपदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते' इस कथन के द्वारा। नैयायिकों का निगूढ़ आशय यहां यह ज्ञातव्य है कि उद्बोधकांतर प्रयुक्त स्मृत होने वाले अन्य पदार्थों का मान शाब्दबोध में न आपन्न हो एतदर्थ जो प्रभाकरों ने तद्विषयक शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति वृत्तिज्ञानाधीनं तत्पदजन्य-तद्विषयक-पदार्थस्मरणं कारणम्' ऐसा कार्यकारणभाव स्थिर कर रखा है वही मान्यता प्राप्त नहीं हो सकता, फिर उसके अनुसार उक्त प्रकार संबंध में पदवाच्यता कैसे मान्य हो सकती ? क्योंकि प्रभाकर सम्मत उक्त कार्यकारण-भाव को मान्यता देने पर आपत्ति यह होगी कि जहां एक ही पद की विशेषणांश में स्वतंत्र शक्तिग्रह होगा वहां भी विशिष्ट बोध की आपत्ति हो उठेगी। यथा—'पशुपदं लोम्नि शक्तम्, लांगूलवतिच शक्तम्' इस प्रकार लोम और लांगूलवान् में अलग-अलग शक्ति ग्रह होने पर स्वतंत्र भाव से दोनों की उपस्थिति होकर पशु पद में 'लोमवल्लांगूलवान्' इस प्रकार विशिष्ट बोधात्मक शाब्दबोध होता नहीं। किंतु प्रभाकर सम्मत उक्त प्रकार कार्यकारण-भाव के आधार पर वह आपन्न हो उठेगा। क्योंकि उक्त प्रकार कार्यकारण-भाव के अनुरूप पदार्थोपस्थिति वहां विद्यमान ही रहेगी।

अतः इस आपत्ति के निवारणार्थ कार्य-कारण-भाव का आकार ऐसा मान्य होगा कि—तद्धर्म-प्रकारक-शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तद्धर्म-प्रकारकं-स्मरणं कारणम्। अर्थात् शाब्द-बोध के अंदर विषय का मान उसी धर्म से युक्त रूप में होगा जिस धर्म से युक्तरूप में उस पदार्थ का पदजन्य स्मरण हुआ रहेगा। अब संसर्ग विषयक शाब्दबोध इस कार्य-कारणभाव से आक्रांत इसलिए नहीं हो पायेगा कि शाब्दबोध में संबंध का बोध किसी धर्म से युक्त रूप में होता नहीं। इसलिए संसर्ग की पदजन्य उपस्थिति न होने पर भी उसका बोध आकांक्षा के बल से हो पायेगा। ऐसी परिस्थिति में—उक्त प्रकार प्रभाकर-सम्मत अन्विताभिधान वाद

मान्य नहीं ठहराया जा सकता । इस बात को गदाधर ने अपने 'शक्तिवाद' में और उनके व्याख्याकार हरिनाथ ने उसकी व्याख्या में विस्तृत रूप से बतलाया है ।

तर्क-संग्रह

आकांक्षा योग्यता सन्निधिश्च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः । पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकांक्षा । अर्थाबाधो योग्यता । पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः । तथाच आकांक्षादि रहितं वाक्यमप्रमाणम् । यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति न प्रमाणम्, आकांक्षाविरहत् । अग्निना सिंचेत् 'इति न प्रमाणम्, योग्यताविरहात् । प्रहरे प्रहरे असहोच्चरितानि गाम्, आनय, इत्यादि पदानि न प्रमाणम् सान्निध्याभावात् ।

अनुवाद

आकांक्षा योग्यता और सन्निधि ये शाब्दबोध में कारण होते हैं । एक पद में अपरपदाभावप्रयुक्त बोधाजनकत्व है आकांक्षा । अर्थ के बाध का अभाव है योग्यता । एक पदोच्चारण के अनंतर अविलंबेन पदान्तर का उच्चारण है सन्निधि । फलितार्थ यह कि आकांक्षा आदि रहित वाक्य प्रमाण होता नहीं । यथा आकांक्षा के अभाव के कारण 'गौः अश्वः पुरुषः, हस्ती' यह निराकांक्षवाक्य प्रमाण होता नहीं । योग्यता के अभाव-प्रयुक्त 'वह्निना सिंचेत्' यह वाक्य प्रमाण होता नहीं । सन्निधि न होने के कारण पहर पहर पर पृथक् उच्चारित 'गां आनयं' यह प्रमाण नहीं होता है ।

दीपिका

आकांक्षेति । आकांक्षादिज्ञानमित्यर्थः । अन्यथा आकांक्षादिभ्रमाच्छब्द-भ्रमो न स्यात् । आकांक्षां लक्षयति पदस्येति । योग्यतालक्षणमाह अर्थेति । सन्निधिलक्षणमाह-पदानाम् इत्यादि । अविलम्बेन पदार्थोपस्थितिः सन्निधिः । उच्चारणं तु तदुपयोगि तयोक्तम् । गौः अश्व इति । घटः कर्मत्वमित्यनाकांक्षोदाहरणं द्रष्टव्यम् ।

अनुवाद

आकांक्षा इत्यादि । इस मूल ग्रंथ का अर्थ यह है कि आकांक्षा आदि के ज्ञान शाब्दबोध के प्रतिकारण हैं । ऐसा अर्थ न मानने पर आकांक्षा के न होने पर भी आकांक्षा के भ्रम से जो शाब्दबोध होता है, वह नहीं हो पायेगा ।

'पदस्य' इत्यादि के द्वारा आकांक्षा का लक्षण बतलाया है। योग्यता का लक्षण कहा है—'अर्थ' इत्यादि के द्वारा। 'पदानाम्' इत्यादि कथन के द्वारा सन्निधि का लक्षण कहा है अव्यवहित भाव से होने वाले पदार्थों का ही नाम है वस्तुतः सन्निधि। मूलकार ने—उच्चारण को सन्निधि, उपस्थिति में उपयोगी होने के कारण कहा है। गौः अश्वः, इत्यादि। वस्तुतः घटः कर्मत्वं आनयनं कृतिः इत्यादि को आकांक्षा का उदाहरण समझना चाहिए।

विवरण

शाब्दबोध के प्रति आकांक्षा आदि नहीं किंतु उनके ज्ञान कारण हैं, इसे युक्तिप्रदर्शन पूर्वक बतलाया है 'आकांक्षाज्ञानम्' इत्यादि के द्वारा। आकांक्षा का निर्वचन इस प्रकार ज्ञातव्य है कि 'यत्पदस्य यत्पदाभावप्रयुक्तं शाब्दबोधाजनकत्वं तत्पदसमभिव्याहृत-तत्पदत्वमाकांक्षा। यथा 'घटमानय' यहां पर घटपद के अव्यवहित उत्तर यदि 'अम्' न जोड़ा जाय तो 'घटनिष्ठ कर्मता' का बोध हो सकता नहीं। इसी प्रकार घटपद के बिना 'अम्' पद भी कुछ बोध नहीं करा सकता। अतः इन दोनों पदों में परस्पर आकांक्षा माननी होगी। उक्त प्रकार आकांक्षा लक्षण का समन्वय इस प्रकार समझना चाहिए कि 'घटम्' यहां पर यत् पद से लिया गया 'अम्' पद, उसके अभाव के रहने पर केवल घट पद से घटनिष्ठकर्मता का बोध हो सकता नहीं। इसलिए अम्पदसमभिव्याहृतघटपदत्व, तथा घटपदसमभिव्याहृत-अम्पदत्व आकांक्षा पदार्थ होगा। प्रकृत में अव्यवहितोत्तरत्व संबंध से उत्तर पद में पूर्वपद-विशिष्टता तथा पूर्वपद में अव्यवहित-पूर्वत्व संबंध से उत्तर-पद-विशिष्टता आकांक्षा ज्ञातव्य है। फलितार्थ यह कि उक्त आकांक्षा लक्षण में 'बोधाजनकत्व' तक को तत्पदग्राह्य का परिचायक समझना चाहिए। तदनुसार आकांक्षा का पर्यवसित लक्षण—'अव्यवहितपूर्वत्व अव्यवहितोत्तरत्व एतदन्यतर संबंध से 'तत्पदवत्व' ही प्राप्त होता है।

'एकपदार्थनुयोगिक अपरपदार्थप्रतियोगिक संबंध' है योग्यता इसका ज्ञान भी शाब्द-बोध के प्रति कारण रूप से मान्य है। इसीलिए 'अग्निना सिंचेत्' इत्यादि अयोग्य वाक्यों से शाब्दबोध होता नहीं। अग्नि-करणकत्व सिंचन में संभव नहीं, अतः बाधित होने के कारण योग्यता बन पाती नहीं, योग्यता का ज्ञान हो पाता नहीं। इसलिए शाब्दबोध होता नहीं। अब यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वस्तुतः विचार करने पर एक पदार्थ-प्रतियोगिक अपर-पदार्थानुयोगिक संबंध का भान ही तो है शाब्दबोध ?

ऐसी परिस्थिति में इस प्रकार होने साले शाब्दबोध के पहले एतादृश योग्य-

ताज्ञान होगा कैसे ? इसलिए उक्त प्रकार योग्यता ज्ञान को शाब्दबोध के प्रति कैसे कारण माना जा सकता ? तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि संशयनिश्चय-साधारण उक्त प्रकार योग्यता-ज्ञान है कारण रूप से विवक्षित और केवल निश्चयात्मक तादृशसंबंध-निश्चय है कार्यभूत शाब्दबोध रूप से विवक्षित। अवनिश्चयात्मक योग्यताज्ञान शाब्दबोध के पूर्व न होने पर भी संशयात्मक योग्यता ज्ञान तो उसके पूर्व हो पायेगा ? अतः योग्यताज्ञान और शाब्द-बोध के बीच कार्यकारण भाव की मान्यता में कोई बाधा नहीं रह जाती। और उक्त प्रश्न का दूसरा उत्तर यह ज्ञातव्य है कि एक-प्रतियोगिक अपरानुयोगिक उक्त संबंध को योग्यता न मानकर बाधाभाव को योग्यता माना जाय। कहने का अभिप्राय यह कि तद्भावनिश्चय अर्थात् विशेष्य में विशेषण का अभाव-निश्चय होता है वाध-निश्चय और वह, लौकिक सन्निकर्षाजन्य और दोषविशेषाजन्य तज्ज्ञानमात्र के प्रति होता है प्रतिबंधक, यह वाध हेत्वाभास के विचार स्थल में विशद किया जा चुका है।

तदनुसार उक्त प्रकार वाधनिश्चय शाब्द-बोध के प्रति भी प्रतिबंधक होगा ही। और प्रतिबंधक का अभाव कार्य-मात्र के प्रति कारण होता है यह सर्वविदित है। इसलिए वाध-निश्चयाभावात्मक-योग्यता का ज्ञान अनायास शाब्द-बोध के प्रति कारण होगा। इस नवीन मतवाद में पूर्व की अपेक्षा दो प्रकारों से लाघव प्राप्त होता है। एक तो यह कि योग्यता-ज्ञान इस पक्ष में शाब्दबोध के प्रति-कारण न होकर उक्त वाध निश्चयाभाव स्वरूप योग्यता ही कारण मान्य होती है। और दूसरा यह है कि योग्यता में भी शाब्दबोध के प्रति मान्य कारणता स्वतंत्र-तया मान्य न होकर तद्बुद्धिमात्र के प्रति कारण रूप से अपेक्षित होने वाले बाध-निश्चयाभाव के रूप में ही मान्य होती है। एतादृश योग्यता को कारण मानने पर भी 'अग्निनासिंचेत्' इस वाक्य से शाब्द बोध इसलिए नहीं हो पाता है कि 'सिंचनं न बह्नि करणकम्' अर्थात् 'सींचना आग से संभव नहीं' इस प्रकार वाध-निश्चयात्मक प्रतिबंधक रहने के कारण तदभावात्मक योग्यता रहेगी नहीं। मूल में जो 'पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः' कहा है, तदनुसार 'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन' इस वाक्य से भी शाब्दबोध आपन्न हो उठता है। क्योंकि विभिन्न पदों का अविलम्बेन उच्चारण तो वहां भी होगा ही। अतः मूलोक्त सन्निधि को मान्यता न देकर–'अविलम्बेन होने वाली पदार्थोपस्थिति को दीपिका में सन्निधि कहा गया है 'अविलम्बेन' इत्यादि के द्वारा।

तर्क-संग्रह

वाक्यं द्विविधम् वैदिकं लौकिकं च। वैदिकं ईश्वरोक्तत्वात् सर्वमेव प्रमाण्।

लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम् । अन्यदप्रमाणम् । वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानम् । तत्करणं शब्दः । इति शब्दप्रमाणम् ।

अनुवाद

वाक्य दो प्रकार के हैं वैदिक और लौकिक । ईश्वरोक्त होने के कारण वैदिक वाक्य तो सभी प्रमाण हैं । किंतु लौकिक वाक्य वे ही प्रमाण होते हैं जो आप्तोक्त होते हैं । वाक्यार्थज्ञान ही कहलाता है शाब्दज्ञान और उसके प्रति करण होता है शब्द ।

दीपिका

वाक्यं विभजते वाक्यमिति । वैदिके विशेषमाह वैदिकमीश्वरोक्तत्वादिति । ननु वेदस्यानादित्वात् कथमीश्वरोक्तत्वमिति चेन्न । वेदः पौरुषेयो वाक्यसमूहत्वात् भारतादिवत् इत्यनुमानेन पौरुषेयत्वसिद्धेः । न च स्मर्यमाणकर्तृकत्वमुपाधिः । गौतमादिभिः शिष्यपरम्परया वेदेऽपि सकर्तृकत्वस्मरणेन साधनाव्यापकत्वात् । 'तस्मात्तपस्तेपानात्त्रयो वेदा अजायन्त' इति श्रुतेः । ननु वर्णा नित्याः स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञानात् । तथा च कथं वेदस्यानित्यत्वमिति चेन्न । उत्पन्नो गकारो नष्टो गकार इत्यादि प्रतीत्या वर्णानामनित्यत्वात् । सोऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञायाः सेयं दीपज्वाला इतिवत् जात्यालम्बनत्वात् । वर्णानां नित्यत्वेऽप्यानुपूर्वीविशिष्ट-वाक्यस्यानित्यत्वात् । तस्मादीश्वरोक्तो वेदः । मन्वादिस्मृतीनामाचाराणां च वेदमूलकतया प्रामाण्यम् । स्मृतिमूलवाक्यानामिदानीमनध्ययनात् तन्मूलभूता काचिच्छाखा उच्छिन्नेति कथ्यते । ननु पाठ्यमान-वेदवाक्योत्सादस्य कल्पयितुमशक्यतया विप्रकीर्णवादस्यायुक्तत्वान्नित्यानुमेयो वेदो मूलमिति चेन्न । तथापि वर्णानुपूर्वीज्ञानाभावेन बोधकत्वासम्भवात् ।

अनुवाद

वाक्य का विभाग करते हैं 'वाक्यं' इत्यादि के द्वारा । और वाक्यों से वैदिक वाक्य की विशेषता बतलाते हैं 'वैदिकमीश्वरोक्तत्वात्' इत्यादि के द्वारा । नित्य होने के कारण वेद को अनित्य कैसे कहा जा सकता ? यह नहीं कह सकते । क्योंकि 'वेदः पौरुषेयः वाक्यत्वात् भारतादिवत्' अर्थात् वेदवाक्य महाभारत आदि के समान व्यक्ति-निर्मित है, इस अनुमान से वेद में पौरुषेयता सिद्ध होती है । अनुमान में 'स्मर्यमाणकर्तृकत्व' उपाधि है, यह नहीं कहा जा सकता । क्योंकि

शिष्य-परंपरा द्वारा गौतम आदि ऋषि कर्तृक वेदमत सकर्तृकत्व कीर्तित होने के कारण, उक्त उपाधि साधन का व्यापक हो जाता है। और 'तस्मात्तपस्तेपानात् त्रयो वेदा अजायन्त' अर्थात् उस तपश्चरण से तीनों वेद उत्पन्न हुए ऐसी श्रुति भी पायी जाती है। जबकि 'यह वही गकार है' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा भी होती है तब तदनुरोधात् वर्णों को नित्य ही मानना होगा। ऐसी परिस्थिति में वेद को अनित्य कैसे कहा जा सकता है ? यह बात नहीं कही जा सकती। क्योंकि गकार उत्पन्न हुआ, गकार नष्ट हुआ इत्यादि प्रतीतियों के बल से वर्णों को अनत्यि ही मानना होगा। उक्त 'सोऽयं गकारः' इत्यादि प्रत्यभज्ञाएं 'सेयं-दीपज्वाला' अर्थात् यह वही दीप की शिखा है। इस प्रतीति के समान गवर्ण जातीयता-परक होती है। वर्णों को कथंचित् नित्य मान लेने पर भी 'तत्पदोत्तरतत्पदत्व स्वरूप आनुपूर्वी-युक्त वाक्यों को अनित्य मानना ही होगा। इसलिए वेद को ईश्वर निर्मित मानना ही होगा। मनु याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियां एवं भारतीय सदाचार भी वेदमूलक होने के कारण प्रमाण हैं। स्मृतियों के मूलभूत वेद-वाक्यों का अध्ययन छूट जाने के कारण स्मृति-मूल शाखाएं उच्छिन्न हो गयीं यह कल्पनीय है। कुछ लोगों का यह कथन कि जिन वेदों का अध्ययन परस्पराक्रम से बराबर होता आ रहा है उसके आंशिक उच्छेद की कल्पना कैसे की जा सकती ? मंत्रों की विप्र-कीर्णता भी मान्य नहीं प्रतीत होती है। अतः नियमतः अनुमेय वेदभाग को स्मृतियों एवं आचारों का मूल मानना चाहिए। यह उचित इसलिए नहीं कहा जा सकता कि ऐसा मानने पर भी आज उन वेदों की आनुपूर्वी अर्थात् स्वरूप का निर्णय न हो पा सकने के कारण उन नियमतः अनुमेय माने जाने वाले वेदों को बोधक नहीं माना जा सकता।

विवरण

वेद ईश्वर प्रणीत है इस मान्य सिद्धान्त पर यह प्रश्न उठाया गया है 'ननु वेदस्थाना दित्वात्' इत्यादि के द्वारा। 'वेदः पौरुषेयः' इत्यादि ग्रंथ के द्वारा वेद की नित्यता का खंडन किया गया है। उक्त अनित्यसाधक अनुमान में व्यापत्वासिसिद्धकी आशंका उठाकर उसका खंडन किया गया है 'न च स्मर्य-माण' इत्यादि कथन के द्वारा आशय यह है कि सकर्तृकों के कर्ता का कभी उल्लेख पाया जाता है। तदनुसार वेद भी यदि ईश्वर प्रणीत होता तो उसका उल्लेख पाया जाता कि अमुक समय में परमेश्वर ने वेद का निर्माण किया, कम से कम लोक प्रसिद्धि भी तो इसके संबंध में होती ? किंतु ऐसा न होने के कारण पक्षभूत वेद में, जहां कि वाक्यत्वस्वरूप उक्त हेतु विद्यमान है 'स्मर्यमाण-कर्तृकत्व' जा पाता नहीं।

अतः उपाधि रूप में विवक्षित 'स्मर्यमाण-कर्तृकत्व' साधन का अव्यापक भी हो जाता है। वेदातिरिक्त काव्य पुराणादि में साध्यभूत पौरुषेयत्व और स्मर्यमाण-कर्तृकत्व दोनों नियमतः रहते ही हैं, अतः साध्यव्यापकता तो उपाधिरूप से विवक्षित उक्त धर्म में आती ही है। इसलिए उक्त 'वेदः पौरुषेयः वाक्यत्वात्' इस नैयायिकानुमान में व्याप्यत्वासिद्धिः नामक हेत्वाभास दोष प्राप्त होता है। दुष्टहेतु से वस्तुतः साध्य की सिद्धि होती नहीं इसलिए उक्त अनुमान से वेद में अनित्यता नहीं सिद्ध की जा सकती।

इस प्रकार दी जाने वाली व्यत्प्यत्वासिद्धि के खंडनार्थ हेतु बतलाया गया है 'गौतमादिभिः इत्यादि के द्वारा। आशय यह है कि वेदकर्ता के रूप में ईश्वर का स्मरण अर्थात् चर्चा गौतम आदि वेद-पौरषेयत्ववादी ऋषियों के द्वारा की गयी, परंपरा से आ ही रही है। और तपस्या पूर्वक ईश्वर ने वेद की सृष्टि की यह बात वेद में भी पायी जाती है। इस वस्तुस्थिति के अनुसार उक्त उपाधिरूप से विविक्षित स्मर्यमाण-कर्तृकत्व साधन-भूत वाक्यत्व् का भी व्यापक हो जाता है अव्यापक हो पाता नहीं अतः 'साध्य-व्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्व स्वरूप उपाधि लक्षण स्मर्यमाण-कर्तृकत्व में समन्वित होता नहीं।

अतः उसे उक्त अनित्यत्व-साधक अनुमान के लिए उपाधि नहीं कहा जा सकता। हेतु को सोपाधिक कहकर व्याप्यत्वसिद्ध नहीं कहा जा सकता। गौतमादिभिः इसके द्वारा लोक-प्रसिद्धि बतलायी गयी है, और 'तस्मात्तपस्तेपानात्' इत्यादि के द्वारा शास्त्र-प्रसिद्धि। तप करने वाला होता है 'तपसोपान' तदनुसार 'तपः कर्मभिन्नात् तस्मात् ईश्वरात् त्रयोवेदाः अजायन्त-अभूवन्' यह इस वेद का अर्थ ज्ञातव्य है। प्रकारांतर से वेदानित्यत्व के खंडनार्थ नित्यतावादी की ओर से प्रश्न उपस्थापित किया गया है 'ननु वर्णाः' इत्यादि के द्वारा। प्रश्न का आशय यह है कि वर्ण की नित्यता के आधार पर ही 'सोऽयं गकारः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञाएं होती हैं। वेद वर्ण सूहात्मक ही है अतः वेद को भी नित्य ही मानना उचित है। 'सएवाचं गकारः' इसका अर्थ होगा 'तद्गकाराभिन्नो यं गकारः' अर्थात् यह श्रूयमाण गकार पूर्व श्रुत गकार से अभिन्न है। यह अभिन्नता तब तक बन नहीं सकती जब तब पूर्वश्रुत गकार को ही अभी तक न माना जाय। इस प्रकार जबकि सारे ग अभिन्न हो उठेंगे तो तत्वतः गकार एक ही होगा और नित्य ही होगा।

इसके खंडनार्थ कहा गया है—'न, उत्पन्नो गकारो' इत्यादि से। 'सोऽयं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञा की गति फिर क्या होगी ? इसका उत्तर दिया गया है 'सोऽयंगकारः' इत्यादि के द्वारा। दृष्टांत उपस्थित किया गया है 'सेयं दीपज्वाला'

इत्यादि के द्वारा । ज्वाला का अर्थ है शिखा । एक दीपशिखा अनेक काल स्थायी हो नहीं सकती । क्योंकि ऐसा होने पर वाती और तेल कभी खतम नहीं होना चाहिए । किंतु उन दोनों का विनाश प्रत्यक्षतः पाया जाता है । अत 'सेयं दीप-ज्वाला' अर्थात् दीपशिखा वही है जो अनेक पूर्व थी, इस प्रकार होने वाली प्रत्य-भिज्ञा को विभिन्न दीपशिखागत सजातीयता अर्थात् एकजातीयता को विषय करने वाली मानना ही होगा ।

तद्वत् 'सोऽयं गकारः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञाओं को भी विभिन्न गकार-गत सजातीयता मात्र को विषय करने वाली भलीभांति कहा जा सकता है । अतः प्रत्यभिज्ञा के आधार पर एकता नहीं कही जा सकती इसी प्रकार ख, घ, इत्यादि विषयक प्रत्यभिज्ञा के संबंध में भी समझना चाहिए । 'तज्जात्यालम्बनात्वात्' का अर्थ 'तज्जातीयविभिन्न-विषयकत्वात्' ज्ञातव्य है और जाति पद से ग्राह्य है वर्णगत कत्व खत्व आदि । अन्यथा गुणत्व को लेकर रूप में, वर्णत्व को लेकर र में सत्ता को लेकर घट पट आदि में भी सो यं गकार इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा आपन्न हो उठेगी ।

तुरव्यतु दुर्जन-न्याय से वर्णों को नित्य मानने पर भी वाक्यसमूहात्मक वेद को नित्य नहीं माना जा सकता । अतः वेदों को पौरुषेय ही मानना होगा । यह बतलाया है दीपिकाकार ने 'वर्णानां नित्यत्वेऽपि' इत्यादि ग्रंथ के द्वारा । कहने का आशय यह है कि वेद को वाक्यात्मक तो सभी लोग मानते ही हैं । वाक्य कह-लाता है आनुपूर्वीयुक्त आनुपूर्वी तत्तस्थलों में होगी 'तत्तत्पदोत्तरतत्पदत्व' । यथा 'तस्मात्तपस्तेपावात्' एतद्गत 'तस्मात्' की आनुपूर्वी होगी तकारोत्तर अकारोत्तर सकारोत्तर, मकारोत्तर, अकारोत्तर तकारत्व स्वरूप आनुपूर्वी, और तद्घटक उत्तरत्व होगा तत्क्षणध्वसाधिकरण एवं तत्क्षणध्वंसाधिकरणध्वसं का अनधिकरण जो क्षण तादृश-क्षण वृत्तित्व । इस उत्तरत्व को विभिन्नक्षणघटितता के कारण भिन्न-भिन्न मानना ही होगा । ऐसी परिस्थिति में आनुपूर्वी-युक्त-वेद-वाक्यों को नित्य नहीं कहा जा सकता । अब यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि वेद को ईश्वरोक्त होने के कारण ही प्रमाण माना जा रहा है तो मनु याग्यवल्क्य प्रभृति स्मृतियाँ कैसे प्रमाण हो सकेंगी ? क्योंकि वे तो ईश्वरोक्त हैं नहीं ?

अतः उसका उत्तर दिया गया है 'मन्वादि स्मृतीनांतु इत्यादि के द्वारा । वस्तुतः स्मृति ग्रंथों में अतिरिक्त प्रामाणिकता बतलाने के लिए दीपिकाकार ने कहा है मन्वादि स्मृतीनां तु इत्यादि । क्योंकि लौकिक आप्त वाक्यों तक को प्रमाण मानने वाले नैयायिकों के समक्ष यह प्रश्न नहीं उठाया जा सकता कि ईश्वरोक्त न होने के कारण स्मृतियां कैसे प्रमाण हो पायेंगी । स्मृति के मूलभूत

वे वेद-वाक्य आज क्यों नहीं उपलब्ध हैं ? इसका उत्तर देते हैं 'स्मृतिमूल-वाक्यानां' इत्यादि के द्वारा । यहां कुछ लोगों का कहना यह है कि जिसका अध्ययन अध्यापन का क्रम आज तक अविच्छिन्न-भाव से होता चला आ रहा है उसका उच्छेद या उसकी विकीर्णता ये दोनों ही युक्तिसंगत रूप में मान्य नहीं प्रतीत होते हैं । हां, यह कहा जा सकता है कि कुछ ऐसे भी वेद हैं जो सर्वथा अतीन्द्रिय होने के कारण नियत-भाव से अनुमेय ही होते हैं । वे ही स्मृति-ग्रंथ के मूलभूत मान्य हैं ।

अतः उनकी उपलब्धि प्रत्यक्षतः होती नहीं । स्मृत्यात्मिक कार्य के द्वारा उनका अनुमान मात्र किया जा सकता है । खंडनार्थ इस मतवाद का उल्लेख किया गया है । इस अनभिमत पक्ष का खंडन करने के लिए उसका उपस्थापन किया गया है 'ननु पाठ्यमान' इत्यादि के द्वारा । खंडन-वाक्य का आशय यह है कि वेदवाक्य अनुमित होने पर भी तद्गत-आनुपूर्वीस्वरूप आकांक्षा का ज्ञान न हो पाने के कारण स्मृतियों के मूलभूत रूप में अनुमित होने वाले वेदवाक्य से शाब्दबोध हो नहीं सकता । फलतः उनके अनुमान से कोई लाभ नहीं उठाया जा सकता । इसलिए यह भी कहना असंभव होगा कि—ये अनुमित वेदवाक्य स्मृतियों के मूल हैं ।

दीपिका

ननु एतानि पदानि स्मारितार्थ-संसर्गवन्ति आकांक्षादिमत्पदकदम्ब-कत्वात् । गामानयेति मद्वाक्यवत्, इत्यनुमानादेव संसर्गज्ञानसम्भवात् शब्दो न प्रमाणान्तरमिति चेन्न । अनुमित्यपेक्षया शाब्दज्ञानस्य विलक्षणस्य 'शब्दात् प्रत्येमि' इत्यनुभवसाक्षिकस्य सर्वसम्मतत्वात् ।

अनुवाद

ये पद स्मारित पदार्थ संसर्गवान् हैं अर्थात् परस्पर संबद्ध पदार्थों के स्मारक हैं । क्योंकि 'गामानय' इत्यादि वाक्यों की तरह आकांक्षा योग्यता आदि-युक्त पद-समुदायरूप हैं । इस अनुमान से ही जब कि पदार्थों के बीच होने वाले पारस्परिक संबंध का बोध हो सकता है तब शब्द को अतिरिक्त प्रमाण क्यों माना जाय ? यह नहीं कहा जा सकता । क्योंकि वाक्यार्थ बोध के अनन्तर होने वाले 'शब्दात् प्रत्येभि' अर्थात् मैं शब्द के द्वारा समझ रहा हूँ, इस प्रकार अनुव्यवसाय ज्ञान की साक्षिता के कारण यहीं सर्वसम्मत हो सकता है कि शब्द एक स्वतंत्र प्रमाण है ।

विवरण

खंडनार्थ—बौद्ध एवं वैशेषिक सम्मति के अनुसार प्रश्न उपस्थित हुआ है—'ननु एतानि' इत्यादि के द्वारा। प्रश्न का आशय यह है कि—शाब्दबोध को दूसरे शब्द में 'अन्वयबोध' भी कहा जाता है। अन्वय है संबंध, तदनुसार पदार्थों के बीच पारस्परिक रूप में होने वाले संबंध का बोध ही है शाब्दबोध। ऐसी परिस्थिति में उक्त पदार्थ संबंध का बोध यदि मान्य अनुमान से ही संपादित हो सके तो शब्द को एक स्वतंत्र प्रमाण क्यों माना जाय ? 'स्मारित-पदार्थ-संसर्गवन्ति' इसका विवक्षित अर्थ है 'स्मारित पदार्थ-संसर्ग-ज्ञान-पूर्वकाणि' तात्पर्य यह है कि—'घटमानय' इस शब्द को सुनकर श्रोता इस प्रकार अनुमान करता है कि 'वक्ता इस वाक्य का प्रयोग वाक्यान्तर्गत पदार्थों के बीच होने वाले संबंधों को समझ कर किया है।'

एतादृशज्ञान-शील वक्ता को पदार्थों के बीच होने वाले संबंधात्मक अन्वय का बोध, जिसे ही अन्य शब्द में वाक्यार्थ-बोध भी कहा जाता है, हो ही जाता है। 'घटमानय' अर्थात् घड़ा ले आओ इस वाक्य के प्रयोगस्थल में घट पदार्थ और आनयन पदार्थ के बीच संबंध होता है 'कर्मत्व।' क्योंकि आनयनात्मक-क्रिया घटकर्मक अर्थात् घड़े की होती है। फलतः जबकि इस प्रकार अनुमान प्रमाण से ही उक्त अन्वयबोधात्मक शाब्दबोध होता है, तो उसे भी अनुमिति ही मानना उचित होगा। और अनुमिति के प्रतिकरण होने वाला अनुमान ही कहा जायेगा अन्य नहीं। इसलिए शब्द को अतिरिक्त प्रमाण मानना उचित नहीं कहा जा सकता। यदि नैयायिकों की ओर से, जो कि शब्द को स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं यह इस पर कहा जाय कि उक्त अनुमान से साक्षात् भाव से पदार्थों के बीच होने वाले संबंध समझे जा नहीं रहे हैं ? क्योंकि पदात्मक पक्ष में साध्यरूप से विवक्षित होने वाले साध्य 'स्मारित पदार्थ संसर्ग-ज्ञानपूर्वकत्व' के गर्भ में वह पदार्थ-संसर्ग आता है, जो कि शाब्दबोध में साक्षात् भाव से समझा जाता है ? तो वैशेषिक लोग उक्त अनुमान के स्थान पर यह दूसरा अनुमान उपस्थित करते हैं कि—'एते पदार्थाः मिथाःसंसर्गवन्तः, आकांक्षा-योग्यतादिमत्पदस्मारितत्वात्।' इसका सरल अर्थ यह है कि ये घट आनयन आदि पदार्थ परस्पर में संबंध युक्त हैं क्योंकि आकांक्षा योग्यता आदि युक्त पदों से स्मारित हैं।

इस अनुमान में घट और आनयन आदि पदार्थों में संबंध का अनुमान साक्षात् भाव से ही होता है। बौद्धों और वैशेषिकों के इस शब्दाप्रामाण्यवाद का खंडन उपस्थापित हुआ है 'न अनुमित्यपेक्षणा' इत्यादि के द्वारा। इस खंडन-ग्रंथ

का तात्पर्य यह है कि प्रमाणों की विभिन्नता प्रमात्मक फल की विभिन्नता पर आधारित है। इस वस्तुस्थिति के अनुसार यदि यह सिद्ध कर दिया जाय कि शब्दबोधात्मक प्रमा अनुमित्यात्मक प्रमा नहीं है किंतु एक प्रकार स्वतंत्र प्रमा है तो उस अनुमिभिन्न शाब्दबोधात्मक प्रमा के कारणरूप में शब्द को भी स्वतंत्र प्रमाण मानना ही होगा। शाब्दबोध अनुमित नहीं है। इसका पता इससे अनायास चलता है कि शाब्दबोध के अव्यवहित पर-क्षण में बौद्धा व्यक्ति यह अनुव्यवसाय अर्थात् बोध नहीं करता है कि मैंने अनुमान के द्वारा इस वाक्यार्थ को अर्थात् पदार्थों के बीच होने वाले पारस्परिक संबंधों को समझा है। प्रत्युत अनुभव यह करता है कि इस वाक्य के द्वारा इस अर्थ को मैंने समझा है, शब्द से समझा है, इत्यादि। इसके अतिरिक्त शब्द को एक स्वतंत्र प्रमाण मानने के पक्ष में एक प्रबल युक्ति यह भी ज्ञातव्य है कि अनुमिति के लिए व्याप्ति-ज्ञान की नितांत आवश्यकता होती है शाब्दबोध के लिए आकांक्षा योग्यता आदि के ज्ञान अपेक्षित होते हैं। अनुमति के लिए उनके ज्ञान अपेक्षित होते नहीं। इस प्रकार जबकि अनुमिति और शाब्द-बोध इन दोनों प्रमितियों के लिए आपेक्षित होने वाले साधनों में महान् पार्थक्य पाया जाता है तब अनुमिति और शाब्दबोध दोनों प्रमाओं को एक कैसे कहा जा सकता? और जब दोनों प्रमितियां भिन्न होंगी तो दोनों के लिए अपेक्षित होने वाले दो प्रमाण कैसे एक कहे जा सकते? इसलिए शब्द को अनुमान से अतिरिक्त एक स्वतंत्र प्रमाण मानना ही होगा। क्योंकि व्याप्तिज्ञान के बिना होने वाले शब्द-बोध को यदि अनुमिति मानने का आग्रह किया जायेगा तो व्याप्ति-ज्ञान के बिना होने वाला प्रत्यक्ष भी अनुमिति क्यों न मान्य हो उठेगा? यदि यह कहा जाय की शाब्द-बोध के पूर्व भी व्याप्ति ज्ञान होता है ऐसी कल्पना की जा सकती है, तो इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि अनुमितिस्थलों में भी अव्यवहितपूर्व-आकांक्षा ज्ञान आदि की कल्पना क्यों न की जा सकती है? और तदनुसार यही क्यों न कहा जा सकता है कि अनुमिति कोई प्रमा नहीं क्योंकि वह भी शाब्द-बोध ही है? इसे मानने पर शब्द ही प्रमाण होगा अनुमान ही प्रामाण्य रहित हो उठेगा।

दीपिका

नन्वर्थापत्तिरपि प्रमाणान्तरमस्ति। पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते इति दृष्टे श्रुते वा पीनत्वान्यथानुपपत्त्या रात्रिभोजनमर्थापत्त्या कल्प्यते। इति चेन्न। देवदत्तो रात्रौ भुंक्ते दिवाऽभुंजानत्वे सति पीनत्वात् इत्यनुमानेनैव रात्रिभोजनस्य सिद्धत्वात्। शते पंचाशदिति सम्भवोप्यनुमानमेव। इह वटे यक्षस्तिष्ठतीति ऐतिह्यमपि अज्ञातवक्तृमूलकः शब्द एव। चेष्टाऽपि शब्दानुमान द्वारा व्यवहार-हेतुरिति न मानान्तरम्।

अनुवाद

'देवदत्त मोटा हो रहा है किंतु दिन में खाता नहीं' ऐसा प्रत्यक्ष होने पर अथवा वाक्य सुनने पर मोटेपन की अन्यथा अनुपपत्ति स्वरूप अर्थापपत्ति से रात्रि-भोजन की कल्पना होती है, इसलिए अर्थापपत्ति को भी चार प्रमाणों से अतिरिक्त प्रमाण मानना चाहिए, यह कथन उचित नहीं। क्योंकि 'यह देवदत्त— दिन में न खाने पर भी मोटा हो रहा है अतः रात्रि-भोजी है' इस अनुमान-प्रमाण से ही देवदत्तात्मक पक्ष में रात्रि भोजनात्मक साध्य की सिद्धि हो जायेगी। 'सो के अंदर पचास अवश्य हैं' यह सम्भव भी अनुमान ही है। अज्ञात-वक्तृक 'इस वटवृक्षपर यक्ष वसता हैं' इत्यादि ऐतिह्य भी शब्द-प्रमाण ही है। और चेष्टा भी शब्दानुमान द्वारा व्यवहार के प्रति हेतु होती है। इसलिए चार प्रमाणों से अतिरिक्त प्रमाण मान्य नहीं।

विवरण

प्रत्यक्ष शब्द के समान अर्थापत्ति शब्द भी प्रमा और प्रमाण दोनों का वाचक है। 'अर्थस्य आपत्तिः' ज्ञानम् इस व्याख्या के अनुसार अर्थापपत्ति शब्द होता है प्रमावाचक। और 'अर्थस्य आपत्तिः ज्ञानं यतः' इस व्याख्या के अनुसार अर्थापत्ति शब्द होता है प्रमाण-वाचक। अर्थापत्ति के प्रभेद दो हैं दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति। दिन में न खाते हुए भी मोटे होने वाले किसी व्यक्ति को देखकर जहां उसके रात्रि-भोजन की कल्पना होती है वहां होगी दृष्टार्थापत्ति प्रमा, और वैसा सुनकर जहां रात्रिभोजन की कल्पना होती है वहां होती हैं श्रुतार्थापत्ति प्रमा। इन द्विविध प्रमाओं के प्रति करण होने वाले को कहा जाता है क्रमशः दृष्टार्थापत्ति प्रमाण और श्रुतार्थापत्ति प्रमाण। मीमांसक वेदांती आदि दार्शनिक इस अर्थापत्ति को भी प्रत्यक्ष आदि की तरह एक स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं।

उसके खंडनार्थ यहां पहले उसका वर्णन किया जा रहा है, प्रश्न उपस्थित करते हुए 'नन्वर्थार्थापत्तिः इत्यादि के द्वारा।' न, देवदत्तो रात्रो' इत्यादि उत्तर ग्रंथ का आशय यह है कि अनुमान से ही कार्यसंपादन संभव होने के कारण 'अर्थापत्ति' को अतिरिक्त प्रमाण क्यों माना जाय? अनुमान का आकार बतलाया गया है 'देवदत्तः रात्रौ भुंक्ते' इत्यादि के द्वारा। यह अनुमान नियमतः व्यतिरेकी होगी, क्योंकि अन्वय-दृष्टान्त प्रसिद्ध होगा नहीं। उपपाद्य होता है व्याप्य और उपपादक होता है व्यापक। व्यापक के अभाव से व्याप्य के अभाव की सिद्धि होती है। प्रकृत में पीनत्व है व्याप्य और रात्रि भोजन व्यापक। व्यापक रात्रि भोजन की व्यतिरेक-व्याप्ति पीनत्व में विद्यमान है। अतः 'रात्रि-भोजना-

भाव-व्याप्तकीभूताभावप्रतियोगिदिवाऽभोजित्व विशिष्टपीनत्ववान् देवदत्तः' यह व्यतिरेकपरामर्श होकर 'देवदत्तः' रात्रि-भोजनवान्' यह अनुमिति हो जायेगी।

पौराणिकों द्वारा मान्यता प्राप्त 'संभव' और ऐतिह्य' भी स्वतंत्र रूप से प्रमाण मान्य नहीं है, यह बतलाया गया है 'शतेपंचाशत्' इत्यादि के द्वारा। कहने का तात्पर्य यह है कि 'पंचाशत्व्याप्य शतवन्ति आम्राणि' अर्थात् ये आम, पंचाससंख्या-व्याप्य सौ-संख्या-युक्त हैं इस प्रकार परामर्श ज्ञान होने के कारण 'पंचाशत्वन्ति आम्राणि' अर्थात् ये आम पचास हैं यह अनुमिति भलीभांति हो सकती है। इस प्रकार वहां की प्रभा जबकि अनुमिति स्वरूप ही हो जायेगी तो उसे प्रतिकरण भी अनुमान ही होगा अन्य नहीं। ऐतिह्य भी यदि आप्तोक्त होगा तो शब्द प्रमाण में ही गतार्थ हो जायेगा और यदि आप्तोक्त नहीं होगा तो अप्रमाण ही हो जायेगा। इसलिए उसे भी मान्य प्रत्यक्ष आदि चार प्रमापों से अतिरिक्त प्रमाण नहीं ठहराया जा सकता। कुछ लोग चेष्टा को भी अतिरिक्त प्रमाण मानते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि मूकव्यक्ति बोल तो पाता नहीं किंतु इशारे से अभिप्रेत अर्थ को समझाता है। इसलिए चेष्टा को भी एक स्वतंत्र प्रमाण मानना चाहिए। इसका खंडन किया गया है 'चेष्टापि' इत्यादि के—द्वारा। चेष्टा से सूचित शब्द के द्वारा अथवा अनुमान के द्वारा ही इंगिति-स्थलों में बोध हो सकता है अतः चेष्टा को भी स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानना चाहिए।

दीपिका

अथ ज्ञानानां तद्वति तत्प्रकारकत्वं स्वतो ग्राह्यं परतो वेति विचार्यते। तत्र विप्रतिपत्तिः—ज्ञानप्रामाण्यं तदप्रामाण्याग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकसामग्री-ग्राह्यं न वा। अत्र विधिकोटिः स्वतस्त्वम्, निषेधकोटिः परततस्त्वम्। अनुमान ग्राह्यत्वेन सिद्धसाधनवारणाय यावदिति। इदं ज्ञानमप्रभा इति ज्ञानेन प्रामाण्याग्रहात् बाधवारणाय अप्रामाण्याग्राहकेति। 'इदं ज्ञानमप्रभा' इत्यनुव्यवसायनिष्ठप्रामाण्य-ग्राहकस्याप्रामाण्याग्राहकत्वाभावात् स्वतस्त्वं न स्यादतः तदिति। तस्मिन् ग्राह्यप्रामामाण्याश्रये अप्रामाण्यग्राहकेत्यर्थः। उदाहृतस्थले व्यवसाये अप्रामाण्यग्राहकस्यापि अनुव्यवसाये तद्ग्राहकत्वात् स्वतस्त्वसिद्धिः। ननु स्वत एव प्रामाण्यं गृह्यते, घटमहं जानामि इत्यनुव्यवसायेन घटघटत्वयोरिव तत्सम्बन्धस्यापि विषयीकरणात् व्यवसायरूपप्रत्यासत्तेस्तुल्यत्वात्। पुरोवर्तिनि प्रकार-सम्बन्धस्यैव प्रमापदार्थत्वात् इति चेन्न। स्वतः प्रामाण्यग्रहे जलज्ञानं प्रमा न वा इति अनत्रयासदशायां प्रमात्वसंशयो न स्यात्। अनुव्यवसायेन प्रामाण्यस्य निश्चयात्। तस्मात्

स्वतोग्राह्यत्वाभावात् परतोग्राह्यत्वम्। तथाहि प्रथमं जलज्ञानान्तरं प्रवृत्तौ सत्यां, जललाभे सति' पूर्वौत्यन्नं ज्ञानं प्रमा समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्, यन्नैवं यथा अप्रमा, 'इतिव्यतिरेकिणा प्रमात्वं निश्चीयते। द्वितीयादि-ज्ञानेषु पूर्वज्ञानद्रष्टान्तेन तत्सजातीयत्वलिंगेनान्वयव्यतिरेकिणाऽपि गृह्यते।

अनुवाद

ज्ञानों में जो 'तद्वति तत्प्रकारकत्व' स्वरूप प्रमात्व है वह स्वतो ग्राह्य है या परतो ग्राह्य इस विषय का विचार अब किया जा रहा है। इसके संबंध में होने वाले विप्रतिपत्तिवाक्य का आकार है—प्रमात्व स्वाश्रयनिष्ठ अप्रामाण्य की अग्रा-हिका और यावद्ज्ञान-ग्राहक जो सामग्री उससे ग्राह्य है, या नहीं? यहां विधि कोटि है स्वतस्तव और निषेधकोटि परतस्त्व। प्रमात्व में अनुमानात्मक-ज्ञान-ग्राह्यता नैयायिक लोग भी मानते ही हैं, अतः मीमांसकों को सिद्ध-साधन दोष आपन्न हो उठेगा अतः 'यावत्' यह विशेषण कहा गया है।

'इदं ज्ञानं अप्रमा' इस बाघज्ञान के रहने पर ज्ञानग्राहक यावत् सामग्री के रहने पर प्रमात्व का ज्ञान होता नहीं। अतः प्रमात्वात्मक पक्ष में 'यावद्ज्ञान-ग्राहकसामग्री-ग्राह्यत्व' स्वरूप साध्य नहीं आ पाने के कारण मीमांसक मत में बाघ आपन्न होगा। इसलिए सामग्री में 'अप्रामाण्याग्राहकत्व' विशेषण दिया गया है। अप्रमात्मक व्यवसाय ज्ञान में होने वाले 'इदं ज्ञानं अप्रमा' इत्याकारक अनुव्यवसायात्मक प्रमानिश्चय पर रहने वाले प्रमात्व स्वरूप पक्ष में अप्रामाण्या-ग्राहक यावज्ज्ञानग्राहक-सामग्री-ग्राह्यत्वस्वरूप साध्य नहीं आ सकेगा। क्योंकि ज्ञानग्राहिका सामग्री होगी 'इदं ज्ञानं अप्रमा' इस ज्ञान की ग्राहिका सामग्री, सी अप्रामाण्य की अग्राहिका होगी नहीं। यतः व्यवसाय ज्ञान में उसके द्वारा अप्रा-माण्य का ग्रह होता ही है। इसलिए 'तत्' पद दिया गया है। तद्प्रामाण्या-ग्राहक का अर्थ है ग्राह्य प्रामाण्य के आश्रय में अप्रामाण्य का अग्राहक। अब उक्तस्थल में सामग्री, प्रथम व्यवसायात्मक ज्ञान में अप्रामाण्य का ग्राहक है सही, किंतु 'इदं ज्ञानं अप्रमा' इत्याकारक अनुव्यवसायात्मक ज्ञान में वह अप्रामाण्य का ग्राहक होती नहीं। अतः तत्प्रामाण्याग्राहक हो जाती है। अतः स्वतस्त्व सिद्ध हो पाता है। प्रामाण्य अर्थात् प्रमात्वं स्वतः गृहीत होता है। क्योंकि घट और घटत्व की तरह उन दोनों का संबंध भी अनुव्यवसाय का विषय होता है।

अतः ज्ञानात्मक सन्निकर्ष उसके लिए भी विद्यमान रहता है। क्योंकि पुरो-वर्ती में होने वाला प्रकार का अर्थात् विशेषण का संबंध ही तो होता है तत्वतः प्रमात्व? मीमांसकों का यह कथन सही नहीं है, क्योंकि प्रमात्व का ग्रह स्वतः

मान्य होने पर अव्यवहित पूर्व होनेवाले जलज्ञान में होने वाला 'यह मेरा ज्ञान यथार्थ है या अयथार्थ ? यह संशय उपपन्न हो पायेगा नहीं। क्योंकि स्वतस्त्व वादी के कथनानुसार ज्ञान-ग्राहक अनुव्यवसाय से ही ज्ञान-गत प्रमात्व का भी निश्चय नियमतः हो ही जायेगा। इसलिए स्वतोग्राह्यता न बन पाने के कारण प्रमात्व परतो ग्राह्य है। यथा—पहले जल का ज्ञान होता है, अनन्तर जलार्थ प्रवृत्ति होती है तब जललाभ होने पर 'मेरा ज्ञान यथार्थ हुआ था क्योंकि प्रवृत्ति सफल हुई, इस प्रकार अपने ज्ञान में यथार्थता स्वरूप प्रमात्व निश्चित होता है। द्वितीय आदि जलज्ञान में उस ज्ञान की सजातीयता स्वरूप अन्वय व्यतिरेकी हेतु से प्रमात्व ग्रहीत होता है।

विवरण

ज्ञान में रहने वाला 'तद्वतितत्प्रकारकत्व' स्वरूप प्रमात्व स्वतः गृहीत होता है या परतः, इस विषय को लेकर मीमांसक और नैयायिकों का विवाद प्राचीन काल से चला आ रहा है। इसलिए प्रसंग संगति-प्रयुक्त, यहां स्वामिमत परतो-ग्रह्यत्व के स्थापनार्थ प्रतिज्ञा की गयी है 'अथ ज्ञानानां इत्यादि के द्वारा। ज्ञानानां यहां षष्ठी का अर्थ है वृत्तित्व। उसका अन्वय तद्वतितत्प्रकारकत्व में ज्ञातव्य है। 'तत्र विप्रतिपत्तिः' यहां पर तत्र का अर्थ है 'विचारे'। सप्तमी विभक्ति का अर्थ विवक्षित है 'प्रयोजकत्व'। फलतः विचार प्रयोगक-विप्रतिपत्ति' यह अर्थ प्राप्त होता है। तदनुसार 'तत्र विप्रतिपत्तिः' इस वाक्य का अर्थ होता है 'विचार-प्रयोजक-विप्रतिपत्ति इस प्रकार है। यहां जिज्ञासा यह हो सकती हैं कि विप्रपत्ति कहते किसे हैं ? तो इसका उत्तर–यह ज्ञातव्य है कि व्याख्या की विभिन्नता से विप्रतिपत्ति शब्द के अर्थ दो प्रकार हैं। विरुद्धाप्रतिपत्तिः विप्रतिपत्तिः' इस व्याख्या के अनुसार विप्रतिपत्तिशब्द का अर्थ होता है विरुद्ध-धर्म-विशेषणक ज्ञान, फलतः संशय। और 'विरुद्धा प्रतिपत्तिः यतो वाक्यात् भवति तत्वाक्यं विप्र तिपत्तिः' इस व्याख्या के अनुसार अर्थ होता है संदेह-जनक-वाक्य। पर्वतो वह्नि-मान् न वा' इस वाक्य को सुनकर श्रोता को यह संशय होता है कि पर्वत अग्नि-युक्त है या नहीं ? अतः विप्रतिपत्ति को कुछ लोग संशय का उत्पादक मानते हैं। यहां द्वितीय व्याख्या के अनुसार विप्रतिपत्ति शब्द का अर्थ सन्देह-जनक-वाक्य लेना है। विप्रतिप्रत्तिवाक्य किस प्रकार विचार के लिए अपेक्षित है ? इसका विचार मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि नामक अपने वेदांतग्रंथ में किया है। विप्रतिपत्ति को विचार का प्रयोजक इसलिए मानना है कि किसी भी विषय में संदेह उपस्थित होने पर ही निर्णयार्थ विचार हुआ करता है। निर्णीत विषय पर विचार होता नहीं। अतः संशय को विचारांग मानना होगा।

न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन ने भी 'नानुपलब्धेऽर्थे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्त्तते। किं तर्हि ? संशयितेऽर्थे ?' इस कथन के द्वारा यही व्यक्त किया है। संशय की विचारांगता स्थिर होने पर संशय के जनक विप्रतिपति को विचार का प्रयोजक मानना ही होगा। जो नव्य-नैयायिक लोग विप्रतिपति को संदेह जनक मानते नहीं उनके मत में भी विप्रतिपत्ति में विचार प्रयोजकता इसलिए मान्य होगी कि संशय भले ही उनके मत में—साधारण धर्म आदि के ज्ञान से ही हो परंतु उस संशय में विषय होने वाले कोटिद्वय की उपस्थिति विप्रतिपत्ति वाक्य से होती है।

यहां मीमांसक मत को विशद भाव से समझे बिना इस प्रमात्व गत स्वतस्त्व और परतस्त्व का मंडन और खंडन ठीक से हृदयंग हो सकता नहीं अतः संक्षेप में—प्रकृत विषय से संबद्ध मीमांसक मतों को इस प्रकार समझना चाहिए—मीमांसकों की परंपरा के अंदर, अवांतर विंभिन्न मतवाद को आश्रयण करने वाले तीन संप्रदाय प्राप्त हैं। जिनके अंदर एक है प्रभाकर का, दूसरा है कुमारिल का और तीसरा है मुरारि का। प्रभाकर का मत है कि ज्ञान स्वप्रकाश है। अर्थात् वह स्वेतरबोध्य नहीं है। तात्पर्य यह कि जैसे प्रदीप को देखने के लिए प्रदीपांतर की अपेक्षा होती नहीं, उसी प्रकार ज्ञान को समझने के लिए और किसी की अपेक्षा होती नहीं। वह अपने से ही गृहीत होता है। अर्थात् स्वयं प्रकाश्य भी है और स्वयं ही प्रकाशक भी। प्रभाकर के मत में ज्ञेय वस्तु और ज्ञाता आत्मा और ज्ञान इन तीनों को विषय बनाने वाला विषयी अर्थात् ज्ञान एक ही होता है। फलितार्थ यह कि इस मत वाद में व्यवसाय और अनुव्यवसाय ये दो ज्ञान मान्य होते नहीं। तदनुसार घड़े को देखते समय 'यह घड़ा है इसे मैं जानता हूँ' इस प्रकार उक्त ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय तीनों को विषय बनाने वाला एक ही ज्ञान होता है।

यहाँ कुमारिल के मत में ज्ञान अतीन्द्रिय माना जाता है। अतः ज्ञान का अनुव्यवसायात्मक प्रत्यक्ष होता नहीं, किंतु वह अनुमेय होता है। ज्ञानात्मक क्रिया से ज्ञेय वस्तु स्वरूप कर्म में ज्ञातता उत्पन्न होती है। जिसे ही अन्य शब्द में प्राकट्य भी कहा जाता है। उस ज्ञाततात्मक कार्य से उसके कारणीभूत ज्ञान का अनुमान माना जाता है। उस हेतुभूत ज्ञातता का परिचय हमें 'अयं घटो मया-ज्ञातः' इत्यादि प्रत्यय के द्वारा प्राप्त होता है। मुरारि नैयायिकों के समान अनु-व्यवसाय को व्यवसाय से अलग मानते हैं। तदनुसार उनके मत में व्यवसाय-ज्ञान को अनुव्यवसाय ज्ञान के द्वारा समझा जाता है। इस प्रकार अवांतर मतभेद होने पर भी इस बात में तीनों उक्त मीमांसक सहमत हैं कि ज्ञानगत प्रमात्व स्वतः

गृहीत होता है। सारांश यह कि ज्ञानगत प्रमात्व को ज्ञान-ग्राहक-सामग्री से ही ग्राह्य होने वाला सभी मीमांसक मानते हैं। प्रभाकर के मत में ज्ञान-ग्राहक सामग्री पद से वह ग्राह्य ज्ञान स्वयं गृहीत होता है अतः ज्ञान की तरह ज्ञानगत प्रमात्व भी उसी से गृहीत होता है। भट्ट कुमारिल के मत से ज्ञान-ग्राहक-सामग्री पद से गृहीत होगा ज्ञातता-लिंगक अनुमान। उसी से ज्ञान और ज्ञानगत प्रमात्व दोनों गृहीत होंगे। मुरारि मिश्र के मत में 'ज्ञान-ग्राहक-सामग्री' यहां पर ज्ञान पद से लिया जायेगा प्रमात्व का आश्रय ज्ञान। उसका सामग्री रूप में लिया जायेगा अनुव्यवसाय-ज्ञान, उससे ज्ञान और ज्ञानगत प्रमात्व दोनों का ग्रहण होगा। इस प्रकार तीनों मीमांसकों के मत में 'स्वाश्रय-ग्राहक-सामग्री-ग्राह्यत्व' स्वरूप स्वतो-ग्राह्यत्व प्रमात्व में संपन्न होता है। नैयायिक लोग ऐसा मानते नहीं। वे ज्ञान का विषयीकरण तो अनुव्यवसायात्मक परवर्ती ज्ञान से मानते हैं किंतु यह नहीं मानते कि ज्ञान में होने वाला प्रमात्व भी ज्ञान के साथ अनुव्यवसाय से ही विषयीकृत हो जाता है। इसलिए वे लोक ज्ञानगत-प्रमात्व के ज्ञान को पीछे जाकर स्वतंत्र अनुमान से होने वाला मानते हैं।

विप्रतिपत्तिका स्वरूप बतलाते हैं—'ज्ञान प्रामाण्यं तदप्रामाण्याग्रहक' इत्यादि के द्वारा। यहां 'प्रामाण्य' शब्द का अर्थ प्रमात्व विवक्षित है। इसी के सूचनार्थ केवल प्रामाण्यं न कहकर 'ज्ञान-प्रामाण्यं' यह कहा है। तदनुसार प्रमात्व को पक्ष समझना चाहिए। तद्प्रामाण्याग्राहक इत्यादि का अर्थ है—तद्गतअप्रामाण्य का अग्राहक होते हुए यावत्-ज्ञान का ग्राहक जो सामग्री उसके द्वारा ग्राह्य होना अर्थात् तादृश सामग्री-जन्य ज्ञान का विषय होना। इसके अंदर आने वाले 'तदप्रामाण्य का अग्राहक' इसका अर्थ है प्रमात्वाश्रय ज्ञान में अप्रमात्व का ज्ञान न कराने वाला। 'विधिकोटिः स्वतस्त्वम्' यहां पर स्वतस्त्व का अर्थ है स्वतोग्राह्यत्व। इसी प्रकार परतस्त्व का अर्थ परतोग्राहत्व ज्ञातव्य है। 'यावत्' पद का फल बतलाया गया है 'अनुमान-ग्राहत्वेन' इसके द्वारा। आशय यह है कि नैयायिक लोग भी तो प्रमात्व को अनुमान-ग्राह्य मानते हैं। 'इदं ज्ञानं प्रमा समर्थ-प्रवृत्तिजनकत्वात्' अर्थात् यह ज्ञान यथार्थ है, क्योंकि सफल प्रवृत्ति का जनक है इत्याकारक अनुमान भी तो यत्किंचित् ज्ञान का ग्राहक अर्थात् उसे विषय करने वाला है। और उसके द्वारा ज्ञानगत प्रमात्व का ग्रह नैयायिक मत में भी मान्य है ही। ऐसी परिस्थिति में मीमांसक मत में सिद्ध-साधन प्राप्त हो उठेगा यदि 'यावत्' यह, ज्ञानांश में विशेषण न रखा जाय। अतः 'यावत्' कहा गया है। कहने पर सिद्ध-साधन इसलिए हट जाता है कि नैयायिकों का उक्त अनुमान पक्षभूत यत्किंचित् ज्ञान का ही ग्राहक है यावत् ज्ञान का ग्राहक नहीं। अतः सामग्री पद से नैयायिकोक्त अनुमान को लिया नहीं जा सकता।

अब यहां प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि ज्ञान में यावत् यह विशेषण देने पर तो बाध दोष आपन्न होगा। क्योंकि विभिन्न प्रमा ज्ञानों में विद्यमान विभिन्न प्रमात्वों के अंदर कोई प्रमात्व यावत्ज्ञानों के ग्राहक से ग्राह्य नहीं होगा। यही परिस्थिति तब भी बनी रहेगी जब कि ज्ञान-ग्राहक सामग्री में यावत्वविशेषण दिया जाय। घट-ज्ञान-गत प्रमात्व उक्त प्रकार यावत् सामग्री के अंदर हस्तगत होने वाली पटज्ञानग्राहक सामग्री से ग्राह्य होगी नहीं। अतः यावत्व विशेषण का दान कैसे संगत कहा जा सकता? इस प्रश्न का उत्तर यह समझना चाहिए कि—'सामग्री ग्राह्यत्व' का अर्थ होता है सामग्रीजन्य-ग्रह-विषयत्व अर्थात् सामग्री से होने वाले ज्ञान का विषय होना। इसके अंदर आने वाले ग्रह शब्दप्रतिपाद्य ज्ञान में यावत्वविशेषण विवक्षित है। अब सारे प्रमात्व ग्रहों को उक्त प्रकार सामग्री जन्य के रूप में लेकर तादृश ग्रहविषयत्व सभी प्रमात्वों में उपपन्न हो जायेगा।

सामग्री में तदप्रामाण्याग्राहकत्व विशेषण देने का प्रयोजन बतलाया गया है 'इदं ज्ञानं अप्रमा' इत्यादि के द्वारा। अभिप्राय यह है कि 'पर्वतोवह्निमान् इदं ज्ञानमप्रमा' एतादृश ज्ञान-स्थल में पर्वतोवह्निमान् इस ज्ञान के प्रमात्मक होते हुए भी इदं ज्ञानमप्रमा इस प्रकार प्रमात्व-बाध-निश्चयात्मक होने के कारण उसमें प्रमात्व का ज्ञान होता नहीं। इसलिए पर्वतोवह्निमान् इस प्रमा-ज्ञान-गत प्रमात्व गृहीत होता नहीं। अतः वहां प्रमात्व में उक्त सामग्री-ग्राह्यत्व का बाध आपन्न होता है। 'अप्रामाण्याग्राहकत्व' विशेषण देने पर वहां की सामग्री अप्रामाण्य की अग्राहिका होती नहीं। जो सामग्री वैसी होती है तद्ग्राह्यत्व प्रमात्व में आता ही है मीमांसक मत में। प्रभाकर के मत में ज्ञान की उक्त स्वप्रकाशता मान्य होने के कारण उक्त प्रकार 'पर्वतोवह्निमान् इदं ज्ञानं अप्रमा' यह ज्ञान तद्प्रामाण्याग्राहक सुतरां नहीं हो पायेगा। 'तद्प्रामाण्याग्राहक' यहां पर 'तत्' पद की सार्थकता बतलायी गयी है 'इदं ज्ञानमप्रमा' इत्यादि के द्वारा।

इस ग्रंथ का आशय यह है कि जहाँ तदीवह्निमान् यह भ्रमात्मक व्यवसाय-ज्ञान हुआ और उसके अव्यवहित उत्तर क्षण में 'यह ज्ञान अप्रमा है' यह प्रमाज्ञान हुआ, वहाँ द्वितीय अनुव्यवसायात्मक यथार्थज्ञान में विद्यमान होने वाला प्रमात्व भी पक्षान्तर्गत होता है किंतु उसमें अप्रमाण्याग्राहक-यावज्ज्ञान-ग्राहक-सामग्री-गाह्यत्व जाता नहीं। क्योंकि वह अनुव्यवसायात्मक प्रमाज्ञान स्वपूर्ववर्ती व्यवसायात्मक अप्रमाज्ञान में अप्रमाण्य का ग्राहक ही होता है अग्राहक हो पाता नहीं। तदप्रामाण्याग्राहक कहने पर दोष इसलिए हट जाता है कि उक्त अनुव्यवसायात्मक ज्ञान जो कि सचमुच प्रमात्व का आश्रय होता है अपने में तो अप्रामाण्य का ग्रह कराता नहीं। भले ही वह व्यवसायात्मक सचमुच अप्रमा होने वाले ज्ञान को

अप्रमात बतलाता हो । इसलिए प्रमात्वाश्रय अनुव्यवसायात्मक ज्ञान अप्रमाण्या-ग्राहक हो जाता है। कर्मधारयसमास का भ्रम निवारित हुआ है तस्मिन् ग्राह्ये इत्यादि के द्वारा। तस्मिन् इसकी व्याख्या है 'ग्राह्य सामानाधिकरण्ये' 'तत्' पद देने पर दोष का निराकरण बतलाया गया है उदाहृतस्थले इत्यादि के द्वारा। सारांश यह है कि जिसमें प्रमात्व का ग्रह कर्तव्य हो उसमें अप्रामाण्य की अग्राहिका जो सामग्री। प्रकृत में प्रमात्व का ग्रह कर्तव्य होता है द्वितीय अनुव्यवसायात्मक ज्ञान में। उसमें सामग्री के द्वारा अप्रामाण्य का ग्रह होता नहीं। इसलिए सामग्री तदप्रामाण्याग्राहिका हो जाती है अतौरद्ग्राह्यत्व द्वितीय अनुव्यवसायात्मक प्रमागत प्रमात्वपक्ष में जा पाता है वाध होता नहीं। फलतः 'प्रमात्वं' अप्रामाण्यग्रहाविषय स्वाश्रयग्राहक-सामग्रीजन्य-यावद्ग्रहविषयं नवा' यह विप्रतिपत्ति-वाक्य का आकार प्राप्त होता है। इसके अंदर भी 'विषयं नवा' इसका स्फीत आकार होगा-तादृशविषयत्ववत् तादृशविषयत्वाभाववद् वा ? अब यहाँ विषयत्व कोटि मीमांसकों का और विषयत्वाभाव कोटि, नैययिकों का ज्ञातव्य है। अब प्राकृत विवेच्य विषय उपस्थित किया जाता है 'ननु स्वतएव प्रामाण्यं' इत्यादि के द्वारा। स्वतोग्राह्यत्व क्या है ? और मीमांसक मत में कैसे वह प्रमात्व में प्राप्त होता है ये सारी बातें अभी पहले बतलायी जा चुकी हैं। प्रतिज्ञात स्वतः प्रामाण्य का साधक हेतु बतलाते हैं 'घटमहं जानामि' इत्यादि के द्वारा। अभिप्राय यह है कि विशिष्ट बुद्धियों में विशेषण विशेष्य और विशेषविशेष्य-संबंध ये तीनों नियमतः विषय हुआ करते हैं और विशेष्य निष्ठ विशेषण संबंध ही तो हैं तत्वतः प्रमात्व। अतः प्रमात्व का भी विषयीकरण विशिष्ट बुद्धियों के द्वारा हो जाना स्वाभाविक है।

इस स्वतः प्रामाण्यवाद का खंडन किया जा रहा है 'न स्वतः प्रामाण्यग्रहे' इत्यादि के द्वारा। इसके द्वारा सार रूप में कहा यह गया है कि प्रमात्व को स्वतोग्राह्य मानने पर सर्वानुभवसिद्ध ज्ञानधर्मिकप्रमात्वसंशय बन नहीं पायेगा, जोकि हुआ ही करता है। अतः यह मानना आवश्यक है कि ज्ञान के अव्यवहित उत्तर क्षण में भी ज्ञानगत प्रमात्व निश्चय किसी प्रकार होता नहीं, किंतु अनेक क्षण बिलम्ब से वह होता है।

ऐसी परिस्थिति में यह कैसे संभावित कहा जा सकता है कि ज्ञानग्रहण-समकाल में ही प्रमात्व भी गृहीत हो जाता है ? इसी बात को बतलाया गया है 'तथाहि प्रथमम्' इत्यादि के द्वारा। न्यायमत-सिद्ध प्रमात्वग्राहक अनुमान बतलाया गया है 'पूर्वोत्पन्नं ज्ञानम् प्रमा' इत्यादि के द्वारा। समर्थवृत्तिजनकत्व का अर्थ ज्ञातव्य है सफलवृत्तिजनकत्व। 'समर्थप्रवृत्ति' पद का अर्थ है सफल-प्रवृत्ति यह बात-न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के कथन से भी प्राप्त है। क्योंकि

'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्ति-सामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणत्' इस अपने भाष्य-वाक्य का स्वपद वर्णन करते हुए उन्होंने स्पष्ट रूप में यह कहा है कि सामर्थ्य पुनरस्याः फेनाऽमि सम्बन्धः ।

अभी यहाँ केवल प्रमात्व-ज्ञान गत स्वतस्त्व और परतस्त्व का विचार किया गया है ज्ञानोत्पादगत स्वतस्त्व और परतस्त्व का नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि जिस प्रकार प्रमात्व स्वतः गृहीत होता है या परतः ? यह दार्शनिकों के बीच एक विवादास्पद विषय बना चला आ रहा है उसी प्रकार यह भी विवादास्पद है कि 'ज्ञानगत का उत्पादन स्वतः होता है या परतः ? मीमांसक आदि कतिपय दार्शनिक प्रमात्व के उत्पाद को भी स्वतः होने वाला मानते हैं। उनका कहना यह है कि किसी भी ज्ञान का प्रमा होने के लिए ज्ञान के उत्पादार्थ अपेक्षित सामग्री से अतिरिक्त सामग्री की अपेक्षा होती नहीं। परन्तु नैयायिक लोग ऐसा मानते नहीं। इनका कहना यह है कि ज्ञान के प्रमा और अप्रमा ये दो प्रभेद जब कि विद्यमान हैं तब यह मानना आवश्यक है कि कोई ज्ञान प्रमारूप से उत्पन्न हो एतदर्थ एक स्वतंत्र सामग्री अपेक्षित होती है और अप्रमाज्ञान के लिए-स्वतंत्र अन्य। प्रमाज्ञान के उत्पादक कारण कूट में जिसे अन्य शब्द में सामग्री भी कहा जाता है 'गुण' का और अप्रमाज्ञान के उत्पादक कारण कूट में 'दोष' का भी प्रवेश होता है। इसीलिए अन्य सभी ज्ञानोत्पादक समान होने पर भी ज्ञान के प्रमा और अप्रमा रूप में दो वास्तविक प्रभेद हो पाते हैं।

यदि दोनों के कारण में कोई अंतर न हो तो सभी ज्ञान या तो प्रमा ही हों, या सभी अप्रमा ही हों। प्रमाओं के प्रति कारणरूप से मान्य गुण को प्रमाभेद के आधार पर चार प्रकार माना जाता है। प्रत्यक्ष प्रमा के प्रति विशेषण-युक्त विशेष्य के साथ होने वाले इंद्रिय सन्निकर्ष को, अनुमिति प्रमा के प्रति साध्य-विशिष्ट-पक्ष-धार्मिक परामर्श को, उपमिमित प्रमा के प्रति शक्य-धार्मिक सादृश्य-बुद्धि को और शाब्दबोध के योग्यता या तात्पर्य की प्रमा को, गुण अर्थात् प्रमा के प्रति विशेष कारण न्याय मत में माना जाता है। अप्रमा ज्ञान के प्रति विशेष रूप से कारण होने वाले दोषों का कोई ठोस वर्गीकरण नहीं है। वे यथासंभव अननुगत-भाव से ही अप्रमाके उत्पादक होते हैं। इस विचार के मूल में अपेक्षित होने वाली विप्रतिपत्ति का आकार 'ज्ञान-प्रामाण्यं ज्ञानोत्पादक-सामग्रीभिन्न-सामग्री-सापेक्षंनवा' ऐसा ज्ञातव्य है। यहाँ भिन्न-सामग्री-सापेक्षता है, यह न्याय सिद्धांत है और भिन्न-सामग्री की अपेक्षा होती नहीं यह मीमांसकों का मत है। न्याय-मतानुकूल युक्ति बतलायी जा चुकी है कि ऐसा न मानने पर सारे ज्ञान या तो प्रमात्मक ही हो पड़ेंगे या अप्रमात्मक ही। सारे ज्ञानों को प्रमात्मक ही इसलिए नहीं माना जा सकता कि सब ज्ञान के अनन्तर होने वाली प्रवृत्ति सफल ही होती

पायी जाती नहीं। लोगों की प्रवृत्ति कभी विफल भी होती हुई पायी जाती है। इसी प्रकार सभी ज्ञानों को अप्रमा ही नहीं माना जा सकता है। क्योंकि-प्राणियों की प्रवृत्तियाँ कभी सफल भी होती हुई पायी जाती हैं। इसी विचार को दीपिकाकार ने इस विहित ज्ञप्तिगत स्वतस्त्व परतस्त्व विचार के अनन्तर अभी करने जा रहे हैं।

दीपिका

प्रमाया गुणजन्यत्वमुत्पत्तौ परतस्त्वम्। प्रमाऽसाधारणकारणं गुणः। अप्रमासाधारणकारणं दोषः। तत्र प्रत्यक्षे विशेषणवद्विशेष्यसन्निकर्षो गुणः। अनुमितौ व्यापकवति व्याप्यज्ञानम्। उपमितौ यथार्थ-सादृश्य-ज्ञानम्। शाब्दबोधे यथार्थयोग्यताज्ञानम् इत्याद्यूहनीयम्। पुरोवर्तिनि प्रकाराभावस्यानुव्यवसायेनानुपस्थितत्वात् अप्रमात्वं परत एव गृह्यते। पित्तादिदोषजन्यत्वं उत्पत्तौ परतस्त्वम्। ननु सर्वेषां ज्ञानानां यथार्थत्वा-द्यथार्थं ज्ञानमेव नास्ति। न च शुक्ताविदं रजतमिति ज्ञानात् प्रवृत्तिद-र्शनादन्यथाख्यातिसिद्धिरिति वाच्यम् रजतस्मृतिपुरोवर्त्तित्वज्ञानाभ्या-मेव प्रवृत्तिसम्भवात्। उपस्थितेष्टभेदाग्रहस्यैव सर्वत्रप्रवर्तकत्वेन नेदं रजतमित्यादावतिप्रसंगाभावात् इति चेन्न। सत्यरजतस्थले पुरोवर्तिविशे-ष्यक रजतत्वप्रकारकज्ञानस्य लाघवेन प्रवृत्तिजनकतया शुक्तावपि रजता-र्थिप्रवृत्तिजनकत्वेन विशिष्टज्ञानस्यैव कल्पनात्।

अनुवाद

प्रमाओं में विद्यमान गुणजन्यता ही है उत्पत्तिगत परतस्त्व। प्रमाज्ञान के प्रति असाधारण रूप से कारण होने वाला है गुण, एवं अप्रमा के प्रति असाधारण रूप से कारण होने वाला है दोष। प्रमा के प्रभेद-भूत प्रत्यक्षात्मक प्रमा के प्रति विशेषणवान् विशेष्य के साथ होने वाला सन्निकर्ष होता है गुण। अनुमिति के प्रति व्यापकाधिकरण-विशेष्यक व्याप्यवत्ताज्ञान अर्थात् वस्तुतः साध्यवान् पक्ष में होने वाला परामर्श है गुण। उपमिति के प्रति प्रमात्मकसादृश्यज्ञान गुण होता है। और शाब्दबोध के प्रति प्रमात्मक योग्यता ज्ञान होता है गुण इत्यादि ज्ञातव्य है।

पुरोवर्ती (विशेष्य) में विशेषण का अभाव अनुव्यवसाय से गृहीत होता है नहीं ? अतः अप्रमात्व को भी परतोग्राह्य ही मानना होगा। अप्रमा की उत्पत्ति में पित्तादि–दोष जन्यता है परतस्त्व। सभी ज्ञान यथार्थ ही हैं, अयथार्थ कोई ज्ञान होता ही नहीं। सीप में होने वाला 'यह चांदी है' यह ज्ञान भी प्रवर्तक होता हुआ देखा जाता है। अतः भ्रमज्ञान मान्य होगा यह बात नहीं कही जा

सकती। क्योंकि चांदी का स्मरणात्मक ज्ञान और समीपवर्ती (सीप) का प्रत्यक्ष इन दो ज्ञानों से भी प्रवृत्ति उपपन्न हो सकती है। पुरोवस्थित (सीप) में इष्ट (चांदी) के भेदाग्रह को ही कारण मानेंगे। इससे ही 'यह चांदी नहीं हैं' इस ज्ञान के होने पर प्रवृत्ति की आपत्ति नहीं दी जा सकेगी, इत्यादि कथन सही नहीं। क्योंकि अन्यत्र (सत्य रजत स्थल में) जबकि पुरोवर्त्ति-विशेष्यक रजतत्व-प्रकारक ज्ञान को ही कारणता होगी, तो लाघववश सीप में होने वाली रजतार्थी की प्रवृत्ति के प्रति भी तादृश विशिष्ट-ज्ञान को ही कारण मानना होगा।

विवरण

'प्रमात्याः गुणजन्यत्वं' इन दोनों पदों में पूर्वापरीभाव का व्यत्पास करके 'गुण जन्यत्वं प्रमाया उत्पत्तौ परतस्त्वम्' इस प्रकार अन्वय ज्ञातव्य है। तदनुसार वाक्य का अर्थ यह है कि प्रमा में होने वाली गुणजन्यता ही है प्रमा की उत्पत्तियों में परतस्त्व। और यदि यथाश्रुत पाठ पर आग्रह हो तो 'प्रामायाः' यहां श्रूयमाण षष्ठी का अर्थ है विवक्षित निष्ठत्व। और 'प्रमायाः' इसका संबंध 'उत्पत्तौ के साथ भी मानकर प्रमागत गुणजन्यता ही है प्रमा की उत्पत्तिगत परतस्त्व ऐसा अर्थ प्राप्त होता है। यहां भी गुण पद से रूपरस आदि चौबीस गुण गृहीत हो सकते हैं अतः उनके निवारणार्थ कहा गया है–' प्रमासाधारण इत्यादि।

अभिप्राय यह है कि 'प्रमात्वातिरिक्त-प्रमात्व-समानाधिकरणधर्मावच्छिन्न-कार्यतानिरूपित-कारणता का आश्रय है यहां गुण पद से विवक्षित। वे गुण कौन और कितने प्रकार के हैं यह ज्ञात दीपिकाकार स्वयं आगे बतलाने वाले हैं। और इस विवरण में पहले बतलाया भी जा चुका है। अप्रमागत दोषजन्यता ही अप्रमा की उत्पत्ति में है परतस्त्व, यह सूचित करते हुए प्रकृत दोष पदार्थ बतलाते हैं—अप्रमाऽसाधारण इत्यादि के द्वारा। विभिन्न यथार्थनुभव स्थल में कारण रूप से विवक्षित होने वाले विभिन्न गुणों का वर्णन किया जा रहा है—'तत्र प्रत्यक्षे' इत्यादि के द्वारा। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझना चाहिए कि 'अयं घटः' अर्थात् यह घड़ा है इस प्रत्यक्षस्थल में विशेषण होता है घटत्व, तद्वान् अर्थात् उससे युक्त विशेष्य होता है घट, उसके साथ होने वाला सन्निकर्ष होता है आंख का संयोग, अतः वह होता है 'गुण।' इसी प्रकार अन्यत्र भी ज्ञातव्य है। प्रमात्व के समान अप्रमात्व भी परतोग्राह्य मान्य है इसका हेतु बतलाते हैं। पुरोवर्तिनि प्रकाराभावस्य' इत्यादि के द्वारा। अभिप्राय यह है कि वहां 'इदं ज्ञानं अप्रमा, विफल-प्रवृत्तिजनकत्वात्' इस परवर्ती अनुमान के द्वारा ही अप्रमाज्ञान में अप्रमात्व का निर्णय होता है। अतः ज्ञानगत अप्रमात्व भी परतो ग्राह्य ही होता है स्वतोग्राह्य नहीं।

अप्रमोत्पत्ति गत परतस्त्व बतलाते हैं 'पित्तादि दोष जन्यत्वम्' इत्यादि के द्वारा। मीमांसक पक्ष से प्रश्नोत्थापन किया गया है—'ननुसर्वेषां-ज्ञानानां' इत्यादि के द्वारा। इस प्रश्न ग्रंथ का आशय यह है कि—सीप में जो 'इदं रजतम्' यह ज्ञान होता है, जिसे नैयायिक लोग भ्रम कहा करते हैं वह वस्तुतः एक ज्ञान होता नहीं किंतु ज्ञान द्वयात्मक होता है। 'इदम्' इस प्रकार होने वाला ज्ञान होता है प्रत्यक्षात्मक, और 'रजतम्' इस प्रकार होने वाले ज्ञान के विषय भूत रजत के साथ उस समय आंख का सन्निकर्ष न रहने के कारण वह ज्ञान होता है स्मरणात्मक। फलतः वहां होने वाली रजतार्थी व्यक्ति की सीप की ओर होने वाली प्रवृत्ति उक्त प्रकार ज्ञानद्वय से होती है। प्रवृत्ति के लिए दोनों को मिलाकर एक ज्ञान मान्य नहीं है। अतः वहां कोई सद्भाववद्विशेष्यक होता हुआ तत्प्रकारक अर्थात् रजतत्वाभाववद्विशेष्यक होता हुआ रजतत्व-प्रकारक एक ज्ञान होता ही नहीं जिसे 'तद्भाववद्विशेष्यकत्वेसतितत्प्रकारकत्व' स्वरूप भ्रमवक्षणाकान्त कहा जा सके। इसी प्रकार भ्रमरूप से विवक्षित होने वाले अन्य ज्ञानस्थलों में भी यथार्थ प्रत्यक्षात्मक और स्मरणात्मक ज्ञान-द्वय से प्रवृत्तिनिर्वाह ज्ञातव्य है। अब इस पर प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि—तब 'नेदंरजतम्' अर्थात् 'यह चांदी नहीं है' इस प्रकार विशिष्ट-बुद्ध्यात्मक निषेधबुद्धि के होने पर भी उक्त प्रकार खंड अनुभव और स्मरणात्मक ज्ञान-द्वय के कारण उक्त निषेध बुद्धिमान् रजतार्थी व्यक्ति को सीप की ओर प्रवृत्ति हो जाया करेगी। क्योंकि समानाकारक विपरीत-प्रकारक ज्ञानद्वय के बीच ही बाध्यवाधकभाव होता है।

इसका उत्तर मीमांसकों की ओर से उपस्थित किया गया है—'उपस्थितेष्ट-भेदाग्रहस्यैव' इत्यादि के द्वारा। अभिप्राय यह है कि उक्त ज्ञान द्वय स्थल में भी प्रवृत्ति होती है 'इष्टभेदाग्रह' से, अर्थात् सीप में विद्यमान रजतभिन्नता को न समझने के कारण। जहां 'नेदंरजतम्' इस प्रकार निषेधबुद्धि होती है वहां सीप में रजतभिन्नता स्पष्टरूप से ज्ञात हो जाने के कारण 'इष्टभेदाग्रह' रह नहीं पाता। इसलिए कारण न रहने के कारण प्रवृत्ति की आपत्ति होती नहीं। इस मीमांसक मतवाद का खंडन उपस्थित हो रहा है—'न, सत्यरजतस्थले' इत्यादि के द्वारा। आशय यह है कि जहां वस्तुतः विद्यमान रजत में ही 'इदं रजतम्' यह यथार्थबुद्धि होकर प्रवृत्ति होती है वहां के लिए जबकि रजत भेद ग्रहाभाव को कारण मानने की अपेक्षा इदं-विशेष्यक-रजततत्वप्रकारक ज्ञान को ही कारण मानने में लाघव है तो सीप में होने वाली, रजतार्थी की प्रवृत्ति के प्रति भी लाघवात् विशिष्ट ज्ञान को ही कारण मानना होगा। ऐसी परिस्थिति में सीप में होने वाले 'इदं रजतं' इस ज्ञान को अवश्य ही रजत्वाभाववद्विशेष्यक और रजतत्वप्रकारक एक ज्ञान मानना होगा। सुतरां उसे भ्रमात्मक भी मानना ही होगा। क्योंकि

तदभाववद्विशेष्यक होते हुए तत्प्रकारक होने वाले एक ज्ञान को ही अपरशब्द में कहा जाता है भ्रम।

इस पर यदि मीमांसकों की ओर से यह विशेष प्रश्न उठाया जाय कि नैयायिक लोग सीप में रजत-बुद्धि, जिसे वे भ्रम नाम से पुकारते हैं मान कैसे सकते हैं? क्योंकि रजत की वहां अविद्यमानता के कारण उसके साथ आंख का सन्निकर्ष संभव नहीं। और सन्निकर्षरहित वस्तु का प्रत्यक्ष में विषयीकरण संभव नहीं। तो इसका उत्तर नैयायिकों की ओर से प्रदेय रूप में ज्ञातव्य यह है कि—अन्यत्र विद्यमानता के कारण आंख का संयोग आदि लौकिक सन्निकर्ष भले ही न हो पायें किंतु रजत स्मरणात्मक ज्ञानलक्षणा स्वरूप अलौकिक सन्निकर्ष का अस्तित्व रजत अंश में अक्षुण्ण होने के कारण वहां जायमान 'इदं-रजतम्' इस ज्ञान को प्रत्यक्षात्मक कहने में कोई बाधा उपस्थित नहीं की जा सकती। और जहां उपस्थित रांगे के खंड और चांदी के खंड इन दोनों में अवस्थिति के प्रतिकूल 'यह चांदी है और यह रांगा' इस प्रकार भ्रमात्मक ज्ञान किया जाता है वहां दोनों खंडों के साथ आंख का संयोग समानरूप से विद्यमान होने के कारण यह भी नहीं कहा जा सकता कि सर्वत्र भ्रमस्थलों में–विषय के साथ लौकिक सन्निकर्ष होता नहीं।

तर्क-संग्रह

अयथार्थस्त्रिविधः। संशयविपर्ययतर्कभेदात्। एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मप्रकारकं ज्ञानं संशयः। यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। मिथ्याज्ञानविपर्ययः। यथा शुक्तौ इदं रजतमिति। व्याप्यारोपेण व्यापकाऽऽरोपस्तर्कः, यथा-यदि-वह्निर्न-स्यात् तर्हि धूमोऽपि न स्यात् इति।

अनुवाद

संशय, विपर्यय, और तर्क इन प्रभेदों के कारण अयथार्थ ज्ञान है त्रिविध। यथा-पुरोवर्ती वस्तु में 'यह स्थाणु है या मानव' इस प्रकार होने वाला ज्ञान होता है संशय। मिथ्या ज्ञान कहलाता है विपर्यय, यथा सीप में किया जाने वाला–'यह चांदी है' ऐसा ज्ञान है विपर्यय। व्याप्यधर्म के आरोप से होने वाला व्यापक धर्म का आरोप कहलाता है तर्क। यथा-वहां यदि आग न होती तो धूम भी नहीं होता-यह ज्ञान।

दीपिका

अयथार्थज्ञानं विभजते अयथार्थ इत्यादि। स्वप्नस्य मानसविपर्ययरूपत्वात् न त्रैविध्य-विरोधः। संशयलक्षणमाह एकेति। घटपटौ इति

समूहालम्बनेऽतिव्याप्तिवारणाय एकेति। घटो द्रव्यम् इत्यादौ अतिव्याप्ति-वारणाय विरुद्धेति। पटत्व-विरुद्ध-घटत्ववान् इत्यत्रातिव्याप्तिवारणाय नानेति। विपर्ययलक्षणमाह मिथ्येति। तद्भाववति तत्प्रकारक-निश्चय इत्यर्थः। तर्कलक्षणमाह-व्याप्येति। यद्यपि तर्को विपर्ययेऽन्तर्भवति तथापि प्रमाणानुग्राहकत्वात् भेदेन कीर्त्तनम्।

अनुवाद

अयथार्थ अनुभव का विभाग करते हैं अयथार्थ इत्यादि के द्वारा। स्वप्नज्ञान भी मानस विपर्यय ही है इसलिए त्रैविध्य कथन विरुद्ध नहीं। संशय का लक्षण कहा गया है 'एकत्र' इत्यादि के द्वारा। 'घटपटौ' इस समूहालम्बनात्मक ज्ञान में अतिव्याप्ति वारणार्थ कहा है 'एकत्र'। 'घटःद्रव्यम्' इस ज्ञान में संशय-लक्षण की अतिव्याप्ति के वारण के लिए कहा है 'विरुद्ध'। यह घटत्ववान् है इस ज्ञान में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'नानाधर्म यह कहा गया है। विपयर्य का लक्षण बतलाया है 'मिथ्या' इत्यादि के द्वारा। तद्भाववान् अधिकारण में तत्प्रकारक होने वाला ज्ञान है विपर्यय। यह पर्यवसित होता है यद्यपि तर्क विपयर्य ज्ञान के अंदर ही अंतर्भूत है तथापि प्रमाणों का सहकारी होने के कारण पृथक् रूप से उसका उल्लेख किया गया है।

विवरण

यदि स्वप्न-ज्ञान संशय विपर्य और तर्क इन तीनों ज्ञानों से अतिरिक्त एक अयथार्थ ज्ञान हो तो मूलकार का त्रैविध्य कथन असंगत हो उठेगा, इसलिए-विपयर्य में उसका अंतर्भाव बतलाया जा रहा है 'स्वप्नस्य' इत्यादि के द्वारा। विशेष्य के साथ आंख का सन्निकर्ष न होने कारण स्वप्न को बाह्य विपर्यय नहीं कहा जा सकता, अतः उसे मानस विपर्यय कहा गया है। कुछ लोग स्वप्नज्ञान को स्मरण भी मानते हैं परन्तु उसका अनुमोदन इसलिए नहीं किया जा सकता कि स्वप्न का भी सर्वथा अननुभूतविषयक भी होता हुआ पाया जाता है। किंतु स्मरण कभी अननुभूतविषयक होता नहीं। संशय का लक्षण 'एकधर्मावच्छिन्नविशेष्यता-निरूपित-विरुद्धनानाधर्मनिष्ठप्रकारताशालिज्ञानत्वं संशयत्वम्' यह समझना चाहिए। पर्वतोवह्निमान् नवा ? इस संशय में इस लक्षण का समन्वय इस प्रकार ज्ञातव्य है कि 'एकधर्म' पद से गृहीत हुआ पर्वतत्व, तदवच्छिन्न विशेष्यता हुई पर्वतनिष्ठ-विशेष्यता, तन्निरूपित विरुद्ध-धर्मद्वयनिष्ठ प्रकारताएं वह्नि और वह्न्यभावनिष्ठ प्रकारताएं, तादृश प्रकारताशालीज्ञान हुआ 'पर्वतोवह्निमान् नवा' यह संशयज्ञान, तादृश ज्ञानत्व उसमें समन्वित हुआ। इस परिष्कृतलक्षण के अंदर एकधर्मा-

वच्छिन्नविशेष्यतानिवेश का प्रयोजन बतलाया गया है—'घटपदौ' इत्यादि के द्वारा। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि विशेष्यता में एकधर्मावच्छिन्नत्व का निवेश न माना जाय तो घटत्वपटत्वात्मक नानाधर्मावच्छिन्नमुख्यविशेष्यताशाली उक्त समूहालंबन में जो कि एक प्रकार निश्चय है संशय नहीं, उसमें संशय-लक्षण की अतिव्याप्ति अनिवार्य हो उठेगी। विशेष्यता में एक धर्मावच्छिन्नत्व का निवेश करने पर अतिव्याप्ति इसलिए वारित हो जाती है कि समूहालंबन ज्ञानों में नियमतः मुख्य विशेष्यताएं एकाधिक होने के कारण विशेष्यता एक धर्मावच्छिन्न ही नहीं हो सकती।

उक्त संशयलक्षण में 'विरुद्ध' पदनिवेश का प्रयोजन बतलाते हैं 'घटोद्रव्यम्' इत्यादि। विरुद्धता को धर्म का विशेषण बनाने पर 'घटोद्रव्यम्' इस निश्चय में अतिव्याप्ति का निराकरण इसलिए हो जाता है कि घटत्व और द्रव्यत्व ये दोनों धर्म आपस में विरुद्ध नहीं अविरुद्ध ही हैं। क्योंकि घट भी एक प्रकार पार्थिव द्रव्य ही है इसलिए घटत्व और द्रव्यत्व ये दोनों ही घट में विद्यमान होते हैं। विरुद्ध वे दोनों धर्म हुआ करते हैं जो कभी एक आश्रय में रहते नहीं। 'विरुद्ध' पद के निवेश का प्रयोजन बतलाया गया है 'घटत्वविरुद्ध' इत्यादि। 'घटत्वविरुद्ध पटत्वावान्' इस निश्चयात्मक ज्ञान का निवारण विरुद्ध पद से इसलिए नहीं हो पाता है कि पटत्व धर्म सचमुच घटत्व का विरुद्ध है। धर्म में नानात्व विशेषण देने पर दोष का वारण इस प्रकार हो जाता है कि 'घटत्वविरुद्धपटत्ववान् इस ज्ञान के अंदर मुख्य विशेष्य अंश में केवल पटत्व ही प्रकार अर्थात् विशेषण होता है, दो विरुद्ध धर्म प्रकार हो पाते नहीं।

संशय अनेक-विरुद्ध-भाव कोटिक भी मान्य है यह बतलाने के लिए 'स्थाणुर्वा' इत्यादि उदाहरण उपस्थित किया है। स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यहां पर विरुद्धनानाधर्म पद से ग्राह्य होने वाले स्थाणुत्व और पुरुषत्व दोनों ही भाव धर्म हैं। यहां यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि जो लोग अनेक भाव कोटिक संशय मानते नहीं उनके मत में 'स्थाणुर्वा पुरुषोवा' यहां पर संशयद्वय विवक्षित होता है, यथा—'थाणुर्नवा पुरुषोनवा। किन्तु सचमुच विचार किया जायं तो यह उनका दूराग्रह प्रतीत होगा। क्योंकि 'स्थाणुर्वा पुरुषोवा' इत्यादि कुछ स्थलों में इस प्रकार निर्वाह संभावित होने पर भी 'किमिन्दुः किं पद्मं किमु मुकुरविम्बं किमु-मुखम्' इत्यादि संशय स्थलों को किसी प्रकार भावाभाव कोटिक नहीं बताया जा सकता। क्योंकि प्रत्येक कोटि में विविक्षत होने वाला सौन्दर्य अभाव-कोटि में संभव नहीं हो पायेगा। यह मुखचन्द्र है या नहीं ? कमल है या नहीं ? संशय का ऐसा आकार मानने पर चन्द्रत्व, कमलत्व आदि कोटियों को लेकर मुख में सौंदर्य

होने पर भी चन्द्रत्वाभाव, कमलात्माभाव आदि अभावों को प्रकार रूप में लेकर सोंदर्य का संपादन किसी प्रकार नहीं किया जा सकता।

इसलिए भाव कोटिक और त्रिचतुरादिकोटिक भी संशय अवश्य मान्य हैं। इसीलिए संभवतः दीपिकाकार ने धर्मद्वय-प्रकारक न कहकर नानाधर्मप्रकारक ऐसा कहा है। मिथ्या की व्याख्या विभिन्न दार्शनिकों के मत में विभिन्न हैं। जैसे वेदान्तियों के मत में ब्रह्मभिन्नता को ही मिथ्यात्व माना गया है। क्योंकि एक ब्रह्म को छोड़कर संसार की सारी वस्तुएं मिथ्या हैं वेदान्त मत में। अतः न्याय-मत-सिद्ध मिथ्यालक्षण का विशदीकरण हुआ है 'तद्भाववति तत्प्रकारक' इत्यादि के द्वारा। फलतः तद्भाववन्निष्ठ-विशेष्यता-निरूपित-तन्निष्ठप्रकारताशालिज्ञान-त्वं विपर्ययत्वम् यह विपयर्य का लक्षण प्राप्त होता है। इसका विशद-विवेचन अप्रमा के विचारावसर पर किया जा चुका है। 'व्याप्यारोपेणा व्यापकारो-पस्तर्कः' इस मूल के अंदर आरोप पद का अर्थ है आहार्य भ्रम। व्याप्यारोपेण यहां तृतीया का अर्थ है जन्यत्व। तदनुसार आहार्य का व्याप्यवत्ताभ्रम-जन्माहार्यव्यापकवत्ताभ्रमत्वं तर्कत्वम् यह तर्क का लक्षण समझना चाहिए। मूल-कार ने उदाहरण उपस्थित किया है 'यद्ययं वह्निमान् न स्यात्' इत्यादि के द्वारा। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि यदि 'अयं वह्निमान् न स्यात् धूमवान् न स्यात्' इस तर्क को उपस्थित करने वाला पर्वत में वह्नि और धूम का निश्चय रखता हुआ ऐसा ज्ञान कर रहा है तो बाधकालीन इच्छाजन्य-ज्ञान होने के कारण वह ज्ञान आहार्यज्ञान होगा। और वह्निमान् तथा धूमवान् में वह्नि और धूम के अभाव का मान होने के कारण वह भ्रम भी होगा। वह्न्यभाव और धूमाभाव इन दोनों के अंदर वह्न्यभाव है व्याप्य और धूमाभाव व्यापक। और धूमाभाव का आरोप वह्न्यभाव के आरोप के कारण भी हो रहा है इसलिए तर्क का उक्त लक्षण समन्वित होता है। अब प्रश्न यह हो सकता है कि जब यह तर्क तद्भाव-वति तत्प्रकारक होने के कारण भ्रमलक्षणाक्रांत भी हो रहा है तब उसे एक स्वतंत्र अप्रमाज्ञान क्यों माना जा रहा है ? अतः दीपिका में कहा गया है 'तर्को न प्रमाणसंगृहीतः नापि प्रमाणांतरम्' इत्यादि। आहार्यभ्रममात्र किसी न किसी का व्यापकाहार्यारोप होगा ही अतः अतिव्याप्ति संभावित हो सकती है अतः 'व्याप्यारोपेण' यह कहा गया है। यह ध्यान रखना चाहिए कि तर्क के प्रति आपाद्याभावनिश्चय और आपादकनिष्ठ आपाद्यव्याप्ति-निश्चय कारण होता है।

तर्क-संग्रह

स्मृतिरपि द्विविधा यथार्था अयथार्थाच। प्रमाजन्या यथार्था, अप्रमाजन्या अयथार्था।

अनुवाद

यथार्थ स्मरण और अयथार्थ स्मरण के रूप में स्मरण ज्ञान भी द्विविध है। यथार्थ-अनुभवजनित स्मरण होता है यथार्थ और अयथार्थ-अनुभवजनित स्मरण होता है अयथार्थ।

दीपिका

स्मृतिं विभजते स्मृतीति।

अनुवाद

स्मरण का विभाग करते हैं स्मृति इत्यादि।

विवरण

स्मरणज्ञान के संबंध में विस्तृत विचार 'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' इस मूल ग्रंथ की व्याख्या के अवसर पर किया गया है अतः पुनः यहां विस्तृत विचार नहीं किया जा रहा है।

तर्क-संग्रह

सर्वेषामनुकूलवेदनीयं सुखम् प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्। इच्छा कामः क्रोधो-द्वेषः कृतिः प्रयत्नः। निहितकर्मजन्यो धर्मः, निषिद्धकर्मजन्योऽधर्मः। बुद्ध्यादयो-ष्टावात्ममात्रविशेषगुणाः। बुद्धीच्छाप्रयत्ना नित्या अनित्याश्च। नित्या ईश्वरस्य अनित्या जीवस्य।

अनुवाद

जिसे सभी अपना अनुकूल समझते हैं वह है सुख। और जिसे सभी अपना प्रतिकूल समझते हैं वह है दुःख। 'यह मुझे हो' अर्थात् यह मुझे मिले ऐसी कामना है इच्छा। क्रोध है द्वेष और कृति है प्रयत्न। शास्त्रानुमोदित कर्म से उत्पन्न होने वाला होता है धर्म और शास्त्र-निषिद्ध कर्म से उत्पन्न होने वाला होता है अधर्म। बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न आदि आठ गुण आत्मा के ही गुण होते हैं। बुद्धि इच्छा और प्रयत्न ये तीनों नित्य और अनित्य द्विविध होते हैं। ईश्वरगत ये गुण होते हैं नित्य और जीवगत ये होते हैं अनित्य।

दीपिका

सुखं लक्षयति सर्वेषामिति। सुख्यहमित्यनुव्यवसायगम्यं सुखत्वादिक-मेव लक्षणम्। यथाश्रुतं तु स्वरूपकथनमित्यव गन्तव्यम्।

अनुवाद

सुख का लक्षण करते हैं 'सर्वेषाम्' इत्यादि के द्वारा ।' 'मैं सुखी हूँ' एतादृश अनुव्यवसायसिद्ध सुखत्वजातियुक्तता ही है सुख का लक्षण । 'अनुकूलतया' इत्यादि मूलग्रंथ उसका स्वरूप-कीर्तन मात्र है ।

विवरण

विवेकियों की दृष्टि में सांसारिक सुख भी प्रतिकूल वेदनीय है, अनुकूल वेदनीय नहीं । तदनुसार सर्वानुकूल वेदनीयत्वस्वरूप मूलोक्तसुखलक्षण अव्याप्त हो उठता है । अतः दीपिकाकार ने सुख का लघु लक्षणांतर बतलाया है 'सुख्यहं' इत्यादि के द्वारा ।

तर्क-संग्रह

संस्कारस्त्रिविधः । वेगो भावना स्थितिस्थापकश्चेति । वेगः पृथिव्यादिचतुष्ट्यमनोमात्रवृत्तिः ।

अनुवाद

संस्कार के प्रभेद तीन हैं—वेग, भावना और स्थितिस्थापक । इन तीनों के अंदर वेग पृथिवी जल तेज वायु और मन इन्हीं में रहता है ।

दीपिका

संस्कारं विभजते संस्कार इति । संस्कारत्वजातिमान् संस्कारः । वेगस्याश्रयमाह वेग इति । वेगत्वजातिमान् वेगः ।

अनुवाद

संस्कार का विभाग किया गया है 'संस्कार' इत्यादि द्वारा । संस्कारत्वजातियुक्त है संस्कार । वेग का आश्रय बतलाया है 'वेग' इत्यादि के द्वारा । वेगत्वजातियुक्त कहलाता है वेग ।

विवरण

संस्कारगुण को मान्यता न देने पर स्मरण उपपन्न नहीं हो सकता । क्योंकि संकार संबंध से ही पूर्वानुभव स्मरण के प्रति कारण होता है । पहले कोई भी व्यक्ति किसी पदार्थ का अनुभव करता है उससे उस व्यक्ति में अर्थात् आत्मा में एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है जो कि स्मरणकाल तक रहता है । उस विषय का स्मरण हो जाने पर वह संस्कार नष्ट हो जाता है । जहां एतादृश संस्कार संबंध से अनुभव रहता नहीं वहां स्मरण होता नहीं । एतदनुसार 'स्मृति-

त्वावच्छिन्नं प्रति संस्कारसंबंधेन पूर्वानुभवः कारणम् ऐसा कार्य कारण भाव मान्य स्थिर होता है। यहां कुछ लोगों का कहना यह है कि स्मरण के प्रति संस्कार संबंध से अनुभव को कारण नहीं माना जा सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर किसी भी विषय के संबंध में होनेवाले अनेक स्मरण नहीं—हो पायेंगे।

संस्कार की स्मरणनाश्यता के कारण प्रथम स्मरण से ही जब कि वह संस्कार नष्ट हो जायेगा तो उस प्रथम स्मरण के विषय को ही विषय करने वाला दूसरा स्मरण कैसे हो पायेगा? यतः उसका उत्पादक अनुभव संस्कार संबंध से नहीं रह पायेगा। कारण के बिना कभी कार्य सम्भव नहीं। इसलिए स्मरण के प्रति संस्कार संबंध से सामान्यतः ज्ञान को कारण मानना चाहिए। ऐसा मानने पर द्वितीय तृतीय आदि स्मरण इसलिए उपपन्न हो जायेंगे कि पूर्व संस्कार के नाशक स्मरण से भी एक नवीन संस्कार उत्पन्न हो पायेगा जो कि द्वितीय स्मरण को उत्पन्न कर सकेगा। इसी प्रकार उस द्वितीय स्मरण से जो संस्कार उत्पन्न होगा वह तृतीय स्मरण को उत्पन्न कर देगा। इस प्रकार स्मरण की सान्त धारावाहिकता उपपन्न होती है किंतु सिद्धांततः इसे लोग मानना नहीं चाहते। उनका कहना है कि संस्कार को केवल स्मरण-नाश्य नहीं मानना है किंतु अंतिम-स्मरणमात्र-नाश्य मानते हैं इसलिए प्रथम स्मरण से लेकर अंतिम स्मरण तक की उपपत्ति अनायास हो जायेगी। क्योंकि मध्यवर्ती स्मरणों के द्वारा मध्य में संस्कार का नाश न होने के कारण सभी स्मरणों के अव्यवहित पूर्व क्षणों में संस्कार संबंध से अनुभवात्मक कारण रह जायेगा। इस प्रकार जब किअपनुपत्ति का निवारण हो ही जायेगा तो, मध्यवर्ती अनेक संस्कार उनके प्रागभाव और उनके ध्वंसों की मान्यता-प्रयुक्त गौरव दोष का वहन क्यों किया जाय? और साथ ही ज्ञानत्व के प्रति व्याप्यभूत धर्म अनुभवत्व को स्मरण कार्य का कारणतावच्छेद न मान कर अनुभवत्व के प्रति व्यापकभूत धर्म ज्ञानत्व को क्यों कारण-ावच्छेदक माना जाय? क्योंकि ऐसा मानने पर घटकार्य के प्रति दण्डत्व-पुरस्कारेण दण्ड को कारणता न होकर द्रव्यत्वधर्म पुरस्कारेण उसमें कारणतामान्य हो उठेगी। इसी प्रकार अन्यत्र भी आपत्ति होगी।

तर्क-संग्रह

अनुभवजन्या स्मृतिहेतुर्भावना। आत्ममात्रवृत्तिः।

अनुवाद

अनुभवज्य तथा स्मृतिजनक संस्कार है भावना। यह आत्मा में ही रहती है।

दीपिका

भावनां लक्षयति अनुभवेति। अनुभवध्वंसेऽतिव्याप्तिवारणाय स्मृतीति। आत्मादावतिव्याप्तिवारणाय अनुभवेति। स्मृतेरपि संस्कार-जन्यत्वं नवीनैरुक्तम्।

अनुवाद

भावना का लक्षण किया गया है 'अनुभव' इत्यादि के द्वारा। अनुभवध्वंस में अतिव्याप्ति वारणार्थ कहा गया है 'स्मृतिहेतु' इत्यादि। आत्मा आदि में अति-व्याप्ति वारण के लिए कथित हुआ है 'अनुभवजन्य'। स्मृति के प्रति ज्ञानमात्र को कारणता-वादी नवीन नैयायिक लोगों ने भी स्मृति को भावनात्मक-संस्कार-जन्य कहा है।

विवरण

ध्वंस के प्रति प्रतियोगी की भी कारणता मान्य होने के कारण अनुभव ध्वंस के प्रति भी अनुभव कारण मान्य होता ही है। तदनुसार अनुभवजन्यत्व अनुभव-ध्वंस में भी चला जाता है। अतः स्मृतिहेतुत्व की अविवक्षा में उस अनुभव-ध्वंस में भी अतिव्याप्ति के निवारणार्थ स्मृतिहेतुत्व विशेषण सार्थक होता है।

तर्क-संग्रह

अन्यथाकृतस्य पुनस्तदवस्थाऽऽपादकः स्थितिस्थापकः। कटादि पृथिवीवृत्तिः।

अनुवाद

अन्यथाकृत पदार्थ को पुनस्तदवस्य बनाने वाला संस्कार कहलाता है स्थितिस्थापक। जो कि नूतन चटाई आदि पार्थिक द्रव्यों में विद्यमान होता है।

दीपिका

स्थितिस्थापकं लक्षयति अन्यथेति। संख्यादयोऽष्टौ नैमित्तिकद्रववेग-स्थितिस्थापकाः सामान्यगुणाः, अन्ये रूपादयः विशेषगुणाः। द्रव्यविभा-जकोपाधिद्वयसमानाधिकरणगुणवृत्ति-जातिमत्त्वम् विशेष-गुणत्वम्।

अनुवाद

स्थितिस्थापक का लक्षण बतलाया है अन्यथा कृत इत्यादि के द्वारा। संख्या प्रभृति आठ, नैमित्तिक द्रवत्व, वेग और स्थितिस्थापक ये हैं सामान्य-गुण। इनसे अन्य रूप आदि गुण हैं विशेष-गुण। द्रव्यविभाजक धर्मद्वय के साथ रहने वाले गुण में अवृत्तिजातिमान् होते हैं विशेष-गुण।

विवरण

सामान्यगुण का परिचय दिया गया है 'संख्यादयोष्टौ' इत्यादि के द्वारा। विशेषगुणों का अनुगत लक्षण बतलाया गया है 'द्रव्यविभाजक' इत्यादि के द्वारा। द्रव्यविभाजकधर्म होते हैं पृथिवीत्व जलत्व आदि, उपाधिद्वय समानाधिकरण गुण हैं संयोग विभाग आदि, उनमें अवृत्तिजाति होती है रूपत्व रसत्व आदि, तादृश-जातिमत्ता आती है रूप रस आदि विशेष-गुणों में, अतः लक्षणसमन्वय होता है। वस्तुतः ऐसा लक्षण विशेष-गुण का मानने पर एकत्वं संख्या और परिमाणस्वरूप सामान्य गुण में अतिव्याप्ति आपन्न हो सकती है अतः 'रूप-रस-गंध-स्पर्श-बुद्धि-सुख-दुखेच्छा-द्वेष-प्रयत्न-स्नेह-सांसिद्धिकद्रवत्वादृष्ट-भावना-शब्दान्यतमत्वं विशेष-गुणत्वम्' यह विशेष-गुण का निर्वचन ज्ञातव्य है। उक्त अन्यतमत्व प्रत्येक विशेष गुण में रहेगा, सामान्य गुण में नहीं।

तर्क-संग्रह

चलनात्मकं कर्म। ऊर्ध्वदेशसंयोगहेतुरुत्क्षेपणम्। अधोदेश-संयोग-हेतुर-पक्षेपणम् शरीर-सन्निकृष्टसंयोगहेतुराकुंचनम्। शरीरविप्रकृष्टसंयोगहेतुः प्रसारणम्। अन्यत्सर्वं गमनम्।

अनुवाद

कर्म है चलनात्मक। ऊर्ध्व दंश के साथ होने वाले संयोग के प्रति कारण-भूत क्रिया है उत्क्षेपण। निम्न देश के साथ होने वाले संयोग के प्रति कारण-भूत क्रिया है—अपक्षेपण। शरीर-सन्निकृष्ट-संयोग के प्रति कारणभूत क्रिया है आकुंचन। शरीरविपकृष्ट-संयोग का जनक कर्म कहलाता है प्रसारण। एतदति-रिक्त सभी कर्म हैं गमन।

दीपिका

कर्मणो लक्षणमाह चलनेति। उत्क्षेपणादीनां कार्यभेदमाह ऊर्ध्वेति। शरीरेति। वक्रतासम्पादकं कर्म आकुञ्चनम्। ऋजुता-सम्पादकं कर्म प्रसारणम्।

अनुवाद

कर्म का लक्षण कहा गया है 'चलन' इत्यादि के द्वारा। उत्क्षेपण आदि का—कार्यभेद बतलाते हैं 'ऊर्ध्वदेश' इत्यादि के द्वारा। 'शरीसन्निकृष्ट' इत्यादि के द्वारा यह बतलाया गया है कि वक्रता का अर्थात् कुटिलता का संपादक कर्म कह-लाता है आकुंचन। ऋजुता अर्थात् सरलता का संपादक कर्म कहलाता है प्रसारण।

विवरण

भ्रमण रेचन स्पंदन आदि कर्म यद्यपि असंख्य हैं फिर भी उन्हें स्वतंत्र अलग अलग कर्म न मान कर गमन में ही अंतर्भाव ज्ञातव्य है। यह इसलिए कि उत्क्षेपण आदि कर्म होते हैं नियमतः नियतदिगदेशसंयोगानुकूल। किंतु ऐसे उक्त चतुर्विध कर्मों से अतिरिक्त होने वाले सारे भ्रमण रेचन आदि कर्म होते हैं अनियत-दिग्-देश-संयोगानुकूल। इसलिए उत्क्षेपण अपक्षेपण आकुंचन और प्रसारण इनसे अतिरिक्त सभी कर्मों को एक गमन स्वरूप ही मानना उचित है। अतः भ्रमण आदि की अलग गणना नहीं की गयी है।

इसके अतिरिक्त एक बात और भी यहां ज्ञातव्य है कि—उत्क्षेपण अपक्षेपण आदि क्रियाएं नियमतः इच्छा-सापेक्ष हुआ करती हैं किंतु भ्रमण आदि गमनात्मक क्रिया के लिए यह नियम नहीं है। कहने का सारांश यह है कि उद्गमन मात्र को उत्क्षेपण नहीं कहा जा सकता। यथा नीचे टकराकर स्वतः होने वाला गेंद का उत्पलन उत्क्षेपण नहीं। क्योंकि उस उद्मन के मूल में किसी की इच्छा काम करती नहीं। यह गेंद ऊपर जाय इस प्रकार इच्छा करके कोई ऊपर की ओर गेंद को फेंकता नहीं, जहाँ ऊपर की ओर उसे फेंका जाता नहीं।

तर्क-संग्रह

नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्। द्रव्यगुणकर्मवृत्ति। परं सत्ता अपरं द्रव्यत्वादि।

अनुवाद

नित्य एवं एक होता हुआ अनेक आश्रय में समवाय संबंध से रहने वाला है सामान्य। यह द्रव्य गुण और कर्म वर्तमान होता है। 'पर-सामान्य' है सत्ता और 'अपर-सामान्य' होता है द्रव्यत्व आदि।

दीपिका

सामान्यं लक्षयति नित्यमिति। संयोगेऽतिव्याप्ति-वारणाय नित्यमिति। परमाणुपरिमाणादावतिव्याप्तिवारणाय अनेकेति। अनुगतत्वं समवेतत्वम्। पटाद्यत्यन्ताभावो घटाद्यनुगतोऽप्यसमवेत इति नामावादावतिव्याप्तिः।

अनुवाद

'नित्यमेक' इत्यादि के द्वारा सामान्य का लक्षण किया गया है। 'नित्य' कहा गया है संयोग में अतिव्याप्ति वारण के लिए। परमाणु के परिमाण अणुत्व में अतिव्याप्ति वारणार्थ 'अनेक' पद कहा गया है। अनुगतव्य का अर्थ है—समवे-

तत्व। घटादि का अत्यंताभाव घट आदि में अनुगत तो होता है किंतु समवेत होता नहीं इसलिए अभावादि में अतिव्याप्ति होती नहीं।

विवरण

नित्यत्वेसति अनेकनिरूपित-समवाय-संबंधावच्छिन्नवृत्तित्वं सामान्यत्व् यह सामान्य का अर्थात् जाति पदार्थ का लक्षण है। एतद्गत प्रत्येक पद की व्यावृत्ति- बतलायी जा रही है संयोगेतिव्याप्ति इत्यादि के द्वारा। यदि अनेक निरूपित-समवायसंबंधावच्छिन्नवृत्तित्वं सामान्यत्वम् इतना ही कहा जाय तो संयोग विभाग आदि गुणों में सामान्य-लक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न होगी। क्योंकि अनेक आश्रयों में समवाय-संबंध से आश्रित वे भी होते ही हैं। नित्य कहने पर अति व्याप्ति का वारण स्वाभाविक है, क्योंकि संयोग आदि गुण नित्य होते नहीं। किंतु यह कथन विभु द्वय-संयोग की मान्यता-पक्ष में संगत नहीं। क्योंकि वह मान्य होने पर नियमतः नित्य ही होगा अतः विभुद्वय-संयोग की मान्यता-पक्ष में उक्त सामान्य-लक्षण में संयोगभिन्न विशेषण भी देय होगा। तब विभुद्वय संयोग में संयोगभिन्नत्व जा नहीं पायेगा। 'अनेक' पद का प्रयोजन बतलाते हैं 'परमाणु-परमाण्वादौ' इत्यादि के द्वारा। कहने का तात्पर्य यह है कि परमाणुओं में रहने वाला अणुत्व-परिमाण नित्य भी होता है और गुण होने के कारण अपने आश्रय-द्रव्य में समवाय संबंध से ही रहता है, अतः नित्यत्व और समावाय-संबंधावच्छिन्न-वृत्तित्व ये दोनों ही धर्म-परमाणुगत अणुत्व में रह जाते हैं। 'अनेक' पद लक्षण में देने पर अतिव्याप्ति इसलिए निवारित होती है कि वह अणुत्व प्रत्येक परमाणु में अलग-अलग होता है।

इसलिए किसी भी अणुत्व में अनेक निरूपित समवाय संबंधावच्छिन्नवृत्तिता जा पाती नहीं। 'अनुगत' का अर्थ समवेत क्यों कर्तव्य है यह बतलाया है 'घटात्यं-ताभाव' इत्यादि के द्वारा। अत्यंताभाव भी नित्य और एक होता हुआ अनेकाश्रित हो जाता है अतः नित्यत्वेसति अनेकानुगतत्व अत्यंताभाव में चला जाता है। अनुगत का अर्थ समवेत करने पर अतिव्याप्ति इसलिए निवारित होती है कि अभाव समवाय संबंध से नहीं रहने के कारण समवेत हो पाता नहीं। अब यहाँ जिज्ञासा यह उपस्थित हो सकती है कि तब 'गगनत्व' में सामान्य लक्षण की अव्याप्ति हो उठेगी। क्योंकि वह एक मात्र आकाश में रहने के कारण अनेक-समवेत हो पाता नहीं। तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि गगनत्व को नैयायिक लोग जाति मानते नहीं। क्योंकि एकमात्रवृत्तिष्व जातित्व का बाधक है। जो एक-मात्रवृत्ती हो वह जाति रूप से मान्य नहीं। इसीलिए आचार्य उदयन ने— कहा है :—

'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधक-संग्रहः ।।

इसके द्वारा सभी जातिवाधकों का संग्रह उपस्थित किया है। व्यक्ति शब्द का विवक्षित अर्थ है आश्रय, उसकी अभिन्नता, अर्थात् अभिन्नाश्रयकत्व जाति-बाधक अर्थात् जातित्व का बाधक होता है ।

गगनत्व का आश्रय एक मात्र आकाश होने के कारण अभिन्नाश्रयकत्व स्वरूप जाति-वाधक गगनत्व धर्म में रहता है। अतः वह सामान्य नहीं हो सकता। इस प्रकार सामान्यलक्ष्यत्वानाक्रान्त होने के कारण उसमें सामान्य लक्षण की अव्याप्ति नहीं कही जा सकती। अन्यूनाधिकदेशवृत्तित्व है तुल्यत्व इसे जाति द्वय की मान्यता का बाधक माना जाता है । इसलिए घटत्व और कलशत्व इन दोनों को जाति नहीं माना जाता है । इन दोनों के अंदर किसी एक को जाति-माना जा सकता है। 'परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वे सति एकाधिकारण-वृतित्वं सांकर्यम्' यह है सांकर्यात्मक जाति-बाधक का लक्षण। इसका आशय यह है कि जो दो धर्म परस्पर के अत्यन्ताभाव के साथ भी रहते हैं और कहीं एक आश्रय में भी रहते हैं जैसे भूतत्व और मूर्तत्व, ये दोनों धर्म, जाति माने जाते नहीं। क्योंकि भूतत्व को छोड़कर केवल मूर्तत्व मन में रहता है और मूर्तत्व को छोड़ कर केवल भूतत्व आकाश में। और पृथिवी जल तेज और वायु इन चारों में भूतत्व और मूर्तत्व दोनों रहते हैं अतः उक्त सांकर्यलक्षण उक्त भूतत्व और मूर्तत्व में समन्वित होता है इसके फलस्वरूप उन दोनों को जाति माना जाता नहीं। किंतु यहां एक बात यह ध्यान रखने की है कि इस प्रकार सांकर्याक्रान्त दो धर्मों के अंदर यदि किसी एक को जातित्व किसी प्रमाण से समर्थित होता है तो उसे जाति मान लिया जाता है और अपर धर्म जाति माना जाता नहीं। अनवस्थिति का अर्थ है अनवस्था। यह जाति-बाधक है जातित्व का बाधक नहीं। तात्पर्य यह कि अनवस्था के भय से जाति पर दूसरी जाति मानी जाती नहीं। अब यहां प्रश्न यह उपस्थित किया जा सकता है कि जाति पर जाति मानने पर अनवस्था कैसे बतलायी जा सकती ?

क्योंकि सभी जातियों में जातित्व एक होगा। अतः उस जातित्व पर रहने वाला जातित्व इसलिए गगनत्व की तरह जाति नहीं हो पायेगा कि अनेकसमवेत होगा नहीं। ऐसी परिस्थिति में यह कथन कैसे संगत हो सकता कि जाति पर जाति मानने में अनवस्था दोष है ? तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि यहां अनवस्था का अर्थ है जाति में असंख्यता की आपत्ति। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि घटत्व पटत्व आदि यदि प्रथमतः दश जातियां मान

ली जांय और जाति पर भी जाति का अस्तित्व माना जाय तो दश जातियों पर विद्यमान जातित्व को ग्यारहवीं जाति मानना होगा। और जाति पर जाति की मान्यता के कारण फिर उक्त ग्यारह जातियों के ऊपर एक बारहवीं जाति मान्य हो बैठेगी। इस प्रकार होने वाली जातिगत संख्या की वृद्धि अनंत हो उठेग।

रूपहानि का अर्थ है स्वभाव हानि। इसके भय से विशेष में विशेषत्व जाति मान्य होती नहीं। क्योंकि विशेष में यदि विशेषत्व जाति मानी जाय तो वही विशेष का व्यावर्तक हो जायेगी। यतः जाति नियमतः आश्रय का व्यावर्तक हुआ करती है। फलतः अन्य-व्यावृत्त हो जाने के कारण स्वतोव्यावृत्त हो नहीं पायेगा। अपने स्वरूप को खो बैठेगा। इसलिए विशेष में विशेषत्व जाति मान्य होती नहीं। यह भी जातिमत्ता का ही बाधक है जातित्व का नहीं। असंबंध का अर्थ है संबंधाभाव, संबंध का अर्थ है समवाय। फलतः प्रतियोगित्वानुयोगित्वान्यतर-संबंधेन समवायाभाव जाति-बाधक है। समवाय और अभाव के ऊपर समवाय संबंध न प्रतियोगिता संबंध से जाता है और न अनुयोगिता संबंध से। समवाय किसी अन्य पर समवाय संबंध से रहता नहीं इसलिए प्रतियोगिता नहीं जा पाती और उस पर अन्य कोई समवाय संबंध से रहता नहीं इसलिए अनुयोगिता भी वहां जा पाती नहीं। इस प्रकार संबंध न जा सकने के कारण उन संबंधों से कोई भी नहीं जा सकता है। अतः समवाय भी नहीं जा सकता है। इसलिए उक्त प्रकार समवायाभाव स्वरूप बाधक वहां उपस्थित हो सकता है। इस प्रकार जातिबाधक उपस्थित होने के कारण समवाय पर एवं अभाव पर जाति मान्य होती नहीं। फलितार्थतः—समवायत्व और अभावत्व जाति नहीं।

तर्क-संग्रह

नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तकाविशेषाः।

अनुवाद

परमाणु आकाश आदि नित्य द्रव्यों में रहता हुआ जो व्यावर्तक होता है वह कहलाता है विशेष।

दीपिका

विशेषं लक्षयति विशेषेति।

अनुवाद

विशेष का लक्षण बतलाते हैं विशेष इत्यादि के द्वारा।

विवरण

इन विषयों का विशद विवेचन प्रत्यक्षखण्ड में किया जा चुका है। अतः वहां से यहां अनुसन्धातव्य है।

तर्क-संग्रह

नित्यसंबंधः समवायः । अयुतसिद्धवृत्तिः । ययोर्द्वयोर्मध्ये एकं अविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ । अवयवावयविनौ, गुणगुणिनौ क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ती, विशेषनित्यद्रव्ये चेति ।

अनुवाद

नित्यसंबंध है समवाय । वह अयुतसिद्धों में रहता है । जिन दो पदार्थों के बीच अविनश्यदवस्थ एक अपराश्रित होकर ही रहता है वे दोनों कहलाते हैं अयुतसिद्ध । अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्, जाति और व्यक्ति, नित्यद्रव्य और विशेष ये हैं अयुतसिद्ध ।

दीपिका

समवायं लक्षयति नित्येति । संयोगेऽतिव्याप्तिवारणाय नित्येति । आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय सम्बन्ध इति । अयुतसिद्धलक्षणमाह ययोरिति । नीलो घट इति विशिष्टबुद्धिः विशेषण-विशेष्यसम्बन्धविषया । विशिष्टप्रत्ययत्वात् दण्डीतिप्रत्ययवत् इति समवायसिद्धिः । अवयवावयविनाविति । द्रव्यसमवायिकारणं अवयवः, तज्जन्यं द्रव्यं अवयवि ।

अनुवाद

समवाय का लक्षण किया गया है 'नित्यसंबंध' इत्यादि के द्वारा । संयोग में अति व्याप्तिवारणार्थ 'नित्य' कहा गया है । 'संबंध' कहा गया है आकाश आदि में अतिव्याप्ति-वारणार्थ । 'ययोः द्वयोः' इत्यादि के द्वारा अयुतसिद्ध का लक्षण बतलाया गया है । 'नीलो घटः' इत्यादिज्ञानयतः 'दण्डी पुरुषः' इत्यादि के समान विशिष्ट-बुद्धि है अतः विशेषण और विशेष्य इन दोनों के बीच होने वाले संबंध को विषय करने वाला अवश्य है इस अनुमान से समवाय संबंध की सिद्धि होती है । 'अवयवावयविनौ' यहाँ पर द्रव्य का समवायि कारण कहलाता है अवयव और तज्जन्य द्रव्य कहलाता है अवयवी ।

विवरण

'नित्यत्वेसति संबंधत्वं समवायत्वम्' यह है समवाय का लक्षण । इसके अंदर 'नित्यत्वेसति' यह न कहने पर संयोग आदि संबंधों में भी समवाय का लक्षण अतिव्याप्त हो उठता है यह कहा गया है दीपिका में 'संयोगेऽतिव्याप्ति-वारणाय इसके द्वारा । किन्तु यह कथन विभुद्वय संयोग को न मान कर ही संगत हो सकता है । उसे मान्यता देने पर उक्त समवाय-लक्षण में 'संयोग-भिन्नत्व' विशेषण

भी देय होगा। 'नित्यत्वं समवायत्वम्' इतना ही समवाय-लक्षण का आकार मानने पर आत्मा आकाश आदि में अतिव्याप्ति होगी। इसलिए संबंध पद भी समवाय-लक्षण में देना आवश्यक है। समवाय साधक अनुमान का आकार बतलाया गया है 'नीलोघटः इत्यादि के द्वारा'। इन सभी विषयों पर 'समवायस्त्वेक एव' इस मूल ग्रंथ के व्याख्या के अवसर पर पूर्ण प्रकाश डाला जा चुका है। अतः वहाँ से ज्ञातव्य है। अवयव और अवयवी का परिचय दिया जा रहा है 'द्रव्य समवायिकारण, इत्यादि के द्वारा। यथा घट और कपाल इन दोनों के अंदर कपाल होता है अवयव और घट अवयवी। समवाय को वैशेषिक लोग अतीन्द्रिय मानते हैं, किंतु नैयायिक लोग उसका प्रत्यक्ष मानते हैं।

तर्क-संग्रह

अनादिः सांतः प्रागभावः उत्पत्ते पूर्वकार्यस्य। सादिरनन्तः प्रध्वंसः, उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य। त्रैकालिक-संसर्गावच्छिन्न-प्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः यथा भूतले घटो नास्तीति। तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः। यथा यथा घटः पटोनेत्यादि।

अनुवाद

जिसका आदि नहीं किंतु अंत मान्य है वह अभाव है प्रागभाव, जो कि कार्य की उत्पत्ति के पहले समवायिकारण में रहता है। आदियुक्त होते हुए भी अंतरहित अभाव है ध्वंस, जो कि कार्योत्पत्ति के अनन्तर कभी होता है। जिसकी प्रतियोगिता नियमतः किसी संबंध से अवच्छिन्न होती है ऐसा त्रिकालस्थायी अभाव होता है अत्यन्ताभाव, यथा भूतल में घट नहीं है इत्यादि। जिसकी प्रतियोगिता तादात्म्य-संबंध से अवच्छिन्न होती है वह अभाव होता है अन्योन्याभाव, यथा 'घड़ा कपड़ा-नहीं है' इत्यादि।

दीपिका

प्रागभावं लक्षयति-अनादिरिति। आकाशादौ अतिव्याप्ति-वारणाय सान्त इति। घटादावतिव्याप्तिवारणायानादिरिति। घटादौ अतिव्याप्ति-वारणाय अनन्त इति। आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय सादिरिति। प्रतियोगिजन्यः प्रतियोगिसमवायिकारणवृत्तिः ध्वस्तव्यवहारहेतुः ध्वंसः। अत्यन्ताभावं लक्षयति त्रैकालिक इति। अन्योन्याभावेऽतिव्याप्तिवारणाय संसर्गावच्छिन्नेति। अन्योन्याभावं लक्षयति तादात्म्येति। प्रतियोगितावच्छेदकारोप्यसम्बन्धभेदात् एकप्रतियोगिकयोरत्यन्तान्योभावयो-

बहुत्वम् । केवलदेवदत्ताभावात् भिन्नो दण्ड्यभाव इति प्रतीत्या विशिष्टाभावः । एकसत्त्वेऽपि 'द्वौ न स्तः' इति प्रतीत्या द्वित्वावच्छिन्नाभावः । संयोगसम्बन्धेन घटवति समवायसम्बन्धेन घटाभावः । तत्तद्घटाभावात् घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावोऽतिरिक्तः । एवमन्योन्याभावोऽपि । पटत्वेन घटो नास्तीति व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नभावो नांगीक्रियते । घटे पटत्वं नास्तीति तस्यार्थः । अतिरिक्तत्वे स एव केवलान्वयी । सामयिकाभावोऽप्यत्यन्ताभाव एव समयविशेषे प्रतीयमानः । घटाभाववति घटानयने अन्यत्र गमनाऽभावेप्यप्रतीतेः घटापसरणे सति प्रतीतेर्भूतल-घट-संयोग-प्रागभावध्वंसयोर्घटात्यन्ताभावप्रतीतिनियामकत्वं कल्प्यते । घटवति तत्संयोग-प्रागभाव-ध्वंसयो रसत्वादत्यन्ताभावस्य प्रतीतिः । घटापसरणे च संयोगध्वंसत्वात् प्रतीतिरिति । केवलाधिकरणादेव नास्तीति व्यवहारोपपत्तौ अभावो न पदार्थान्तरमिति गुरवः । तन्न । अभावानंगीकारे कैवल्यस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् । अभावाभावो भाव एव नातिरिक्तः । अनवस्थाप्रसंगात् । ध्वंसप्रागभावः प्रागभावध्वंसश्चेति प्रतियोग्येवेति प्रपञ्चः । अभावाभावः अतिरिक्त एव, तृतीयाभावस्य प्रथमाभावरूपत्वान्नावस्थेति नवीनाः ।

अनुवाद

प्रागभाव का लक्षण बतलाया गया है 'अनादिः' इत्यादि के द्वारा । आकाश आदि में अतिव्याप्तिवारणार्थ कहा गया है 'सान्तः' । प्रतियोगी के समवायिकारणों में रहता हुआ अपने प्रतियोगी का जनक अभाव होता है प्रागभाव । जो कि 'होगा' 'होने वाला है' इत्यादि व्यवहार का कारण होता है । ध्वंस का लक्षण बतलाया गया है 'सादिः' इत्यादि के द्वारा । 'अनन्त' कहा गया है घट आदि में अतिव्याप्ति निवारणार्थ । आकाशादि में होने वाली अतिव्याप्ति के निवारणार्थ कहा गया है 'सादिः' । जो अपने प्रतियोगी से उत्पन्न होने वाला होता हुआ प्रतियोगी के समवायिकारण में रहने वाला होता है और 'यह विनष्ट हुआ' इत्यादि प्रतीति का विषय होता है वह है ध्वंस । अत्यन्ताभाव का लक्षण बतलाया गया है 'त्रैकालिक' इत्यादि के द्वारा । संसर्गावच्छिन्न कहा गया है अन्योन्याभाव में अतिव्याप्ति वारणार्थ । ध्वंस एवं प्रागभाव में अतिव्याप्ति वारणार्थ कहा गया है त्रैकालिक । अन्योन्याभाव का लक्षण किया गया है 'तादात्म्य' इत्यादि के द्वारा । प्रतियोगितावच्छेदक धर्म, आरोप्य और संबंध अर्थात् प्रतियोगितावच्छेदक संबंध इनकी विभिन्नता के कारण एकप्रतियोगिक होने पर भी अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव इनमें विभिन्नता मान्य होती है ।

'केवल देवदत्ताभाव से विशिष्टदेवदत्ताभाव भिन्न है' इस प्रतीति के कारण विशिष्टाभाव एक स्वतंत्र अभाव सिद्ध होता है। 'यहाँ दोनों के अंदर एक तो है, किंतु दोनों नहीं हैं' प्रतीति के कारण उभयाभाव को एक विलक्षण अभाव मानना पड़ता है।

संयोगसंबंध से घट के आधार में भी समवाय-संबंधावच्छिन्न-प्रतियोगिताक घटाभाव रहता है। नील पीत आदि तत्तद्घटों के अभाव से घटत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-घटसामान्यभाव अतिरिक्त है। अवच्छेदकगत भेदप्रयुक्त अन्योन्याभाव भी विभिन्न होते हैं। घटत्वादि धर्मधर्मपुरस्कारेण पटादि का अभाव, जो कि व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक कहा जाता है मान्य नहीं है। यदि वह अतिरिक्त अभाव रूप में स्वीकृत हो तो फिर वह सर्ववृत्तीमान्य होगा। सामयिकाभाव भी अत्यन्ताभाव ही है। जो कि काल-विशेष में प्रतीति का विषय होता है। घट की नास्तिता के अनन्तर घट लाने पर यद्यपि घटात्यन्ताभाव वहां से अन्यत्र कहीं खिसक नहीं जाता, फिर भी उस घटास्तित्वकाल में घटात्वन्ताभाव की प्रतीति वहां होती नहीं इसलिए भूतलानुयोगिक और घटप्रतियोगिक होने वाले संयोग के ध्वंस और प्रागभाव को अत्यन्ताभाव की प्रतीति का नियामक माना जाता है।

उस आधार में घट संयोग के रहते समय घट-संयोग-ध्वंस और घट-संयोग-प्रागभाव जो कि अत्यंताभाव प्रतीति का नियामक माना गया है, रहता नहीं इसलिए उस समय वहाँ घटात्यंता भाव की प्रतीति होती है। और घड़ा हटा लेने पर घट-संयोग-ध्वंस रह जाता है इसलिए घटात्यंताभाव की प्रतीति हो पाती है। केवल अधिकरण को ही अभाव मानकर जब कि अभाव संबंधी प्रतीतियां बन सकती हैं तो अभावनामक एक स्वतंत्र पदार्थ मान्य नहीं यह प्रभाकर का मत है। किंतु इसे सही इसलिए नहीं माना जा सकता कि अभाव को मान्यता दिये बिना आधार की केवलता निर्वचनार्ह नहीं बन सकती। केवल भूतल नहीं कहा जा सकता। अभाव का अभाव भावस्वरूप ही मान्य है। अन्यथा अनवस्था आपन्न होगी। प्राचीनों का कहना है कि प्रागभाव का ध्वंस और ध्वंस का प्रागभाव प्रतियोगी स्वरूप ही होता है। अभाव का अभाव भावात्मक नहीं किंतु अतिरिक्त ही मान्य है। तृतीय अभाव को प्रथम अभावस्वरूप मान लेने पर अनवस्था का भी वारण हो जायेगा। यह नवीनों का मत है।

विवरण

'प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसप्रतियोगित्वं प्रागभावत्वम्' यह प्रागभाव

का लक्षण है। प्रागभाव का प्रागभाव होता नहीं किंतु ध्वंस होता है अतः प्रागभाव में इस लक्षण का समन्वय अनायास होता है। जिसका अभाव लिया जाय वह कहलाता है अभाव का प्रतियोगी। उक्त लक्षण में 'ध्वंस-प्रतियोगित्व' देने का प्रयोजन बतलाया गया है 'आकाशादौ' इत्यादि के द्वारा। नित्य पदार्थ का प्रागभाव होता नहीं अतः आकाश प्रागभाव का प्रतियोगी होता नहीं। तदनुसार प्रागभावाप्रतियोगित्व उसमें आ जाने के कारण वहाँ अतिव्याप्ति होती है। ध्वंस प्रतियोगित्व के कहने पर अतिव्याप्ति इसलिए वारित होती है कि नित्य का ध्वंस भी होता नहीं। अतः आकाश में 'ध्वंस-प्रतियोगित्व' आता नहीं। 'प्रागभावा-प्रतियोगित्व' का फल बतलाया गया है 'घटादौ' इत्यादि के द्वारा। अनित्य होने के कारण घट का ध्वंस होता ही है। तदनुसार घट आदि में 'ध्वंस प्रति-योगित्व' ही रहता है ध्वंसाप्रतियोगित्व रहता नहीं। 'प्रागभावाप्रतियोगित्वेसति' यह कहने पर घट आदि में अतिव्याप्ति इसलिए नहीं हो पाती है कि घट आदि प्रागभाव के प्रतियोगी ही होते हैं प्रागभाव के अप्रतियोगी होते नहीं। प्रागभाव का आश्रय और कार्य बतलाते हैं 'प्रतियोगिसमानाधिकरण' इत्यादि के द्वारा। सरल अभिप्राय यह कि घट-प्रागभाव अपने प्रतियोगी घट के समवायिकरण कपाल में रहता है। इसी प्रकार पट-प्रागभाव आदि प्रागभावों को भी समझना चाहिए। और घट-प्रागभाव घट के प्रति कारण भी होता है। इसीलिए घट अपने अवयवभूत कपालों में ही उत्पन्न होता है, तंतु आदि अन्य किसी में नहीं। 'प्रागभावप्रतियोगित्वे' सति ध्वंसाप्रतियोगित्वम्' यह है ध्वंस का लक्षण। यहाँ ध्वंसाप्रतियोगित्व कथन का फल बतलाया गया है—'घटादौ' इत्यादि के द्वारा। ध्वंसाप्रतियोगित्व के कथन से अतिव्याप्ति इसलिए निवारित हो जाती है कि घट आदि ध्वंस के प्रतियोगी ही होते हैं अप्रतियोगी नहीं। 'प्रागभावप्रतियोगित्व' अंश का प्रयोजन बतलाते हैं 'आकाशादौ' इत्यादि के द्वारा। 'प्रागभावप्रति-योगित्व' कथन से अतिव्याप्ति इसलिए निवारित हो जाती है कि नित्य होने के कारण आकाश प्रागभाव का प्रतियोगी होता नहीं। ध्वंस का अधिकरण और कार्य बतलाते हैं 'प्रतियोगि जन्यः' इत्यादि के द्वारा। 'त्रिकालस्थायित्वेसति किंचित्संबंधावाच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावात्वं अत्यंताभावत्वम्' यह है मूल-ग्रन्थ-लभ्य अत्यंताभाव का लक्षण। इसमें यदि 'त्रै ालिकाभावत्व' को ही अत्यंताभाव का लक्षण माना जाय तो भेदात्मक अन्योन्याभाव में अतिव्याप्ति आपन्न होगी। क्योंकि नित्य होने के कारण त्रैकालिक अभाव तो वह भी होता ही है। यही बतलाया गया है 'अन्योन्याभावे' इत्यादि के द्वारा। 'संसर्गावच्छिन्न' यहाँ पर संसर्ग पद से तादात्म्यभिन्न संबंध विवक्षित है। अन्यथा तादात्म्य-संबंधावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्व अन्योन्याभाव में भी होने के कारण उसमें

अतिव्याप्ति दुर्वार हो उठती है। त्रैकालिकत्व विशेषण का प्रयोजन बतलाया गया है 'ध्वंसप्रागभाव' इत्यादि के द्वारा। किंतु यह कथन ध्वंसीय प्रतियोगिता में भी संबंधावच्छिन्नत्व मान कर किया गया है। अन्यथा 'संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगितात्व' ही नहीं होने के कारण उसमें अतिव्याप्ति संभावित नहीं कही जा सकती। सिद्धांतलक्षण की व्याख्या में जगदीश ने कहा है 'ध्वंसप्रागभावयोरुत्तर काल-पूर्वकालौ एव प्रतियोगितावच्छेदक संबंधौ। अन्योन्याभाव का लक्षण है तादात्म्यसंबंधावच्छिन्न-प्रतियोगिता का भावत्वम्' इस लक्षण के संबंध में 'अभावश्चतुर्विधिः' इस मूल ग्रंथ के व्याख्यान स्थल पर बहुत कुछ कहा जा चुका है। प्रतियोगावच्छेदक-भेद-प्रयुक्त अभावगत भेद का उदाहरण दिया गया है 'केवल देवदत्ताभावात्' इत्यादि के द्वारा। विशिष्टाभा तीन प्रकार से होते हैं यह पहले बतलाया जा चुका है।

उभयाभाव साधक प्रतीति उपस्थित करते हैं 'एकसत्वेपि' इत्यादि के द्वारा। यह भी प्रतियोगि भेद प्रयुक्त ही भिन्न मान्य होता है। 'आरोप्य' का अर्थ प्रतियोगी ज्ञातव्य है। संबंध-भेद-प्रयुक्त होने वाले अभाव भेद का उदाहरण उपस्थित किया है 'संयोगेन घटोनास्ति' इत्यादि के द्वारा। विशेषभाव और सामान्याभाव इन दोनों की विभिन्नता बतलायी गयी है 'तद्घटत्वावच्छिन्न' इत्यादि के द्वारा। ऐसा न मानने पर अपर घट के आधार में 'तद्घटोनास्ति' की तरह 'घटोनास्ति' यह भी प्रतीति होने लगेगी जो कि होती नहीं। प्रतियोगित्वाभाववद्वृत्तिधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वं व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभावत्वम् यह व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव का स्थूल लक्षण ज्ञातव्य है। इसे अस्वीकार करने का कारण यह है कि अभाव-बुद्धि के लिए प्रयोगितावच्छेदक-विशिष्ट-प्रतियोगिज्ञान कारण होता है। तदनुसार घटत्वेन पटोनास्ति इस व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभाव की प्रतीति के लिए घटत्व-विशिष्ट-पट का ज्ञान नितांत आवश्यक होगा। किंतु घटत्व-विशिष्ट-पट अप्रसिद्ध होने के कारण वह ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता। घटत्वेन पटो नास्ति एतदाकारक व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नाभाव स्थल में प्रतियोगितावच्छेदक तो होता है घटत्व किंतु प्रतियोगी होता है पट। यदि उक्त प्रतीति की अनुभव-सिद्धता के आधार पर व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्न-अभाव मान्य हो तो वह केवलान्वयी अर्थात् सर्वत्र रहने वाला मान्य होगा। यह इसलिए कि अभावों को प्रतियोगितावच्छेदक-विशिष्ट-प्रतियोग्यधिकरणता के साथ ही विरोध हुआ करता है। उक्त प्रकार व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभावस्थल में प्रतियोगितावच्छेदक-विशिष्ट-प्रतियोगी ही अप्रसिद्ध होने के कारण इस अभाव का विरोध करने वाली उक्त प्रकार अधिकरणता कहीं रहेगी नहीं। अत्यंताभाव को नित्य मानने पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि घटरहित स्थान में घट के

ले आने पर भी 'घटोनास्ति' अर्थात् यहां घड़ा नहीं है, यह प्रतीति क्यों नहीं होती ? क्योंकि अत्यंताभाव नित्य होने के कारण घट लाने पर भी घटात्यन्ताभाव तो मरेगा नहीं ? वहां विद्यमान ही रहेगा। इस प्रश्न के उत्तर में कुछ लोगों का कहना यह है कि जो जहां कभी नहीं रहता है उसका अत्यंताभाव वहाँ रहता है।

घट कभी भूतल में रहता भी है और कभी नहीं भी रहता है अतः भूतल में प्रतीत होने वाले घट के भाव को अत्यंताभाव नहीं कहा जा सकता। वह एक प्रकार सामयिकाभाव है। सामयिकाभाव वह होता है जो कि उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी। तात्पर्य यह कि घट के लाने पर घटाभाव नष्ट हो जाता है अतः उस समय घटाभाव की प्रतीति होती नहीं। पर वह सिद्धांतरूप में मान्य नहीं यह बतलाया गया है 'सामयिकोप्यत्यंताभाव' इत्यादि के द्वारा। आशय यह है कि अत्यंताभाव नित्य ही है घट के अस्तित्व काल में घटात्यंताभाव की प्रतीति इसलिए नहीं होती कि अत्यंताभाव की प्रतीति के नियामक घट संयोग-ध्वंस या घट-संयोग-प्रागभाव उस समय वहां रहता नहीं, जहां कि संयोग संबंध से घट विद्यमान होता है। इसका उत्तरांतर भी प्रत्यक्ष खण्ड गें बतलाया गया है, वह भी यहां अनुसंधेय है। अभाव को केवल अधिकरण स्वरूप मानने वाले प्रभाकर का मत बतलाया गया है 'केवलाधिकरणादेव' इत्यादि के द्वारा, और खण्डन उपस्थित किया गया है 'तन्न' इत्यादि के द्वारा। खण्डन का आशय यह है कि 'केवल अधिकरण' का अर्थ होता है केवलत्व युक्त अधिकरण। अब यहां पूछा यह जायेगा कि यह 'केवलत्व' क्या है ? यदि उसे भूतल आदि आधार स्वरूप माना जाय तो घट के अस्तित्व काल में भी घटाभाव की प्रतीति आपन्न होगी। क्योंकि भूतकालात्मक केवलत्व तो उस समय भी रहेगा ही। यदि केवलत्व को प्रतियोग्यभाववत्व अर्थात् प्रतियोगी के अभाव की अधिकरणता माना जाय, तो आधार से अतिरिक्त आधेयभूत अभाव पदार्थ मान्यता प्राप्त हो ही जाता है। इन सभी मतों का खण्डन पहले बतलाया जा चुका है।

तर्क-संग्रह

सर्वेषां पदार्थानां यथायथमुक्तेष्वन्तर्भावात्सप्तैव पदार्था इति सिद्धम्।

अनुवाद

सारे पदार्थ यथा सम्भव उक्त सात पदार्थ में ही यतः अंतर्मुक्त हो जाते हैं अतः पदार्थ सात ही हैं यह निर्णीत है।

दीपिका

ननु प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टांत-सिद्धांतावयव-तर्क-निर्णय-

वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निः-श्रेयसाधिगम' इति न्यायशास्त्रे षोड़शपदार्थानामुक्तत्वात् कथं सप्तैवेत्यत-आह सर्वेषामिति। सर्वेषां सप्तस्वेवांतर्भाव इत्यर्थः। आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धि-मतः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभाव फल-दुःखापवर्गास्तु प्रमेयमिति द्वादशविधं प्रमेयम्। प्रवृत्तिर्धर्माधर्मौ। रागद्वेष-मोहा दोषाः। राग इच्छा। द्वेषो मन्युः। मोहः शरीरादावात्मत्वभ्रमः। प्रेत्यभावो मरणम्। फलं भोगः। अपवर्गो मोक्षः। स च स्वसमानाधिकरण-दुखप्रागभावा-समानकालीनो दुःखध्वंसः। प्रयोजनं सुखं दुःखहानिश्च। दृष्टान्तो महानसादिः। प्रामाणिकत्वेनाभ्यु-पगतार्थः सिद्धांतः। निर्णयो निश्चयः, स च प्रमाण-फलम्। तत्त्व-बुभुत्सोः कथावादैः। उभयसाधनवर्ती विजगीषुकथा जल्पः। स्वपक्षस्थापना-हीना वितण्डा। कथा नाम नाना-प्रवक्तृकः पूर्वोत्तरपक्षप्रतिवादकवाक्य-संदर्भः।

अनुवाद

जब कि 'प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धांतावयव-तर्क निर्णय वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निः श्रेयासाधिगमः' इस सूत्र के द्वारा न्यायशास्त्र में सोलह पदार्थ कहे गये हैं तब पदार्थों को सात ही कैसे माना जाय? इस शंका के निराकरणार्थ—कहा गया है—'सर्वेषां पदार्थानां' इत्यादि। अर्थ यह है कि सबका अंतर्भाव सात में ही हो जाता है। आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग ये बारह प्रमेय हैं। प्रवृत्ति शब्द का अर्थ है धर्म और अधर्म। राग द्वेष और मोह ये तीन हैं दोष। राग है इच्छा और द्वेष है क्रोध। शरीर आदि में होने वाला आत्मत्व का भ्रम है मोह। प्रेत्यभाव है मरण। फल है भोग। अपवर्ग है मोक्ष। वह दुख-ध्वंस होता है मोक्ष जो कि अपने साथ एक आधार में होने वाले दुःखप्रागभाव का असमान कालिक होता है। सुख और दुखों का नाश ये दोनों हैं प्रयोजन। महानस आदि हैं दृष्टांत। प्रामाणिक रूप में स्वीकृत होने वाला होता है सिद्धांत। वह निश्चय कहलाता है निर्णय जो कि प्रमाण का फल होता है। दो यथार्थ ज्ञानार्थियों की पारस्परिक कथा है वाद। दो विजयार्थी व्यक्तियों की वह कथा कहलाती है जल्प जिसमें दोनों ओर से अपने-अपने पक्षों की स्थापना की जाती है। अपने पक्ष की स्थापना से रहित कथा होती है वितण्डा। एकाधिक वक्ता द्वारा पूर्वपक्ष तथा उत्तर पक्ष के प्रतिपादक रूप में उपन्यस्त वाक्यसमुदाय ही कहलाता है 'कथा'।

विवरण

न्याय-दर्शन के प्रणेता महर्षि अक्षपाद-गौतम ने प्रथम सूत्र के द्वारा पदार्थों

की संख्या सोलह बतलायी है। ऐसी परिस्थिति में न्याय और वैशेषिक दोनों दर्शन का आदर कर तर्कसंग्रह के निर्माता अन्न भट्ट के समक्ष यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि मान्य पदार्थों की संख्या यहां सात ही कैसे बतलायी गयी है ? अतः उसका उत्तर उन्होंने यह दिया है कि न्याय-दर्शन में वर्णित प्रमाण प्रमेय आदि पदार्थों का यतः द्रव्य आदि सात में ही अंतर्भाव भलीभांति हो जाता है अतः उक्त शंका स्थिर रह नहीं पाती। दीपिका में भी यही बात बतलायी गयी है। विशद रूप में सात के अंदर सोलह का अंतर्भाव यों समझना चाहिए कि न्याय-मत में जिन प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और शब्द इन चारों को प्रमाण माना जाता है, उनके अन्दर प्रत्यक्ष शब्द से इंद्रियों को लेने पर उनका अंतर्भाव भलीभांति प्रथम पदार्थ द्रव्य में ही इसलिए हो जाता है कि यथावसर किये गये विवेचन के अनुसार आंख कान आदि सारी इंद्रियां भौतिक ही हैं, और पृथ्वी जल तेज वायु तथा आकाश ये पांचों भूत, द्रव्य ही हैं, तदतिरिक्त नहीं। यदि इंद्रियों को प्रत्यक्ष-प्रमाण न मान कर विषय के साथ होने वाले इंद्रियों के सन्निकर्षों को प्रत्यक्ष-प्रमाण माना जाय, फिर भी उसके अतिरिक्त पदार्थ होने की शंका इसलिए नहीं उठायी जा सकती कि ग्राह्य विषयों के साथ होने वाला आंख आदि इंद्रियों का सन्निकर्ष संयोग स्वरूप होने पर द्वितीय पदार्थ रूप से स्वीकृत गुण के अंदर आ जाता है। क्योंकि संयोग भी गिनाये गये रूप रस आदि चौबिस गुणों के अन्दर ही आ जाता है। जहां इंद्रियसन्निकर्ष समवाय स्वरूप होता है वहां भी अतिरिक्त होने की आशंका इसलिए नहीं रह पाती है, कि समवाय उक्त द्रव्य आदि सात के अन्दर ही छठा पदार्थ माना गया है। अभाव की ग्राह्यता के स्थलों में संयोग और समवाय को सन्निकर्षता न होने पर भी वहां सन्निकर्षरूप से मान्य विशेष्यविशेषणभाव फलतः विशेष्य या विशेषण-रूप ही होने के कारण उक्त शंका नहीं पनप पाती। क्योंकि वह विशेष्य या विशेषण नियमतः उक्त द्रव्य आदि सात पदार्थों के अन्दर ही समाविष्ट हो जाता है, अतिरिक्त हो पाता नहीं। जैसे भूमि पर यदि घटाभाव का प्रत्यक्ष किया जाता है तो सन्निकर्ष होने वाली इंद्रियसंयुक्त-विशेषणता फलतः विशेषणभूत अभाव ही होती है, और अभाव द्रव्य आदि सात पदार्थों के अंदर ही सातवां पदार्थ है। यदि 'भूमि पर घटाभाव है' इस प्रकार प्रत्यक्ष किया जाता है तब ग्राह्य अभाव विशेष्य बन जाता है इसलिए सन्निकर्षभूत इंद्रिय-संयुक्त-विशेष्यता फलतः विशेष्यरूप होने के कारण अभाव बन जाती है अतः सन्निकर्ष भूत प्रत्यक्ष प्रमाण को अतिरिक्त पदार्थ नहीं माना जा पाता।

प्रत्यक्ष से अतिरिक्त मान्य होने वाले अनुमान प्रमाण उपमान प्रमाण और शब्द प्रमाण ये तीनों ही क्रमशः व्याप्ति-ज्ञान सादृश्य-ज्ञान और पद-ज्ञान स्वरूप

होने के कारण ज्ञान गुण के अंदर ही समाविष्ट हो जाते हैं। अतः सोलह पदार्थों के अन्दर प्रथम पदार्थ रूप में कथित प्रमाण पदार्थ को द्रव्यादि सप्त पदार्थ-वाह्य होने की शंका नहीं उठायी जा सकती है। प्रमाण के बाद नम्बर आता है द्वितीय पदार्थ रूप में प्रमेय का वह क्यों नहीं अतिरिक्त मान्य है? इस बश्न के निराकरण के लिए ही दीपिकाकार ने गौतमोक्त प्रमेयों की चर्चा की है। अभिप्राय यह है कि यों तो प्रमात्मक यथार्थ ज्ञान के विषय होने के कारण संसार के सारे पदार्थ प्रमेय कहलाने के अधिकारी हैं परंतु प्रकृष्ट रूप से अर्थात् विशेष रूप में 'मेय' अर्थात् ज्ञातव्य होने के कारण अक्षपाद गौतम के सिद्धांत में आत्मा, शरीर, इंद्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग ये बारह ही प्रमेय कहलाते हैं। इन बारह प्रमेयों के अन्दर भी कोई ऐसा नहीं बतलाया जा सकता जो कि यहां उक्त द्रव्य गुण आदि सात पदार्थों के अंदर ही न समाविष्ट हो जाता है। क्योंकि आत्मा, पृथिवी आदि नौ द्रव्यों के अंदर ही अष्टम द्रव्य के रूप में गिनाया गया है। योनिज या अयोनिज कोई भी शरीर क्यों न लिया जाय वह पार्थिव, जलीय, तैजस, और वायवीय इनके अंदर ही कोई एक होने के कारण उसे भी द्रव्य आदि सात पदार्थों के बाहर नहीं ले जाया जा सकता।

प्रत्यक्ष रूप में मान्य इंद्रियां भौतिक होने के कारण सप्तपदार्थ-बाह्य नहीं, यह बात अभी बतलायी जा चुकी है। न्याय मत में रूप रस गंध स्पर्श और शब्द इन पांच भौतिक विषयगत गुणों को अर्थ शब्द से कहा गया है। ये सभी स्पष्ट रूप में गुण के प्रभेद बतलाये गये हैं अतः अर्थ को लेकर भी सप्त पदार्थ बाह्य वस्तु की शंका नहीं उठायी जा सकती। यदि अर्थित होने वाले गुणाश्रय वस्तुओं को अर्थ कहा जाय तो वे भी द्रव्य के अन्दर ही आ जाते हैं। यदि अर्थित होने वाली दुख-निवृत्ति या उसके लिए अपेक्षित होने वाली क्रिया को अर्थ कहा जाय तब भी उक्त शंका नहीं उठायी जा सकती है। क्योंकि अभाव सातवां और कर्म तीसरा पदार्थ माना गया है। अतः अर्थ शब्द के किसी भी अर्थ को लेकर सातसे अतिरिक्त पदार्थ की मान्यता की शंका नहीं उठायी जा सकती। बुद्धि शब्द का अर्थ न्याय-सिद्धांत में है बोध अर्थात् ज्ञान, वह भी चौबिस गुणों के अंदर एक प्रकार का गुण है अतः गुण में ही अंतर्भुक्त है। मन द्रव्यों के अंदर ही नवम् द्रव्य रूप में परिगणित है। प्रवृत्ति को धर्म और अधर्म कह कर, दोषों को इच्छात्मक राग, क्रोधात्मक द्वेष, और शरीर इंद्रिय आदि अजातयवस्तुओं में होने वाले आत्मत्वविभ्रमात्मक ज्ञान को मोह बतलाकर दीपिकाकार ने प्रवृत्ति और दोष को द्रव्यादि सात पदार्थों के अंदर ही अंतर्भुक्त बतलाया है। प्रत्यभाव का अर्थ यदि मरण माना जाय जैसा कि दीपिका में

बतलाया गया है तो उसे अवश्य शरीर-प्राण-वियोग मानना होगा। और वह वियोग होगा, या तो विभाग रूप, या संयोग-विनाश स्वरूप। दोनों ही पक्षों में वह द्रव्य आदि सात पदार्थों के ही अंदर आ जायेगा क्योंकि विभाग है गुण और विनाश है अभाव। यदि 'प्रेत्यमृत्वाभावो जननम्—प्रेत्यभावः' इस व्याख्या के अनुसार पुनर्जन्म को प्रेत्यभाव माना जायेगा तब भी द्रव्यादि-पदार्थ-बाह्य वह इसलिए नहीं हो पायेगा कि शरीर और प्राणों का प्रथम संयोग ही होगा जन्म और संयोग भी एक गुण ही है। फल है भोग अर्थात् सुख एवं दुःख का मानस साक्षात्कार, जो कि प्रत्यक्षात्मक ज्ञान गुण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। दुःख एक प्रकार का गुण ही है। अपवर्ग है मोक्ष जिसे आत्यंतिक दुखनिवृत्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता, और निवृत्ति है ध्वंसात्मक अभाव। अतः अपवर्ग भी अभावात्मक सातवें पदार्थ में ही अंतभुक्त हो जाता है। सुतरां किसी प्रमेय को अतिरिक्त बतलाकर किये गये पदार्थविभाजन का व्याघात नहीं बतलाया जा सकता। दुःख के ध्वंस मात्र को मोक्ष मानने पर बद्ध संसारी जीव भी मुक्त कहलाने लगेगा। क्योंकि मैं दुःखी हूँ इस प्रकार होने वाले दुःख के मानस साक्षात्कार से प्रत्येक जीव का प्रत्येक दुःख नष्ट होता ही रहता है, इसलिए दुःख-ध्वंस को मोक्ष होने के लिए आत्यंतिकता की भी अपेक्षा माननी ही होगी। आत्यंतिक दुःख-ध्वंस को मोक्ष मानने पर वह आपत्ति इसलिए हट जायेगी, कि दुःख-ध्वंस में आत्यंतिकता होगी दुःखप्रागभावासमानकालीनता, अर्थात् दुःख के प्रभागभाव का समानकालीन न होना।

ऐसा दुःख-ध्वंस मुक्त व्यक्ति को ही होता है जो कि दुःख प्रभागभाव का समकालिक नहीं। क्योंकि मुक्त व्यक्ति को पीछे कोई दुःख तो होने वाला रहता नहीं, जिसका प्रागभाव उस दुःख-ध्वंस के काल में रह पायेगा ? और बद्ध संसारी जीव को तो पूर्व दुःखों का ध्वंस होने पर भी आगामी दुःखों का प्रागभाव भी बना ही रहता है, अतः संसारी जीवों का दुःख-ध्वंस नियमतः दुःख-प्रागभाव का समानकालिक ही होता है, वह मुक्त व्यक्तिगत दुःख-ध्वंस के समान दुःखप्रागभावासमानकालीन नहीं।

परन्तु ऐसा कहने पर एक बड़ी अनुपपत्ति यह उपस्थित हो उठेगी कि मुक्त भी मुक्त नहीं कहला पायेंगे। क्योंकि उनके दुःख-ध्वंस के काल में उनके दुःख का प्रागभाव भले ही उनमें न रह पाये, किन्तु अन्य बद्ध जीवों के दुःखों का प्रागभाव तो उस काल में विद्यमान रहता ही है। कहने का तात्पर्य यह कि आत्मास्वरूप आधार भले ही अन्य हो किंतु कालात्मक आधार तो एक ही रहता है। अतः मोक्षात्मक दुःख-ध्वंस में विशेषण रूप से विवक्षित होने वाली 'दुःखप्रागभावा-समानकालीनता' के अन्तर्गत दुःख प्रागभाव में दुःख-ध्वंस समानताधिकारण्य

विशेषण देकर ऐसा कहना होगा कि 'मोक्षरूप से विवक्षित दुःखध्वंस के आधार में रहने वाले दुःखप्रागभावका असमानकालीन दुःख-ध्वंस है मोक्ष।' ऐसा कहने पर उक्त अनुपपत्ति इसलिए वारित हो जाती है कि अन्य बद्ध व्यक्तिगत दुःखप्रागभाव में मोक्षरूप से विवक्षित दुःख-ध्वंस का समानाधिकरण्य रहता नहीं। मोक्षात्मक दुःख-ध्वंस के आधारभूत मुक्त व्यक्ति में दुख-प्रागभाव रहता नहीं। इन्हीं सारी बातों को ध्यान में रखते हुए दीपिका में मोक्ष का स्वरूप-वर्णन इस प्रकार किया गया है कि सच 'स्वमानाधिकरण-दुःखप्रागभावा-समानकालीनो दुःख-ध्वंस।' यहां 'स्व' पद से मुक्त्यात्मक दुःख-ध्वंस को लेकर उसका समानाधिकरण अर्थात् उस दुःख-ध्वंस के आधारभूत मुक्त आत्मा में ही विद्यमान जो दुःख-प्रागभाव, उस प्रागभाव का असमानकालीन जो दुःख-ध्वंस वही है मोक्ष। ऐसा दुःख-ध्वंस पद से उक्त विवेचन के अनुसार मुक्त व्यक्तिगत दुःख ध्वंस ही होता है बद्ध संसारी-व्यक्तिगत दुःख-ध्वंस नहीं।

इसलिए अनुपपत्ति एवं आपत्ति अर्थात् अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोनों का निराकरण हो जाने के कारण दीपिका में उक्त मोक्षलक्षण सर्वथा सही है। इस प्रकार विचार के अनंतर यह सुस्पष्ट है कि प्रमाण या प्रमेय को लेकर द्रव्य आदि सात से अतिरिक्त पदार्थ के अस्तित्व की शंका नहीं उठती। न्यायोक्त सोलह पदार्थों के अन्दर तीसरा संशय, ज्ञान होने के कारण गुण में गतार्थ है। यह पूर्व-सिद्ध तथा सर्वविदित होने के कारण दीपिका में यहाँ पुनः संशय की व्याख्या नहीं की गयी। प्रयोजन को सुख या दुख की हानि कहकर यह बतलाया गया है कि सुख गुण है और दुख की हानि उसका अभाव। अतः प्रयोजन को लेकर भी उक्त प्रकार शंका नहीं उठायी जा सकती। इसी प्रकार महानस आदि को दृष्टांत कहकर यह बतलाया गया है कि किसी भी अनुमानस्थल में दृष्टान्त रूप से उपस्थापित होने वाला कोई भी द्रव्य आदि सात पदार्थों के अंतर्गत ही कोई एक होगा। सिद्धांत के संबंध में भी इसी प्रकार समझना चाहिए। क्योंकि प्रामाणिक रूप से स्वीकृत होने वाली वस्तुएँ ही जब हैं सिद्धांत तब वे वस्तुएँ द्रव्य गुण आदि किसी न किसी पदार्थ के अंदर ही नियमतः समाविष्ट होंगी। अवयव और तर्क का विवेचन पहले हो चुका है। उसके अनुसार उन्हें लेकर अतिरिक्त पदार्थ की शंका इसलिए नहीं उठायी जा सकती कि प्रतिज्ञा हेतु आदि न्यायावयव वाक्यात्मक होने के कारण शब्द-गुण के अंदर आ जाते हैं और तर्क ऊहात्मक होने के कारण आत्मगुण-ज्ञान के अंदर आ जाता है। इसीलिए दीपिका में यहां अवयव और तर्क के बारे में नहीं कुछ कहा गया। निर्णय है निश्चय, वह भी संशय की तरह ज्ञान-गुण के अंदर समाविष्ट हो जाता है। वाद जल्प और वितण्डा ये तीनों ही हैं कथा अर्थात् विवादात्मक उक्ति प्रत्युक्ति

स्वरूप हैं अतः इन्हें लेकर भी पदार्थ में अतिरिक्तता की शंका नहीं उठायी जा सकती। क्योंकि उक्ति प्रत्युक्ति या तो वाक्य स्वरूप मानना होगा अथवा उच्चारण स्वरूप। दोनों ही पक्षों में उक्ति प्रत्युक्ति गुण के अंदर आ जाती है। क्योंकि वाक्य शब्द है और उसका उच्चारण कण्ठ तालु आदि के साथ कौष्ठ्यवायु का अभिघातात्मक संयोग। शब्द और संयोग ये दोनों ही गुण हैं यह निर्विवाद है। वाद जल्प और वितण्डा ये तीनों यद्यपि कथा हैं परंतु आपसी अंतर इनमें यह है कि वाद-स्थल में दोनों ही तत्त्व बभुत्सु होते हैं निर्णय मात्र के इच्छुक होते हैं। जल्प कथा-स्थल में ऐसी बात होती नहीं, वहां के उक्ति-प्रत्युक्तिकारी पारस्परिक स्पर्द्धा के कारण विजगीषु अर्थात् एक दूसरे को जीतने के इच्छुक हुआ करते हैं। विजगीषा यद्यपि वितण्डा कथा स्थल में भी उक्ति-प्रत्युक्ति-कारी को होती परंतु जल्प से वितण्डा में विशेषता यह होती है कि जल्प-स्थल में जिस प्रकार दोनों ही उक्ति एवं प्रत्युक्ति-कारी पंचायवयव द्वारा अपने अपने पक्षों का उपन्यास करते हैं वितण्डास्थल में वैसा होता नहीं। वहाँ पंचावयव के द्वारा अपने पक्ष का उपन्यास एक ही व्यक्ति करता है दूसरा केवल उसका खण्डन करता है। पंचायवयव के द्वारा अपने मंतव्य का उपस्थापन करता नहीं।

दीपिका

अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्यार्थान्तरं प्रकल्पदूषणं छलम्। असदुत्तरं जातिः। साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्मवर्ण्यावर्ण्य विकल्प-साध्याप्राप्त्यप्राप्ति-प्रसंगप्रतिदृष्टांतानुत्पत्तिसंशयप्रकरण-हेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुप-लब्धिनित्यानित्यकार्यसमा जातयः। वादिनोऽपजय-हेतुर्निग्रहस्थानम्। प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वंतरमर्थांतरं निरर्थकमविज्ञातार्थकमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषण-मज्ञानमज्ञानमप्रतिमा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानु-योगोऽपसिद्धांतो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि शेषं सुगमम्।

अनुवाद

एक अभिप्राय से उक्त वाक्यों का अभिप्रायांतर-कल्पनामूलक खण्डन कहलाता है छल। असमीचीन उत्तर है जाति। साधर्म्य-समा, वैधर्म्य-समा, उत्कर्ष-समा, अपकर्ष-समा, वर्ण्य-समा, अवर्ण्य-समा, विकल्प-समा, साध्य-समा, प्राप्ति-समा, अप्राप्ति-समा, प्रसंग-समा, प्रतिदृष्टांत-समा, अनुत्पत्ति-समा, संशय-समा, प्रकरण-समा, हेतु-समा, अर्थापत्ति-समा, अविशेष-समा, उपपत्ति-समा, उपलब्धि-समा, अनुपलब्धि-समा, नित्यसमा, अनित्यसमा, और कार्य-समा, ये हैं जातियाँ। वादी

के पराजय का हेतु कहलाता है निग्रह-स्थान। प्रतिज्ञाहानि प्रतिज्ञांतर प्रतिज्ञा-विरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वंतर, अर्थांतर, निरर्थक, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून अधिक पुनरुक्त अननुभाषण, अज्ञान, अ१तिमा, विक्षेप, मतानुज्ञा पर्यमुयोज्यपेक्षण निरनुयोज्यानुयोग अपसिद्धांत और हेत्वाभास ये हैं निग्रहस्थान।

विवरण

अभिप्राय भेद से एक वाक्य के अनेक अर्थ हुआ ही करते हैं। ऐसी परिस्थिति में वक्ता जिस अभिप्राय से वाक्य का प्रयोग करता है, श्रोता यदि ज्ञानपूर्वक उससे अन्य अभिप्राय का आश्रयण करके वाक्य का खण्डन करता है तो वह खण्डन कहलाता है छल। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि वक्ता यदि किसी व्यक्ति को इस अभिप्राय से "नवकम्बलवान्" कहता है कि यह व्यक्ति नवीन कम्बलधारी है किंतु दूसरा कोई उसका यह कहकर प्रतिवाद करता है कि 'इस व्यक्ति के पास तो एक ही कम्बल है नौ कम्बल तो है नहीं, फिर कैसे इसे 'नव कम्बलवान्' कह रहे हो। तो प्रतिवक्ता का प्रतिवाद छल होता है। यहाँ 'नव' इसके अर्थ नवीन और नौ-संख्यक दोनों ही होते हैं। वक्ता नवीन अर्थ के अभिप्राय से उसका प्रयोग करता है। प्रतिवक्ता उस अभिप्राय को समझते हुए भी अन्य नौ-संख्यक अर्थ के अभिप्राय को वक्ता पर अपनी ओर से थोप कर उसका खण्डन करता है। इसी प्रकार ऐसे अन्य वाक्य-प्रयोग स्थलों में भी समझना चाहिए। खण्डनात्मक यह छल, प्रयुक्त वाक्यस्वरूप होने के कारण शब्द गुण में अंतर्भुक्त हो जाता है इसलिए इसे लेकर भी प्रकृत पदार्थ-विभाजन में व्याघात नहीं पहुँचाया जा सकता है।

जाति शब्द के अर्थ दो हैं एक 'सामान्य' और दूसरा 'असमीचीन उत्तर'। सामान्य का विवेचन 'नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्' इत्यादि के द्वारा पहले हो आया है। यहाँ उसे जातिपद से नहीं लेना है। अतः 'असमीचीन उत्तर अर्थ में ही यहाँ जाति शब्द का प्रयोग हुआ समझना चाहिए इसी अभिप्राय को दीपिका में 'असदुत्तरं जातिः' यह कहकर स्पष्ट किया गया है। इसके प्रभेदों के उल्लेख के समय 'साधर्म्य-समा, वैधर्म्यसमा आदि आकारांत शब्दों का प्रयोग भी होता हुआ पाया जाता है। इस प्रकार होने वाले प्रयोग-वैविध्य का रहस्य यह समझना चाहिए कि स्त्रीलिंग जाति शब्द को विशेष्य वाची रख कर प्रयोग करने पर 'साधर्म्यसमा जाति' 'वैधर्म्यसमा जाति' इस प्रकार वाक्य-प्रयोग उचित होने के कारण आकारांत साधर्म्य-समा आदि प्रयोग होता है और 'जायमानः प्रसंगो जातिः' इस व्याख्या के अनुसार जाति शब्द के पर्यायभूत प्रसंग को विशेष्यवाची रख कर 'साधर्म्यसमः प्रसंगः' यह प्रयोग उचित होने के कारण 'साधर्म्य सम' आदि अकारांत शब्द का प्रयोग भी औचित्य रखता है।

'नित्यानित्य कार्यसमा जातयः' यह सोत्र प्रयोग उक्त दोनों प्रयोगों के अंदर किसी एक ही प्रयोग का निर्णायक इसलिए नहीं हो पाता है कि सम और समा दोनों ही शब्दों का प्रथमा बहुवचनांत प्रयोग 'समाः' इस तरह एकविध ही होता है। असत् उत्तर नियमतः प्रतिषेधात्मक होता है इसलिए साधर्म्यमूलक प्रतिरोध को साधर्म्यसम या साधर्म्यसमा वैधर्म्यमूलक प्रतिषेध को वैधर्म्य-सम या वैधर्म्य समा समझना चाहिए। इसी प्रतिषेध के अर्थ में जगह जगह प्रत्यवस्थान शब्द का भी प्रयोग हुआ पाया जाता है। प्रत्यवस्थान का अर्थ होता है दूषणाभिधान। फलतः साधर्म्यमूलक दूषणाभिधान को साधर्म्यसमा और वैधर्म्य-मूलक दूषणाभिधान को वैधर्म्य-समा समझना चाहिए। इसी प्रकार उत्कर्षमूलक दूषणाभिधान को उत्कर्षसमा, अपकर्षमूलक दूषणाभिधान को अपकर्ष-समा आदि भी समझना चाहिए।

फलतः सारी जातियां अभिधान रूप हो जाने के कारण शब्द गुण में याशब्द-प्रयोगात्मक उच्चरण रूप होने के कारण संयोग-गुण में अंतर्भुक्त हो जायेंगी। अतः असदुत्तरात्मक जाति को लेकर भी पदार्थ विभाजन में बाधा नहीं पहुंचायी जा सकती। उदाहरण के द्वारा साधर्म्य समा को यों समझना चाहिए कि जहां कोई वक्ता 'पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि धूमवान् है, जो धूमवान् होता है वह्निमान भी होता है जैसा कि रसोईं घर। यह पर्वत भी रसोईं घर की तरह धूमवान् है, अतः यह पर्वत भी वह्निमान है' इस प्रकार पंचावयव वाक्यात्मक न्याय का प्रयोग करके पर्वत अग्निमान् है यह निर्णय औरों को कराना चाहता है। यदि कोई अन्य व्यक्ति प्रतिवक्ता के रूप में उपस्थित होकर यह कहता है कि 'रसोईं घर जिस प्रकार धूमपान् है पर्वत भी उसी प्रकार धूमवान् है अतः पर्वत को रसोईं घर के समान वह्निवान भी होना ही चाहिए' इस तरह कथन का अभिप्रत अर्थ यही होता है कि वह्निमान रसोई घर का साधर्म्य (धूम-युक्तता) पर्वत में होने के कारण पर्वत भी वह्निमान है। परंतु यह तेरा कथन इसलिए सही नहीं माना जा सकता कि पर्वत में वह्निमान-रसोई घर का जिस प्रकार साधर्म्य (धूम-युक्तता) है उसी प्रकार आग्नभाव-युक्त जलाशय का साधर्म्य (द्रव्यत्व, रूपत्व, दृश्यत्व आदि) भी तो विद्यमान है ? ऐसी परिस्थिति में रसोईं घर का साधर्म्य होने के कारण यदि पर्वत में आग मानी जाय तो अग्नि के अभाव से युक्त जलाशय का साधर्म्य होने के कारण पर्वत में अग्नि के विपरीत अग्नि का अभाव ही क्यों न माना जाय ? क्योंकि पर्वत में वह्निमान् के साधर्म्य के समान वह्नि-भाववान् का भी साधर्म्य पाया जाता ही है।

ऐसी परिस्थिति में कोई निर्णायक तो है नहीं कि अग्निमान के साधर्म्य से

पर्वत अग्निमान ही हो अग्न्यभाववान् के साधर्म्य से अग्नि का अभाववान न हो ? अतः रसोई घर की तुल्यता के आधार पर पर्वत में अग्नि का निर्णय करना ठीक नहीं जैसा कि तुम पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है इत्यादि वाक्य-प्रयोग द्वारा करना चाहते हो। इस प्रकार के प्रतिवादात्मक कथन को साधर्म्य समा समझना चाहिए। यह प्रतिवाद असमीचीन अर्थात् अनुचित इसलिए है कि यहां प्रतिवक्ता वक्ता के अभिप्राय को सही रूप में समझता नहीं। वक्ता केवल रसोई घर का साधर्म्य दिखलाकर ही तो पर्वत में अग्नि का निर्णय नहीं करता या कराता है। वैसा निर्णय तो वह हेतुभूत-धूम में होने वाली अग्नि की अविभावात्मक व्याप्ति तथा हेतुभूत-धूम पर्वत में अस्तित्व स्वरूप पक्षधर्मता इन दोनों के बल से करता या कराता है। क्योंकि व्याप्य जहां रहता है व्यापक वहां अवश्य रहता है। परन्तु प्रतिवक्ता इस बात को बिल्कुल नहीं समझता हुआ प्रतिवाद करता है। ऐसी परिस्थिति में वादी की बुद्धि यदि स्फूर्ति-शील हो तो वह अनायास प्रतिवादी को भरी सभा में उसके इस अज्ञान का भण्डाफोड़ करके उलटे उसे 'अज्ञान' नामक विग्रह-स्थान से निगृहीत घोषित कराकर विजय प्राप्त कर सकता है।

इसी दृष्टिकोण से कहीं-कहीं जाति का लक्षण यह बतलाया गया है कि 'स्वव्याघातकमुत्तरं जातिः।' इस कथन का अभिप्राय यह है कि अखाड़े के अंदर जैसे अक्सर एक मल्ल दूसरे को पछाड़ने के लिए चलाये हुए दांवपेंच से स्वयं चित्त हो जाता है प्रतिमल्ल की स्फूर्ति युक्ति चुस्ती से उसी प्रकार जाति-प्रयोगस्थल में भी जाति-वादी दूसरे वादी की स्फूर्ति के कारण अपने ही द्वारा चलाये गये प्रहार से आहत हो उठता हैं। जैसा अभी बतलाया गया है कि ऐसे प्रतिवादी को बुद्धिमान् वादी अज्ञान-नामक निग्रह-स्थान से निगृहीत करा सकता है। एतदतिरिक्त यहां प्रतिवादी को इस प्रकार भी स्वव्याहत बनाया जा सकता है कि उक्त उदाहरण-स्थल में प्रतिवादी यदि साधर्म्य को ही सिद्धि का मूल मानकर जलाशय का साधर्म्य दिखलाकर पर्वत में अग्नि का अभाव बतलाता है तो महानस (रसोई घर) का साधर्म्य भी पर्वत में होने के कारण अग्निमत्ता भी तो उसके लिए पर्वत में मान्य हो उठती है जिसके निराकरण के लिए वह जलाशय का साधर्म्य दिखलाकर अग्नि का अभाव उसमें सिद्ध करना चाहता है ? किसी भी प्रकार से पर्वत में अग्नि का अस्तित्व मान्य हो जाने पर अग्नि विरोधी अग्नि का अभाव तो वहां स्वतः व्याहत हो उठता है। यदि बुद्धिमान वादी भरी सभा में इसी प्रकार उसे बतलाये, तो जाति-वादी मतानुज्ञा नामक निग्रह-स्थान से निगृहीत हो उठेगा। क्योंकि अपने विपक्षी की बात मान लेना ही होती है मतानुज्ञा।

वैधर्म्य-समा

वैधर्म्य समा जाति वहां होती है जहां प्रतिवक्ता वैधर्म्य को लेकर वक्ता का प्रतिवाद करता है। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि वक्ता के द्वारा उक्त प्रकार पर्वत में अग्नि का स्थापक पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है इत्यादि रूप से पंचावयव वाक्य के उपस्थित करने पर यदि प्रतिवक्ता यह कहकर उसका खण्डन करे कि 'पर्वत में रसोईं घर का वैधर्म्य पर्वतत्व भी तो उसमें है? यदि रसोईं घर के साधर्म्य के कारण पर्वत में अग्नि की सिद्धि हो तो साधर्म्य के विपरीत उसके वैधर्म्य होने के कारण अग्नि के विपरीत अग्नि का अभाव क्यों न पर्वत में सिद्ध हो?' तो इस प्रकार किया जाने वाला प्रतिवाद होगा वैधर्म्य-समा। क्योंकि यह प्रतिवाद वैधर्म्य दिखलाकर किया जाता है।

यहां यह ध्यान रखने की बात है कि साधर्म्य-समा या वैधर्म्य-समा नामकरण को स्थापनानुमानगत साधर्म्य-मूलकता या वैधर्म्य-मूलकता से कोई भी संबंध नहीं है। केवल प्रति-षेधगत साधर्म्य-मूलकता या वैधर्म्य-मूलकता से ही संबंध है। कहने का तात्पर्य यह कि जिसके खण्डनार्थ जात्युत्तर का प्रयोग किया जाता है वह प्रथम स्थापनानुमान अन्वय-मूलक या व्यतिरेक-मूलक जैसा भी क्यों न हो उसका खण्डन-स्वरूप जात्युत्तर यदि साधर्म्य-मूलक होगा, तो वहाँ साधर्म्य-समा कही जायेगी, और यदि वैधर्म्य-मूलक होगा तो वैधर्म्य-समा।

उत्कर्ष-समा

उत्कर्ष-समा वहां होती है जहां उस दृष्टांतगत धर्म का, जो कि पक्ष में अविद्यमान रहता है, प्रतिवक्ता द्वारा पक्ष में आपादन किया जाता है। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि वक्ता के द्वारा पर्वत अग्निमान् है, क्योंकि धूमवान् है जैसे रसोईं घर इत्यादि रूप से पर्वत में अग्नि का स्थापनानुमान उपस्थित करने पर यदि प्रतिवक्ता यह कहता कि 'यदि रसोईं घर की तरह धूमवान् होने के कारण पर्वत अग्निमान् माना जाय तो वह रसोईं घर के समान महानसत्त्व (रसोईं-गृहत्व) वान् क्यों न माना जाय? अर्थात् पर्वत रसोईं घर क्यों न हो जाय? और यदि ऐसा न हो तो वह अग्निमान् ही क्यों हो? तो प्रतिवादी के ऐसे कथन को उत्कर्ष-समा समझना चाहिए।

अपकर्ष-समा

अपकर्ष-समा वहां होती है जहां दृष्टांत में अविद्यमान किंतु पक्ष में विद्यमान धर्म के अभाव का आपादन पक्ष में प्रतिवादी के द्वारा किया जाता है। जैसे वक्ता के द्वारा पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है इत्यादि उक्त प्रकार से

पर्वत में अग्नि का स्थापक अनुमान उपस्थित करने पर यदि प्रतिवक्ता यह कहे कि 'यदि रसोई घर के समान पर्वत में धूम रहने के कारण रसोई घर की तरह पर्वत भी अग्निमान् माना जाय तो रसोई घर में न रहने वाले पर्वत्व का भी न रहना अर्थात् अभाव पर्वत में क्यों न माना जाय ?' तो प्रतिवक्ता के इस कथन को अपकर्ष-समा कहा जायेगा। क्योंकि उत्कर्ष-समा में जिस प्रकार पक्ष में अविद्यमान धर्म का आपादन करके दृष्टांत की समता का उत्कर्ष-मूलक रूप में आपादन होने के कारण उस आपादनात्मक प्रतिवाद को उत्कर्ष-समा कहा जाता है, उसी प्रकार यहां दृष्टांत में न होने के कारण पक्ष में भी तद्गत धर्म का अभाव स्वरूप अपकर्ष का आपदन करते हुए दृष्टांत की समता पक्ष में बतलायी जाती है अतः इस प्रतिवाद का नाम अपकर्ष-समा होना उचित है।

वर्ण्य-समा

वर्ण्यता का अर्थ है संदिग्ध-साध्यता, पक्ष साध्य-युक्त रूप में वर्णनीय इसीलिए होता है कि उसमें दृष्टांत की तरह साध्य का निर्णय पहले रहता नहीं, वहां विचार से पूर्व साध्य संदिग्ध रहता है अतः संदिग्ध साध्यत्व स्वरूप वर्ण्यत्व पक्ष में उस समय रहता है। उस वर्ण्यत्व का आपादन प्रतिवक्ता यदि दृष्टांत में करता है, जिसमें कि वर्ण्यत्व के विपरीत निश्चित साध्यकत्व स्वरूप अवर्ण्यत्व विद्यमान रहता है तो वहां प्रतिवक्ता का प्रतिवाद वर्ण्य-समा कहलाता है। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझना चाहिए कि उक्त पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है जैसे कि रसोई घर इत्यादि रूप से वक्ता के द्वारा अग्नि का स्थापनानुमान उपस्थित किये जाने पर यदि प्रतिवक्ता यह कहे कि 'पर्वत को रसोई घर के समान धूमवान् होने के कारण यदि वह्निमान माना जाता है अर्थात् निश्चित-साध्यक माना जा रहा है तो सादृश्य नियमतः पारस्परिक होने के कारण इसके विपरीत रसोई घर में ही पर्वतगत संदिग्ध साध्यकत्व स्वरूप वर्ण्यत्व क्यों न माना जाय ?' तो प्रतिवक्ता का यह प्रतिवाद होता है वर्ण्य-समा।

अवर्ण्य-समा

अवर्ण्यत्व है निश्चित साध्यकत्व, यह विचार द्वारा पक्ष में साध्य निश्चय होने के पूर्व पक्ष में रहता नहीं दृष्टान्त में ही रहता है। क्योंकि यदि पक्ष में भी वह होता तो पक्ष में साध्य का निश्चय पहले से ही विद्यमान रहने के कारण स्थापनानुमान का उत्थान ही न होता। यतः ऐसा होने पर स्थापनानुमान सिद्धसाधन दोष से ही दुष्ट हो जाता।

ऐसी वस्तुस्थिति में वक्ता के द्वारा 'पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है जैसे रसोई घर' इत्यादि स्थापनानुमान के उपस्थित किये जाने पर यदि प्रति-

वक्ता इस प्रकार प्रतिवाद करे कि 'धूमवान् रूप में रसोई घर की समानता दिखलाकर जैसे पर्वत में अग्नियुक्तता बतलायी जा रही है वैसे उसी धूम-युक्तता रूप समानता के आधार पर रसोई घर में विद्यमान अवर्ण्यता अर्थात् निश्चित साध्यकता पर्वत में क्यों न मानी जाय ?' तो यह प्रतिवाद होगा अवर्ण्य-समा। स्थापना-वादी वक्ता उसे स्वीकार इसलिए नहीं कर सकता कि तब उसका अनुमानोपस्थापन ही असंगत हो उठेगा।

विकल्प-समा

विकल्प का यहां अर्थ है विरुद्ध कल्प। अर्थात् विभिन्न धर्मों के बीच होने वाला व्यभिचार। फलतः एक धर्म के न रहने पर भी दूसरे धर्म का होना। इस व्यभिचार स्वरूप विकल्प को लेकर यदि प्रतिवक्ता वक्ता का प्रति-वाद करता है, तो प्रतिवाद कहलाता है विकल्प समा। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझना चाहिए कि वक्ता के द्वारा पर्वत अग्निमान् है, क्योंकि धूमवान् है इत्यादि पर्वत में अग्निसाधक अनुमान उपस्थापित होने पर, यदि प्रतिवक्ता यह कह कर उसका प्रतिवाद करे कि 'एक धर्म में अपर धर्म का व्यभिचार अर्थात् उसके बिना भी होना, देखा ही जाता है। जैसे आग में धूम का व्यभि-चार देखा ही जाता है। तपाये लोहे में धूम के न होने पर भी आग रहती है। इसी प्रकार धूम को भी आग का व्यभिचारी क्यों न माना जाय ? और ऐसा मान लेने पर यह स्थापना कैसे उचित कहला सकती है कि पर्वत अग्निमान है क्योंकि धूमवान् है ?' तो प्रतिवक्ता का यह प्रतिवाद कहलायेगा विकल्प-समा। क्योंकि यह प्रतिवाद विकल्पक की समता अर्थात् व्यभिचार पर आधारित होता है।

साध्य-समा

पक्ष में भी प्रतिवक्ता के द्वारा साध्यता का आपदन किये जाने पर प्रति-वाद कहलाता है साध्य-समा। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझना चाहिए कि वक्ता के द्वारा पर्वत अग्निवान् है क्योंकि धूमवान् है जैसे रसोई घर। इस प्रकार स्थापनानुमान उपस्थित करने पर यदि प्रतिवक्ता इस प्रकार प्रतिवाद करे कि 'अनुमिति का विषय जब कि साध्य अग्नि के समान पक्ष पर्वत भी होता है तब न्याय-प्रयोग द्वारा अग्नि की ही सिद्धि क्यों कर रहे हो ? अग्नि की तरह पर्वत की सिद्धि क्यों नहीं पंचायवयव के द्वारा करते हो ?' तो इस तरह का प्रतिवाद कहलाता है साध्य-समा।

संभव है यहां कुछ लोग यह कहें कि प्रतिवाद का यह कथन असत् क्यों माना जाय ? क्योंकि किसी भी वस्तु को प्रमाण द्वारा सिद्ध करने के लिए कहना तो कोई अपराध नहीं।

तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि—बात अगर यहां तक ही होती तो यह कहना सही था। वक्ता के द्वारा पक्ष भी साध्य की तरह सिद्ध कर दिया जाता है परंतु ऐसा तो होगा नहीं। पंचावयव द्वारा पक्ष को साध्य बना कर उसकी सिद्धि करते समय फिर इसी प्रकार उस पक्ष की सिद्धि के लिए शंका उठायी जायगी और उसकी सिद्धि करते समय फिर इस प्रकार अनवस्था चल पड़ेगी। अतः इस प्रतिवाद को समीचीन नहीं कहा जा सकता।

प्राप्ति-समा तथा अप्राप्ति-समा

प्राप्ति है संबंध और अप्राप्ति संबंध का अभाव। प्रतिवादी जब संबंध की पारस्परिकता स्वरूप समानता दिखलाकर प्रतिवाद करता है तो वह प्रतिवाद कहलाता है प्राप्ति-समा और जब अप्राप्ति स्वरूप संबंधाभाव दिखला कर प्रतिवाद करता है तो वह प्रतिवाद कहलाता है अप्राप्ति-समा। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि वादी के द्वारा पर्वत अग्निवान है क्योंकि धूमवान् है इत्यादि स्थापनानुमान उपस्थित करने पर यदि प्रतिवादी इस प्रकार प्रतिवाद करता है कि 'धूम का वह्नि के साथ संबंध अवश्य मानना होगा। अन्यथा वह धूम पर्वत में अग्नि को क्यों सिद्ध करेगा घड़े कपड़े आदि को ही क्यों न सिद्ध करेगा? धूम में अग्नि का संबंध मानने पर संबंध की द्विष्टता नियत होने के कारण धूम में अग्नि के संबंध के समान अग्नि में भी धूम का संबंध मानने पर संबंध समान होने के कारण धूम अग्नि का साधक होगा या अग्नि धूम का? इसका निर्णय असंभव है। इसलिए धूम से उक्त प्रकार अग्नि साधन उचित नहीं।' तो यह प्रतिवाद कहलायेगा प्राप्ति-समा।

यदि प्रतिवादी ऐसा प्रतिवाद न कर इस प्रकार प्रतिवाद करे कि 'कारण और कार्य एक होते नहीं, अन्यथा दोनों के बीच कार्य-कारण-भाव या साध्य-साधन-भाव भी नहीं बन पायेगा। एकता के विरुद्ध अनेकता मान लेने पर धूम और अग्नि की भिन्नता भी घट पट आदि परस्पर असंबद्ध वस्तु-गत भिन्नता जैसी ही मान्य होने के कारण धूम और अग्नि को भी घट पट आदि की तरह असंबद्ध मानना होगा। फिर असंबद्ध अग्नि का अनुमान कैसे हो सकता? क्योंकि ऐसा मानने पर घट से पट का अनुमान भी क्यों न आपन्न होगा? अतः उक्त स्थापनानुमान सही नहीं।' तो यह प्रतिवाद होगा अप्राप्ति-समा।

प्रसंग-समा और प्रति-दृष्टांत-समा

प्रतिवादी यदि दृष्टांत के साधक का अनुल्लेख बतलाकर प्रतिवाद करता है तो वह प्रतिवाद होता है प्रसंग-समा। यथा वादी के द्वारा पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है इत्यादि स्थापनानुमान के उपस्थित करने पर यदि प्रति-

वादी इस प्रकार प्रतिवाद उपस्थित करे कि 'अनेक स्थलों में जब आँख से देखी जाने वाली वस्तु भी देखे जाने के अनुरूप सही नहीं होती, तब रसोईं घर अग्निमान है ही यह कैसे माना जा सकता ? और न माने जाने पर वह दृष्टांत बन कर कैसे पर्वत में अग्नि की सिद्धि करा सकता ? अतः उक्त स्थापनानुमान सहीं नहीं' तो यह प्रतिवाद होगा प्रसंग-समा। इसका प्रसंग-समा यह नामकरण इसलिए संगत होता है क्योंकि साधक का अभाव दिखला कर दृष्टांत में भी साध्य सिद्धि का अभाव पक्ष के समान प्रसक्त किया जाता है। यहाँ भी फलतः अनवस्था आपन्न होती है अतः इसे असदुत्तरता कहते हैं।

प्रतिदृष्टांत-समा वहां होता है जहां अन्य दृष्टांत उपस्थित करके केवल उसी के बल पर प्रतिवाद किया जाता है। जैसे उक्त पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है इत्यादि वादी-कर्तृक स्थापनानुमान स्थल में, यदि प्रतिवादी इस प्रकार प्रतिवाद करता है कि 'उड़ता हुआ धूम तो अनेक काल तक आकाश में देखा जाता है परंतु वहां आग रहती नहीं। धूम तो सिगरेट पीने वालों के मुँह में भी रहता है पर आग वहाँ रहती नहीं। तदनुसार पर्वत में भी धूम रहते हुए आग नहीं रह सकती हैं,' तो यह प्रतिवाद होगा प्रति-दृष्टांत समा। क्योंकि यह प्रतिवाद दृष्टांत के समान प्रतिदृष्टांत उपस्थित करके किया जाता है।

अनुत्पत्ति-समा

सिद्धि के लिए अपेक्षित पक्ष, साध्य, हेतु एवं दृष्टांत इनके बीच किसी का या सबका अपनी-अपनी उत्पत्ति के पूर्व अभाव दिखलाकर किया जाने वाला प्रतिवाद होता है अनुत्पत्ति-समा। जैसे वादी के द्वारा 'पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है, जैसे रसोई घर' इस प्रकार स्थापनानुमान उपस्थित करने पर प्रतिवादी उसका प्रतिवाद इस प्रकार करता है कि 'पर्वत में पक्षता, अग्नि में साध्यता धूम में हेतुता और रसोईं घर में दृष्टांतता इसलिए नहीं कही जा सकती कि उनकी उत्पत्ति के पहले से उनमें पक्षता आदि का अस्तित्व संभव नहीं। पक्षता आदि कोई क्रियाशील वस्तु नहीं कि वह पीछे कहीं और जगह से आ जाय। अतः उक्त प्रकार स्थापनानुमान सही नहीं' तो यह प्रतिवाद होगा अनुत्पत्ति-समा। क्योंकि अनुत्पत्ति के कारण अनुमान के साधक अर्थात् अंगभूत पक्ष आदि का अभाव दिखलाकर प्रतिवाद किया जाता है।

संशय-समा

साधारण या असाधारण धर्म आदि किसी संशय-जनक धर्म को दिखलाकर संशय के द्वारा किया जाने वाला प्रतिवाद होता है संशय-समा। यथा वादी के द्वारा 'पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है' इत्यादि स्थापनानुमान के उपस्थित

करने पर यदि प्रतिवादी इस प्रकार प्रतिवाद करता है कि पर्वत में जब कि वह्निमान महानस और वह्न्यभाववान जलह्रद उभयसाधारण वस्तुत्व द्रव्यत्व आदि धर्म सदा विद्यमान हैं तब सदा ही पर्वत में वह्नि और वह्न्यभाव कोटिक संशय होता रहना चाहिए। अतः पर्वत अग्निमान है यह निश्चय कर लेना उचित नहीं' तो यह प्रतिवाद होगा संशय-समा।

प्रकरण-समा

जहां पक्ष में अन्वय-दृष्टांत एवं व्यतिरेक-दृष्टांत दोनों का साधर्म्य या वैधर्म्य दिखलाकर स्थापनानुमान के विरुद्ध एक और प्रतिषेधानुमान उपस्थित करके प्रतिवाद किया जाय वहां होता है प्रकरण-समा। यथा वादी के द्वारा 'पर्वत अग्निमान है क्योंकि धूमवान् है' इत्यादि स्थापनानुमान उपस्थित करने पर यदि प्रतिवादी इस प्रकार प्रतिवाद करे कि 'तुम्हारे स्थापनानुमान के विरुद्ध यह प्रतिषेधानुमान भी तो उपस्थित किया जा सकता है कि पर्वत अग्नि का अभाव वाला है क्योंकि वह द्रव्यत्व या पर्वतत्व-धर्म-युक्त है जलह्रद की तरह, अतः कुछ भी निर्णय संभव नहीं' तो यह प्रतिवाद होगा प्रकरण-समा। अव्यवहित उक्त संशय-समा से इसमें अंतर यह होगा कि यहां संशय का आपादन होगा और यहां प्रतिष्येधानुमान के उपस्थापन द्वारा आपादन होगा निर्णय के अभाव का संशय है ज्ञान, गुण और निर्णयाभाव है सप्तम अभाव पदार्थ। अतः इन दोनों को एक नहीं कहा जा सकता।

अहेतु-समा

हेतु में साध्य के त्रैकाल्य का खंडन करके किया जाने वाला प्रतिवाद होता है अहेतु-समा। यथा वादी के द्वारा 'पर्वत अग्निमान है क्योंकि धूमवान है' इत्यादि स्थापनानुमान उपस्थापित होने पर यदि प्रतिवादी इस प्रकार प्रतिवाद करता है कि 'धूम को न अग्नि का पूर्वकालवर्ती मानकर साधक कहा जा सकता, न परकालवर्ती मानकर साधक कहा जा सकता और न समकालवर्ती मानकर। पूर्वपरकालवर्ती मानकर इसलिए नहीं, कि जब उन दोनों में एक काल का भी संबंध नहीं होगा तो तब भला साध्य-साधक भाव-संबंध कैसे हो सकता? और सहभाव मानने पर कौन किसका साधक माना जाय। इसका कोई विनिगमक नहीं हो पायेगा प्रत्युत सहभावी वाम दक्षिण पशुविषाण के समान कोई किसी का साधक नहीं हो पायेगा। अतः उक्त स्थापनानुमान सही नहीं तो यह प्रतिवाद होगा अहेतु-समा।

अर्थापत्ति-समा

अर्थापत्याभास के द्वारा पक्ष में साध्याभाव की सिद्धि के लिए किया जाने

वाला प्रतिवाद कहलाता है अर्थापत्ति-समा। जैसे वादी के द्वारा 'पर्वत अग्नि-मान है क्योंकि धूमवान है, जैसे रसोईं घर' इस प्रकार स्थापनानुमान उपस्थापित होने पर यदि प्रतिवादी इस प्रकार प्रतिवाद उपस्थित करे कि 'पर्वत अग्निमान है इस कथन से, अर्थात् आपन्न, यह होता है कि पर्वत के अतिरिक्त अन्य सारे अग्न्यभाववान हैं। और ऐसा मान लेने पर रसोईं घर को भी अग्नि के अभाव से मुक्त मानना होगा, जिसका कुफल यह होगा कि उसे दृष्टांत नहीं बनाया जा पायेगा। अतः उक्त स्थापनानुमान सही नहीं' तो यह प्रतिवाद होगा अर्थापत्ति-समा।

अविशेष-समा

सभी वस्तुओं में अविशेषता के आपादन द्वारा किया जाने वाला प्रतिवाद कहलाता है अविशेष-समा। जैसे वादी के द्वारा पर्वत अग्निमान है क्योंकि धूम-वान है जैसे रसोईं घर' इस प्रकार स्थापनानुमान उपस्थित किये जाने पर यदि प्रतिवादी इस प्रकार प्रतिवाद करता है कि 'तुम्हारे स्थापनानुमान का सारांश तो यही निकलता है कि पर्वत जब कि महानस के समान धूमवान है तो अग्नि-मान भी क्यों न हो? अर्थात् दोनों के बीच विशेषता नहीं होनी चाहिए। परन्तु ऐसा मानने पर तो सर्वत्र दृष्टिगोचर होने वाली विशेषता ही संसार से लुप्त हो जायेगी। क्योंकि जिस प्रकार धूमात्मक एक धर्म पर्वत और महानस दोनों में है प्रमेयत्त्व पदार्थत्त्व आदि एक धर्म संसार में सर्वत्र विद्यमान हैं। और विशेषता लुप्त हो जाने पर पक्ष साध्य हेतु दृष्टांत आदिगत विशेषता लुप्त हो जायेगी जिसे अपना कर तुमने स्थापनानुमान उपस्थित किया है। अतः तुम्हारा कथन उचित नहीं', तो यह प्रतिवाद होगा अविशेष-समा।

उपपत्ति-समा

उपपत्ति का अर्थ यहां है प्रामाणिकता, फलतः प्रमाण। सुतरां अपने पक्ष में भी प्रमाण का अस्तित्व बतलाते हुए किया जाने वाला प्रतिवाद होता है उपपत्ति-समा। जैसे वादी के द्वारा 'पर्वत अग्निमान है क्योंकि धूमवान है' इत्यादि उक्त रूप में स्थापनानुमान उपस्थित किये जाने पर यदि प्रतिवादी इस प्रकार प्रतिवाद उपस्थित करे कि 'तेरा स्थापना पक्ष जैसे पक्ष और प्रतिपक्ष इन दोनों के अंदर अन्यतर है एक है, प्रतिपक्ष अर्थात् मेरा निषेध पक्ष भी तो उसी प्रकार पक्ष और प्रतिपक्ष इन दोनों का अन्यतर अर्थात् एक है। इसके अनुसार पक्ष प्रति-पक्षान्यतरत्व तेरे स्थापनापक्ष और प्रतिपक्ष अर्थात् मेरे निषेध पक्ष दोनों में समान रूप से विद्यमान होने के कारण तेरा पक्ष जैसे प्रामाणिक है मेरा निषेध पक्ष भी प्रामाणिक है और इस प्रकार प्रामाणिक होने के कारण मेरा निषेध पक्ष तेरे स्थापना

पक्ष को बाधा पहुँचा सकता है।' तो इस प्रकार किया जाने वाला प्रतिवाद होता है उपपत्ति-समा।

उपलब्धि-समा

प्रकृति साधन से अतिरिक्त साधन द्वारा साध्य की सिद्धि दिखला कर प्रकृत साधन को अन्यथा-सिद्ध बतलाते हुए किया जाने वाला प्रतिवाद होता है उपलब्धि-समा। जैसे वादी के 'द्वारा पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है' इस प्रकार स्थापनानुमान उपस्थापित होने पर यदि प्रतिवादी इस प्रकार प्रतिवाद करे कि 'अग्निसाध्य की सिद्धि केवल धूम हेतु से ही तो नहीं की जा सकती है प्रकाश ताप आदि अन्य हेतु भी उसके साधक उपलब्ध हैं। जो कार्य जिसके बिना भी अन्य कारण से होता हुआ उपलब्ध होता है उस कार्य के प्रति उसे साधक नहीं माना जाता अन्यथा-सिद्ध माना जाता है, व्यर्थ माना जाता है। अतः अग्निसिद्धि के लिए धूम को हेतु बना कर किया जाने वाला स्थापनानुमान सही नहीं कहा जा सकता।' तो यह प्रतिवाद होगा उपलब्धि-समा।

अनुपलब्धि-समा

अनुपलब्धि की समानता दिखला कर किया जाने वाला प्रतिवाद होता है अनुपलब्धि-समा। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझना चाहिए—वादी के द्वारा 'पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है' इत्यादि स्थापनानुमान उपस्थित करने पर यदि प्रतिवादी इस प्रकार प्रतिवाद करे कि 'तुम अपने अनुमान में दोष देखते नहीं, दोष की अनुपलब्धि के कारण उसे सही मानते हो, परंतु वह दोष की अनुपलब्धि भी तो आम, अमरूद की तरह उपलब्ध होने वाली वस्तु नहीं, अतः दोष की अनुपलब्धि के समान दोषानुपलब्धि की भी अनुपलब्धि है। इसलिए तुम्हारे स्थापनानुमान में दोष है। अनुपलभ्यमान दोषानुपलब्धि अगर रह सकती है तो अनुपलभ्यमान दोष क्यों नहीं रह सकता है? इस प्रकार दोषयुक्त सिद्ध होने वाला तेरा स्थापनानुमान सही नहीं हो सकता।' तो यह प्रतिवाद होगा अनुपलब्धि-समा।

अनित्य-सभा

सर्वत्र अनित्यता का आपादन है अनित्य-समा। जैसे वादी के द्वारा 'पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है' इत्यादि स्थापनानुमान उपस्थापित होने पर यदि प्रतिवादी इस प्रकार प्रतिवाद करे कि 'तेरा स्थापनानुमान यह बतलाता है कि जिसका जो सधर्मा हो उसका उसे तुल्य-धर्मा होना चाहिए। तभी तो तुम पर्वत को महानस का सधर्मा दिखला कर उसे महानस का तुल्य-धर्मा मानते हो, जिससे महानस-धर्म अग्नि भी पर्वत में सिद्ध हो जाता है? परन्तु ऐसा मानने

पर सारा संसार प्रमेयत्व वस्तुत्व आदि केवलान्वयी धर्म को लेकर घट का सधर्मा होने के कारण घट का तुल्य-धर्मा हो पड़ेगा। जिसका कुफल यह हो उठेगा कि सबको घट के समान अनित्य मानना पड़ेगा। जैसा कि तुम मानते नहीं। आत्मा, आकाश, परमाणु आदि अनित्य नहीं माने जाते। अतः तेरा स्थापनानुमान सही नहीं।' तो यह प्रतिवाद होगा अनित्य-समा।

नित्य-समा

नित्य-समा उस प्रतिवाद को कहते हैं जो कि सर्वत्र नित्यता का आपादन-मूलक होता है। जैसे वादी के द्वारा पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान है इत्यादि स्थापनानुमान उपस्थापित होने पर यदि प्रतिवादी इस प्रकार प्रतिवाद करे कि पर्वत में अग्नि का अस्तित्व तुम नित्य-भाव से अर्थात् सदा मानते हो या अनित्य-भाव से ? अर्थात् सदा नहीं मानते हो। सदा नहीं मानने पर पर्वत में अग्नि का अभाव भी मान्य हो उठने पर अंशतः बाध हो जायेगा। और सदा मानने पर पर्वत और वह्नि को भी नित्य मानना होगा। पक्षता और साध्यता केवलान्वयी होने के कारण फिर संसार की सभी वस्तुएं नित्य हो उठेंगी। अतः तेरा स्थापनानुमान सही नहीं।' तो यह प्रतिवाद होगा नित्य-समा।

कार्य-समा

कार्य-समा वह प्रतिवाद होता है जो प्रयत्न-कार्य की अर्थात् प्रयत्न-साध्य की विविधता को अवलंबन करके उपस्थापित होता है। जैसे वादी के द्वारा पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है इत्यादि स्थापनानुमान उपस्थापित होने पर यदि प्रतिवादी इस प्रकार प्रतिवाद करता है कि प्रयत्न सर्वत्र सफल ही नहीं होता है असफल भी होता है। अतः तेरे इस स्थापनानुमान के साध्यभूत अग्नि की सिद्धि पर्वत में नहीं भी हो सकती है। इसलिए तुम अपने स्थापनानुमान को सही नहीं कह सकते हो।' तो यह प्रतिवाद होगा कार्य-समा।

यहां यह सर्वथा ध्यान रखने की बात है कि इन जात्युत्तरों के विशद वर्णन में जो मैंने जगह-जगह पर वात्स्यायन-भाष्य, वार्तिक, वृत्ति आदि की विचार-पद्धति से कुछ हटकर व्याख्यान किया है वह सर्वथा ज्ञान-पूर्वक तथा सहेतुक किया है। संक्षेप में हेतु यह समझना चाहिए कि इन व्याख्यानों के अनुसार उनमें वर्णित उदाहरण भी संगृहीत हो जाते हैं परंतु यहां वर्णित सारे उदाहरण वहां संगृहीत नहीं हो पाते हैं।

दूसरी बात यह कि अनित्य-समा, नित्य-समा, उपलब्धि-समा, अनुपलब्धि-समा, कार्य-समा आदि अनेक जात्युत्तर, स्थल-विशेष मान के लिए रह जाते हैं जो कि बुद्धि पथ पर उतना उचित नहीं प्रतीत होता। है साथ ही इसका अर्थ उन

महामान्य व्याख्याताओं के प्रति किसी भी प्रकार से अनादर व्यक्त करना भी अभिप्रेत नहीं समझना चाहिए। क्योंकि मेरी यह उद्भावन-शक्ति भी तो उनकी पारस्परिक मल्लशाला में किये गये बुद्धि-व्यायाम का ही फल है ?

जो वादी अथवा प्रतिवादी के पराजय का कारण बनता है उसे कहते हैं निग्रहस्थान। इस निग्रहस्थान के प्रभेद हैं प्रतिज्ञा-हानि, प्रतिज्ञांतर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वंतर, अर्थांतर, निरर्थक, अविज्ञातार्थक, अपार्थक, अप्राप्त-काल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धांत और हेत्वाभाव। इनके अंदर प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय यहां दिया जा रहा है—

प्रतिज्ञा-हानि

वादी या प्रतिवादी कोई भी दूसरे के द्वारा दोषोद्भावन करने पर यदि अपने न्याय-वाक्य के अंदर किसी प्रकार का संशोधन, पक्ष, या साध्य किंवा हेतु अथवा दृष्टांत या उनके विशेषण के त्याग द्वारा करता है तो वह संशोधन को ही वादी या प्रतिवादी प्रतिज्ञा-हानि नामक निग्रह-स्थान से निगृहीत हो जाता है। उसका विपक्षी यह कहकर उसे अपने को पराजित मानने के लिए बाध्य कर सकता है कि तुमने प्रतिज्ञाहानि की है अतः तुम पराजित हो गये। यदि वह उस विपक्षी की बात को न मानते हुए आगे भी बोलना चाहेगा तो मध्यस्थ उसके पराजय की पुष्टि कर उसे बोलने से रोक देगा।

संक्षेप में उदाहरण के द्वारा इसे यों समझना चाहिए कि वादी 'पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है, जैसे महानस' इस प्रकार जब अपने विपक्षी के समक्ष अपना न्याय-वाक्य उपस्थित करता है तब अपने प्रतिवादी के द्वारा 'अरे तुम इतनी दूरी पर अवस्थित होते हुए कैसे यह कह रहे हो कि पर्वत अग्निमान् है ? हो सकता है कि पर्वत के निकट की भूमि अग्नियुक्त हो, वह नहीं।' ऐसा सुनकर यदि वह वादी यह कह बैठे कि 'हाँ पर्वत के निकट का भूभाग अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है तो अपने प्रतिज्ञा वाक्य के अंदर कथित पर्वतात्मक पक्ष के त्याग के कारण प्रतिज्ञा-हानि नामक निग्रहस्थान से निगृहीत हो जायेगा। इसी प्रकार साध्य-त्याग, हेतु-त्याग दृष्टांत-त्याग या तदंतर्गत विशेषण-त्याग के कारण भी प्रतिज्ञाहानि हो सकती है।

प्रतिज्ञांतर

वादी या प्रति.वादी अपने द्वारा उपस्थापित न्याय-वाक्य के अंदर अपने प्रतिवादी द्वारा उद्भावित दोष को हटाने के लिए यदि किसी अंश में कोई पूर्व-अप्रदत्त विशेषण देकर अपने कथन को सम्हालता है तो प्रतिज्ञांतर नामक निग्रह

स्थान से निगृहीत होता है—जैसे वादी द्वारा 'पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है' इस प्रकार न्याय-वाक्य उपस्थापित किये जाने पर प्रतिवादी के इस कथन से कि 'सारे पर्वत भला अग्निमान् कैसे हो सकते हैं ? हिमालय की हिममय गौरीशंकर-चोटी पर भला आग की संभावना भी कैसे की जा सकती ?' 'तो विचलित होकर यदि वादी पक्ष-भूत पर्वत में विंध्य-विशेषण लगाकर यह कहने लगे कि 'विंध्य पर्वत अग्निमान् है' तो पूर्व अप्रदत्त 'विंध्य' विशेषण पीछे पर्वत में लगाने के कारण वह वादी प्रतिज्ञांतर नामक निग्रह-स्थान से निगृहीत हो जाता है, पराजित हो जाता है ।

प्रतिज्ञा-विरोध

वादी या प्रतिवादी अपने पक्ष को सिद्धि के लिए उपस्थापित पंचावयव वाक्य के अंदर यदि पक्ष में साध्य-सिद्धि के प्रतिकूल हेतु-वाक्य या उदाहरण-वाक्य किंवा उपनय-वाक्य अथवा निगमन-वाक्य का समावेश करता है तो वह उसका विरुद्ध-वाक्य का समावेशन होता है प्रतिज्ञाविरोध । जैसे 'पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है जैसे महानस,' ऐसा न कहकर यदि 'पर्वत अग्निमान् है क्योंकि मलवान है' ऐसा कह दे, अथवा 'जैसे महानस' यह न कहकर 'जैसा जलाशय' ऐसा कह दें तो वह ऐसा विरुद्ध-कथन होगा प्रतिज्ञा-विरोध । जिससे वह कथन-कारी, वादी हो या प्रतिवादी निगृहीत हो जायेगा, पराजित हो जायेगा ।

प्रतिज्ञा-संन्यास

वादी या प्रतिवादी द्वारा उपस्थापित न्याय-प्रयोग में अपने विपक्षी-कर्तृक दोष प्रदर्शन के कारण यदि अपनी प्रतिज्ञा छोड़ी जाय तो वह प्रतिज्ञा त्याग होता है प्रतिज्ञा-संन्यास । जैसे वादी द्वारा 'पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है' इस प्रकार न्याय-वाक्य उपस्थापित होने पर प्रतिवादी यदि यह कहकर उसके कथन का विरोध करे कि 'चल कर देख लो पर्वत में कहीं आग नहीं है । क्यों झूठी बात बना रहे हो ?' तो प्रतिवादी के इस प्रकार के खण्डन के प्रभाव में आकर यदि वादी यह कह बैठे कि 'मैंने यह कहां कहा है कि पर्वत अग्निमान् है ?' तो इस प्रकार की जाने वाली अपनी प्रतिज्ञा का अपलाप कहलाता है प्रतिज्ञा-संन्यास । सबके समक्ष इस प्रकार अपनी कही बात को अस्वीकार करने वाले वादी या प्रतिवादी का निगृहीत होना स्वाभाविक ही है ।

हेत्वंतर

वादी या प्रतिवादी यदि पहले तो अपने न्याय प्रयोग के अंदर हेतु का प्रयोग अविशेषित भाव से करता है अर्थात् विशेषण–रहित भाव से करता है,

परंतु अपने विपक्षी द्वारा किसी प्रकार दोष दिखलाये जाने पर उस दोष की निवृत्ति के लिए पीछे विशेषण से युक्त रूप में उस हेतु को अपना डालता है, तो वह पीछे किया जाने वाला हेतुगत विशेषण स्वीकार होता है हेत्वंतर। जैसे वादी के द्वारा 'पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है' इस प्रकार न्याय-वाक्य उपस्थापित होने पर यदि विपक्षी यह कह कर प्रतिवाद करे कि धूम तो सिगरेट पीने वाले के मुंह में भी रहता है किंतु वहां आग कहां रहती है? और वादी उसके अनंतर धूमहेतु में पूर्व अनुक्त 'अविच्छिन्नमूलता' विशेषण देकर पुनः इस प्रकार न्याय-वाक्य उपस्थित करे कि 'पर्वत अग्निमान है क्यों अविच्छिन्न-मूल धूमवान् है' तो यह हेतु को अनुक्त विशेषण से विशेषित करना होता है हेत्वंतर नाम का निग्रह-स्थान। संभव है यहां कुछ लोग यह जिज्ञासा व्यक्त करें कि 'पर्वतः अग्निमान् धूमवत्वात्' ऐसा ही प्रयोग होता देखा जाता है और उसे निर्दोष माना जाता है फिर इस प्रकार उदाहरण कैसे संगत कहा जा सकता? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि वहां वादी या प्रतिवादी दोनों ही धूम का अर्थ अविच्छिन्नमूल धूम ही समझते हैं इसलिए कोई प्रश्न नहीं उठता। जहां वादी एवं प्रतिवादी पहले धूम का अर्थ केवल धूम समझ कर पीछे विशेषण दिया गया है ऐसा समझेंगे वहां दोष होगा ही।

अर्थांतर

प्रकृतोपयोगी की उपेक्षा करके असद्धेतु का कथन होता है अर्थांतर। जैसे कोई वादी यदि 'पर्वत अग्निवान् है' इतना कहकर 'क्योंकि धूमवान् हैं' यह न कह कर उसके स्थान पर पर्वत में अग्नि सिद्धि के लिए अनपेक्षित—'क्योंकि पर्वत बहुत ऊँचा होता है, उसके अंदर लोहा चाँदी आदि भी उपलब्ध होते हैं, इस प्रकार कारण-कथन किया जाय तो वह कथन होता है अर्थांतर। ऐसा कथनकारी व्यक्ति उस अनपेक्षित कथन स्वरूप अर्थांतर नामक निग्रह स्थान से निगृहीत हो जाता है।

निरर्थक

जिसका कोई भी अर्थ न हो ऐसे शब्द का प्रयोग करना है निरर्थक नाम का निग्रह स्थान। जैसे वादी के द्वारा 'पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है' इस प्रकार न्याय-वाक्य उपस्थापित होने पर उसके विरुद्ध किसी दोष का उद्भावन न कर लोगों का ध्यान और ओर बटाने के लिए प्रतिवादी क ख ग घ' इत्यादि वर्ण माला बकने लगे तो वह प्रतिवादी निरर्थक-नामक निग्रह स्थान से निगृहीत होता है।

अविज्ञातार्थ

जिसका अर्थ उस वक्ता के द्वारा उसका तीन बार उच्चारण करने पर भी प्रतिवादी एवं सभास्थ जनता समझ न पाये, वादी या प्रतिवादी का ऐसा कथन कहलाता है अविज्ञातार्थ। नहीं विज्ञान हो पाये अर्थ जिसका वह कहलाता है अविज्ञातार्थ। ऐसा कथन वादी या प्रतिवादी इस भ्रांत दृष्टिकोण से कर सकता है कि मेरे कथन का अर्थ न समझने पर मुझे लोग बड़ा विद्वान समझेंगे। ऐसी परिस्थिति अधिक तर तब प्राप्त होती है जबकि जन साधारण की भाषा में दो व्यक्तियों का प्रश्न उत्तर चलते समय एक व्यक्ति किसी विशेष शास्त्र की परिभाषा को अपना कर कहना प्रारंभ कर देता है। जैसे 'पर्वत वह्निमान् है' इस प्रकार सरल रूप में न कह कर पत्वाच्छिन्नोत्तर अत्वा-वच्छिन्नोत्तर अरत्वावच्छिन्न शिरस्कवत्वावच्छिन्नोत्तर अत्वावच्छिन्न-घटित-शब्दवाच्य, वह्निमान् है' इत्यादि रूप से कहा जाय और प्रतिवादी तथा सभास्थ-जनता नव्यन्याय की परिभाषा से अपरिचित हो, तो वहां वक्ता अविज्ञातार्थ नामक निग्रहस्थान से निगृहीत होगा। परंतु वहां यदि उस भाष्य शैली से परि-चित लोगों के बीच कथनोपकथन चलेगा तब यह निगृहस्थान वहां नहीं माना जायेगा।

अपार्थक

परस्पर में संबंध-हीन वाक्यों का प्रयोग होता है अपार्थक। कहने का तात्पर्य यह कि साथ उक्त लघु वाक्यों के बीच आकांक्षा रहने पर ही लघु वाक्य-समुदाय एक महावाक्य बन कर एक अर्थ का बोध कराता है। निराकांक्ष अनेक वाक्य आपस में मिल न पा सकने के कारण एक अर्थ के बोधक नहीं हो पाते हैं। अतः मिलित एक अर्थ समझाने के अभिप्राय से साथ उक्त होने वाले अनेक लघु वाक्य 'अपार्थक' अर्थरहित हो जाते हैं अतः उनका प्रयोग अपार्थक नामक निग्रहस्थान हो जाता है। जैसे 'मैं आया, वे गये, यह बैठा है, वह कूद रहा है' इस प्रकार का सम्मिलित लघुवाक्य-प्रयोग यदि एक अर्थ को समझाने के लिए किया जाय तो प्रयोक्ता 'अपार्थक' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत होगा।

अप्राप्त-काल

प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय और निगमन इन न्यायान्तर्गत पंचावयवों के क्रम का उल्लंघन है अप्राप्त-काल। जैसे 'पर्वत अग्निमान् है' इस प्रतिज्ञा वाक्य के अव्यवहित उत्तर में वक्तव्य 'क्योंकि धूमवान् है' इसे न बोलकर उसके स्थान में यदि 'जैसे रसोई घर' यह बोला जाय और तदनंतर 'क्योंकि धूमवान् है'

यह हेतु वाक्य प्रयोग किया जाय तो यह विपरीत क्रम से किया जाने वाला अवयव-वाक्य का प्रयोग कहलायेगा अप्राप्त-काल निग्रहस्थान जिसके कारण प्रयोक्ता निगृहीत होगा पराजित होगा। सारांश यह कि 'पर्वत अग्निमान् है जैसे रसोई घर, क्योंकि धूमवान् है' इत्यादि व्युत्क्रम अवयव प्रयोग है अप्राप्त-काल निग्रहस्थान।

न्यून

क्रमबद्ध प्रतिज्ञा हेतु आदि अवयव-पंचक का नाम है न्याय यह बात अनुमान विचार के अवसर पर पहले स्पष्ट किया जा चुका है। अतः यह सुस्पष्ट है कि प्रयोक्ता पांचों अवयवों का उच्चारण करे। ऐसी परिस्थिति में वादी या प्रतिवादी कोई भी यदि पांचों अवयवों का उल्लेख न कर चार तीन या दो मात्र अवयवों का उच्चारण करता है तो उस उच्चारण की कमी को कहा जाता है न्यून नाम का निग्रहस्थान। जैसे 'पर्वत अग्निमान् है' इतना ही कहना, तथा 'पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है' इतना ही कहना आदि है न्यून निग्रहस्थान। सम्भव है यहां कुछ लोग यह जिज्ञासा उपस्थित करें कि न्याय के ग्रंथों में प्रायः 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्' इतने का ही प्रयोग अधिकतर किया गया देखा जाता है। फिर उसे कैसे संगत माना जाय, तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि वहां उतने से ही पाठक के मन में पांचों अवयव वाक्य आ जाते हैं अतः सूचना के लिए उतने को पर्याप्त समझ कर वैसा उल्लेख किया जाता है। वादी और प्रतिवादी रूप में दो व्यक्तियों द्वारा किये जाने वाले विचार के अवसर पर पांचों अवयवों का उच्चारण आवश्यक है।

अधिक

पंचावयव के अंतर्गत किसी भी अवयव का एकाधिक होना है अधिक निग्रहस्थान। जैसे—'पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है, क्योंकि प्रकाशवान् है जैसे रसोई घर', इत्यादि रूप से किया जाने वाला अधिक अवयव प्रयोग होता है अधिक निग्रहस्थान। सारांश यह कि एक ही या एकाधिक हेतु का स्वीकार करके हेतु-वाक्य उदाहरण-वाक्य, उपनय-वाक्य या निगमन-वाक्य का एकाधिक भाव से किया जाने वाला प्रयोग है अधिक नाम का निग्रहस्थान। सम्भव है यहाँ कुछ लोग यह जिज्ञासा व्यक्त करें कि 'पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है और प्रकाशवान् है' इस द्विहेतुक प्रयोग को क्यों अनुचित माना जाय? क्योंकि दो हेतुओं के प्रयोग से तो प्रतिज्ञा की और अधिक पुष्टि होती है। इसमें भला क्या बुराई है कि इसे अधिक नामक निग्रहस्थान माना जाय? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि द्वितीय हेतु का उच्चारण करते ही श्रोताओं के

मन में प्रथमोक्त हेतु में किसी दोष की संभावना व्यक्त हो उठती है जो उस वादी के लिए सर्वथा प्रतिकूल होता है ।

पुनरुक्त

शब्दतः या अर्थतः किसी भी प्रकार से की जाने वाली निरर्थक पुनरुक्ति है पुनरुक्त नामक निग्रहस्थान । जैसे 'पर्वत पर्वत वह्निमान है' अथवा 'पर्वत नग अग्निमान है' किंवा 'पर्वत वह्निमान है' इत्यादि रूप से किया जाने वाला अवयव वाक्य का प्रयोग है पुनरुक्त निग्रहस्थान । किंतु यह सर्वथा ध्यान रखने की बात है कि प्रयोजन युक्त पुनः उक्ति दोष नहीं । इसीलिए किसी के प्रति किसी के द्वारा 'जाओ-जाओ' इस प्रकार एक ही 'जाओ' को पुनः कहने पर पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता है । क्योंकि वहां 'जाओ' इसे दो बार, 'जल्दी जाओ' यह समझाने के लिए कहता है । अतः वहां का कथन सार्थक होता है निर्थरक नहीं । और यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उक्ति के बिना ही समझा जा सकने वाले अर्थ के लिए किया जाने वाला एक प्रयोग भी पुनरुक्त होता है । जैसे यदि कोई यह कहता है कि 'अनित्य वही होता है जो कि उत्पन्न होता है' तो इसी से अनायास यह भी ज्ञात हो जाता है कि 'जिसकी उत्पत्ति नहीं होती वह नित्य होता है ।' अतः 'अनित्य वही होता है जो उत्पन्न होता है' इस कथन के बाद उसी वक्ता द्वारा किया जाने वाला यह कथन कि 'जिसकी उत्पत्ति होती नहीं वह नित्य होता है ।' है पुनरुक्त ।

अननुभाषण

वादी अथवा प्रतिवादी कोई भी अपने प्रतिपक्षी द्वारा कथित बातों को समझने, तथा सभास्थ जनता या नियामक के द्वारा बोलने के लिए तीन बार आग्रह करने पर भी, यदि नहीं बोलता है तो वह न बोलना होता है अननुभाषण नाम का निग्रह-स्थान, जिससे वह अवक्ता निगृहीत माना जाता है । संभव है यहां कुछ जानकार लोग यह जिज्ञासा उपस्थित करें कि यदि अपने प्रतिपक्षी की बातों को न समझने के कारण नहीं बोलेगा तो वहां 'अज्ञान ही निग्रह-स्थान हो जायेगा और यदि विपक्षी की बातों के उत्तर की स्फूर्ति उसे तत्काल नहीं होगी इसलिए नहीं बोलेगा, तो 'अप्रतिमा' नामक ही निग्रहस्थान से निगृहीत हो जायेगा । ऐसी परिस्थिति में अननुभाषण को एक स्वतंत्र निग्रह-स्थान क्यों माना जाय ? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि न बोलने का कारण यह भी तो हो सकता है कि जैसे कभी-कभी किसी खास प्रयोजन से एक पहलवान दूसरे को विजयी बनाने के लिए स्वयं उचित दांव-पेंच न कर परास्त हो जाता है वैसे विचार के अंदर भी वादी या प्रतिवादी अपने अन्य किसी

प्रयोजन की सिद्धि के लिए चुप हो सकता है । वहां न अज्ञान होगा और न अप्रतिभा होगी अतः वैसे स्थलों के लिए अननुभाषण को एक स्वतंत्र निग्रह-स्थान मानना ही होगा ।

अज्ञान

वादी या प्रतिवादी होने के लिए अपेक्षित होने वाले ज्ञान का अभाव है अज्ञान नामक निग्रह-स्थान । वादी या प्रतिवादी अज्ञानी होने पर भी अपनी बौद्ध परिस्थिति के अनुसार कुछ न कुछ बोल भी सकता है । ऐसी स्थिति में अननुभाषण हो पाता नहीं । इसलिए अज्ञान को अननुभाषण से पृथक मानना आवश्यक होता है और वादी तथा प्रतिवादी होने के लिए अपेक्षित ज्ञानवान व्यक्ति भी कभी-कभी उत्तर की अस्फूर्ति स्वरूप अप्रतिभा से निगृत हो उठता है इसलिए अज्ञान को अप्रतिभा से पृथक मानना पड़ता है । अतः अज्ञान एक स्वतंत्र निग्रह-स्थान है ।

अप्रतिभा

उतर की स्फूर्ति का न होना है अप्रतिभा । कभी-कभी वादी या प्रतिवादी को ऐसी परिस्थिति आती हुई देखी ही जाती है कि उसका बौद्धस्तर अपने विपक्षी के बौद्धस्तर से नीचा नहीं है । वह भलीभांति अपने विपक्षी के कथन को समझ रहा है परंतु अनेक प्रयत्न करने पर भी विपक्षी के खंडनार्थ अपेक्षित उत्तर मन में आता नहीं अतः उसे भरी सभा में परास्त होना पड़ता है । अतः अप्रतिभा को भी एक स्वतंत्र निग्रह-स्थान मानना आवश्यक है ।

विक्षेप

तत्काल निष्पाद्य अति आवश्यक कार्य दिखलाकर किया जाने वाला कथा-भंग है विक्षेप निग्रह-स्थान । जैसे वादी या प्रतिवादो उत्तर देने की अपनी अक्षमता देखकर यदि 'मुझे अभी बहुत जोर की टट्टी लग आई है' यह कहते हुए बहाना बना कर विचार सभा से उठ कर चला जाय तो वह विचार परित्याग कहलाता है विक्षेप निग्रह-स्थान । कहने का तात्पर्य यह कि किसी प्रकार का ऐसा बहाना बनाना जिसे रोका न जा सके, होता है विक्षेप निग्रह-स्थान । वादी या प्रतिवादी इसका सहारा कभी-कभी इसलिए लेता है कि उसके प्रशंसकों को कुछ उसकी प्रशंसा करते रहने का स्थान रह जाता है ।

मतानुज्ञा

अपने विपक्षी के द्वारा दिखलाये गये अपने पक्षगत दोष को स्वीकार कर लेना है मतानुज्ञा निग्रह-स्थान जैसे अपने विपक्षी को वादी या प्रतिवादी यदि यह कहे कि 'तुम मेरे पक्ष में जिस प्रकार दोष दिखला रहे हो तेरे पक्ष में भी तो

उसी प्रकार दोष विद्यमान है ?' तो इस प्रकार कथन से अपने पक्ष में दोष का स्वीकार कर लेने के कारण ऐसा कहने वाला मतानुज्ञा नामक निग्रह-स्थान से निगृहीत हो उठता है। यद्यपि वह ऐसा कहने वाला अपने विपक्षी के पक्ष में भी दोष का उद्भावन करता है सही, परंतु उसके विपक्षी को अपनी ओर से दोष रहित होने की सफाई देने का अवसर तो रहता है ? 'किंतु मेरे पक्ष के समान तेरे पक्ष में भी तो दोष है' ऐसा कहने वाला तो 'मेरे पक्ष के समान' यह कह कर अपनी ओर से दोष रहित होने के उद्घाटन का अवसर बिल्कुल खो बैठता है। अतः निगृहीत हो जाना उचित है।

पर्यनुयोज्योपेक्षण

दातव्य दोष का न देना है पर्यनुयोज्योपेक्षण। वादी या प्रतिवादी को यह निग्रह-स्थान तब प्राप्त होता है जब कि उसकी बुद्धि सही मार्ग पर न जा कर अगल बगल जाती है या आगे बढ़ जाती है। इस निग्रह-स्थान की अन्य निग्रह-स्थानों से विशेषता यह होती है कि इसका उद्भावन वादी या प्रतिवादी अपने विपक्षी के प्रति नहीं करता है। क्योंकि निग्रह-स्थान का उद्भावन नियमतः विजगीषु दो व्यक्तियों की कथा में होता है। ऐसी परिस्थिति में वादी या प्रतिवादी यदि अपने विपक्षी को यह कहेगा कि 'तुमने दोष देने की उपेक्षा की है' तो इसका स्पष्ट अर्थ यह होगा कि 'तुम मेरे पक्ष में यदि यह दोष लगाते तो वह दोष-दान सही होता जैसा कि तुमने किया नहीं, इसलिए तुमने गलती की है, तेरी बुद्धि पैनी नहीं है, तुम हमसे कम बुद्धिमान् हो।' परंतु ऐसा कहने से अपने पक्ष को स्वयं दोषी मान लेने के कारण उक्त मतानुज्ञा नामक निग्रह-स्थान से निगृहीत हो उठेगा। अतः वह बीती बात को जगाकर स्वयं दोषी नहीं बन सकता। इसलिए निग्रह-स्थान का उद्भावन मध्यस्थ ही करता है। क्योंकि प्राप्त होने वाले दोष का उद्भावन नहीं करते देख कर उस नहीं उद्भावन करने वाले को अल्पबुद्धि समझ लेना स्वाभाविक है। दो व्यक्तियों का विजगीषु रूप में चलने वाला कोई भी विचार इसीलिए चलाया जाता है कि कौन अधिक बुद्धिमान् है और कौन कम बुद्धिमान् यह समझा जाय। पर्यनुयोज्योपेक्षण से मध्यस्थ को इसका पता अनायास चल जाता है कि हेतुगत दोष को यह नहीं पकड़ता है अतः यह दुर्बल बुद्धि है इसलिए उसे रोक देता है कि तुम चुप रहो। जब तुम मौका पाने पर भी अपने विपक्षी को दोषी नहीं ठहरा पाते हो तब तुम क्या इससे विचार करोगे।

निरनुयोज्यानुयोग

वादी या प्रतिवादी के द्वारा निर्दोष अपने विपक्षी के प्रति किया जाने

वाला दोषोद्भावन होता है निरनुयोज्यानुयोग निग्रह-स्थान। जैसे वादी के द्वारा 'पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है' इत्यादि सही निर्दोष पश्चावयव वाक्य उपस्थित करने पर यदि प्रतिवादी झूठ ही यह कहता है कि 'तेरा हेतु भूत-धूम तो असद्धेतु है क्योंकि व्यभिचारी है।' तो यह उसका व्यभिचार दोषोद्भावन होता है निरनुयोज्यानुयोग। 'पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है' इस अनुमान स्थल में धूम हेतु व्यभिचारी इसलिए नहीं है कि साध्यभाव के आधार में हेतु का रहना होता है हेतु में साध्य का व्यभिचार। धूम अग्नि के अभाव के आधार में कहीं रहता नहीं। क्योंकि अग्नि के बिना धूम का होना संभव नहीं। ऐसी परिस्थिति में अग्नि के अव्यभिचारी धूम को अग्नि का व्यभिचारी कहना उचित नहीं कहा जा सकता उसे मिथ्याभियोग मानना ही होगा। इसलिए वह होता है निरनुयोज्यानुयोग।

अपसिद्धांत

कथनोपकथन के बीच वादी या प्रतिवादी के द्वारा किया जाने वाला अपने सिद्धांत का त्याग होता है अपसिद्धांत। जैसे न्याय-वैशेषिक दर्शन हैं आरंभवादी अर्थात् उत्पत्तिविनाश-वादी और सांख्ययोग दर्शन हैं अभिव्यक्ति-वादी अर्थात् सत्कार्य-वादी। परंतु वादी-प्रतिवादी-भाव से विचार करते समय यदि नैयायिक या वैशेषिक यह कह बैठे कि 'घट पट आदि कोई भी वस्तु बिल्कुल नवीन-भाव से उत्पन्न होती नहीं, वह तदर्थ किये जाने वाले कारण व्यापार के पूर्व भी अवस्थित रहती है और मुद्गरपात आदि विघटन व्यापार के अनंतर भी नष्ट नह़ी होती किसी न किसी रूप में विद्यमान ही रहती है' तो इस प्रकार अपने आरंभवाद का किया जाने वाला त्याग होगा नैयायिक एवं वैशेषिक के लिए अपसिद्धांत।

इसी प्रकार अपने सत्कार्य-वाद के अनुसार विचार करते समय यदि सांख्य-दार्शनिक या योग-दार्शनिक यह कह बैठे कि 'घट पट आदि प्रत्येक वस्तु अपने कारण-व्यापार के पूर्व बिल्कुल रहती नहीं, कारण-व्यापार के अव्यवहित उत्तर काल में वह बिलकुल नई उत्पन्न होती है और विघटन व्यापार के अनंतर वह बिलकुल नष्ट हो जाती है। आगे और पीछे से उसका कोई भी संबंध होता नहीं' तो सांख्ययोग-दर्शनिकों द्वारा इस प्रकार किया जाने वाला अपने सत्कार्य-सिद्धांत का त्याग होता है अपसिद्धांत। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। सारांश यह कि जिस सिद्धांत को मानकर जिस विचार का आरंभ वादी या प्रतिवादी करता है उसी विचार के बीच उसी वादी या प्रतिवादी के द्वारा यदि किसी कारणवश उस अपने स्वीकृत सिद्धांत का त्याग कर दिया जाता है तो वह त्याग होता है अपसिद्धांत।

हेत्वाभास

हेत्वाभास का विस्तृत विचार अनुमान विचार के अवसर पर हो आया है। 'हेतु के समान आभासित अर्थात् प्रतीत होने वाला होता है हेत्वाभास।' इस व्याख्या के अनुसार दोष-युक्त हेतु कहलाते हैं हेत्वाभास। और आभास शब्द को दोष वाची मानने पर 'हेतु का आभास है हेत्वाभास' इस व्याख्या के अनुसार हेतुगत व्यभिचार विरोध, असिद्धि बाध और सत्प्रतिपक्ष कहलाते हैं हेत्वाभास। न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि अक्षपाद गौतम ने अपने दर्शन-शास्त्र में हेत्वाभास का उल्लेख दो प्रकार से किया है। एक तो अपने प्रथम पदार्थ-सूत्र में वितण्डा और छल इन दो पदार्थों के बीच एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में और द्वितीय निग्रह-स्थान विभाजक सूत्र के अंदर एक निग्रह स्थान के रूप में। महर्षि के द्वारा किये जाने वाले इस द्विधा उल्लेख से हेत्वाभास का ज्ञान अतिप्रयोजनीय है यह स्पष्ट प्रतीत होता है। हेत्वाभास का द्विधा उल्लेख महर्षि गौतम ने क्यों किया इस प्रश्न को भाष्यकार वत्स्यायन तथा वार्तिककार उद्योतकर ने उठाया है एवं अपने विचार के अनुसार उत्तर उपस्थित किया है।

परंतु न्याय-सूत्र-वृत्तिकार विश्वनाथ पंचानन ने 'हेत्वाभासस्य पृथगभिधान-प्रयोजनं तु जानाति भगवानक्षपादएव' इस कथन के द्वारा भाष्यकार एवं वार्तिक-कार की ही नहीं अतिसम्य व्यंग्यमुद्रा में महर्षि गौतम पर भी यह आक्षेप व्यक्त किया है कि हेत्वाभास का महर्षि गौतम के द्वारा किया जाने वाला द्विधा उल्लेख सप्रयोजन नहीं प्रतीत हो रहा है अतः उसे सही नहीं कहा जा सकता। परंतु मेरी दृष्टि में न तो यह प्रश्न उठना चाहिए कि हेत्वाभास का द्विधा उल्लेख क्यों? और न यह कहना चाहिए कि द्विधा को जो उल्लेख किया गया है वह निष्प्रयोजन है। यह इसलिए कि एक ही वस्तु का द्विधा उल्लेख हुआ ही नहीं है, जैसा कि लोगों ने समझा है। वितंडा और छल के बीच उक्त हेत्वाभास शब्द का जो अर्थ है सो निग्रहस्थान-विभाजन के अंदर आने वाले हेत्वाभास शब्द का नहीं। प्रथम हेत्वाभास शब्द का तो वही दुष्ट-हेतु या हेतु-दोष अर्थ है जिसे लोग समझते आये हैं।

परंतु 'हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि' इस रूप में निग्रहस्थान-विभाजन के अंदर कृतोल्लेख हेत्वाभास शब्द का अर्थ दुष्ट या हेतुगत व्यभिचार आदि दोष नहीं है किंतु उसका अर्थ है 'हेतुवाक्याभास' फलतः हेतु वाक्याभास का प्रयोग। अतः दोनों हेत्वाभास शब्द का एक अर्थ न होने के कारण वास्तविक दृष्टि में यह प्रश्न उठाना संगत नहीं कि हेत्वाभास का द्विधा उल्लेख क्यों किया गया है? कहने का तात्पर्य यह कि प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय और निगमन इन पंचा-

वययवों के उल्लेखस्थल में हेतु पद का अर्थ धूम आदि हेतु न होकर–'धूमवत्वात्'
क्योंकि धूमवान् है इत्यादि वाक्य ही हेतुशब्द का अर्थ होता है यह निर्विवाद
है। विचार करते समय प्रत्येक वादी तथा प्रतिवादी को वाक्य मुद्रा से ही कथन
करना पड़ेगा यह भी निर्विवाद है। ऐसी परिस्थिति में विचारगत दोष के विचार
करते समय अवश्य हेतु शब्द का अर्थ होगा हेतुवाक्य।

अतः निग्रह स्थानों के बीच विवेच्य हेत्वाभास के अंदर आने वाले हेतु शब्द
का अर्थ दुष्ट हेतु या व्यभिचारादि दोष न होकर हेतु वाक्य होना स्वाभाविक
है। उस हेतु के साथ दुष्ट अर्थक आभास शब्द को जोड़ कर बनने वाले हेत्वा-
भास शब्द का अर्थ, हेतु-वाक्याभास फलतः दुष्ट हेतु-वाक्य-प्रयोग के अतिरिक्त
भला और क्या हो सकता ? दुष्ट हेतु और दुष्ट-हेतु-घटित पंचम्यंत-वाक्य या
वैसे वाक्य का प्रयोग इन दोनों को वैशेषिकों के असंकीर्ण पदार्थ विभाजन की
दृष्टि में भला कैसे एक कहा जा सकता ? उदाहरण के द्वारा इस पार्थक्य को
भलीभांति यों समझा जा सकता है कि 'पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है'
इत्यादि वाक्य-प्रयोग-स्थलों में धूम वस्तु जो कि अग्नि का साधक अर्थात् ज्ञापक
कहलाने के कारण हेतु कहलाता है पार्थिव द्रव्य, और 'धूमवत्वात्' क्योंकि धूम-
वान् है 'इत्यादि पंचम्यातं वाक्य है शब्द गुण, और उसका प्रयोग है कंठ तालु
आदि मुख स्थानों का अभिधातात्मक संयोग गुण। सुतरां धूमवस्तु धूमत्ववात् वाक्य
और उसका प्रयोग इन तीनों को कभी पदार्थ की दृष्टि में, वस्तु की दृष्टि में, एक
नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार जबकि दोनों हेत्वाभास शब्द एकार्थक ही नहीं हो
पाये तब एक का द्विधा उल्लेख हुआ कहां ? यह बात सही है कि हेतुवाक्य या उसका
प्रयोग भी जो हेत्वाभास कहलाता है उसका मूल दुष्ट-हेतु या हेतुगत दोष होता
है क्योंकि 'पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है' यहां क्योंकि धूमवान् है इस
हेतु वाक्य को हेत्वाभास इसीलिए नहीं कहा जा सकता कि तद्घटक हेतु धूम
दुष्ट नहीं, दोष युक्त नहीं, और 'पर्वत अग्निमान् है क्योंकि जलवान् है' इस
प्रकार किये जाने वाले न्याय-प्रयोग के अंदर आने वाला 'क्योंकि जलवान् है'
यह हेतुवाक्य हेत्वाभास इसीलिए होगा कि तद्घटक हेतु जल पर्वत पक्ष में तत्वतः
न होने के कारण स्वरूपासिद्धि-दोषयुक्त अतएव स्वरूपासिद्ध होता है।

परंतु इससे 'क्या जल और जलवान् है' इस वाक्य को किसी भी प्रकार एक
नहीं बतलाया जा सकता। अतः हेत्वाभास की द्विरभिधान शंका सर्वथा निर्मूल
है। इस विस्तृत विचार के अनुसार यहां हेत्वाभास का अर्थ हेतु-वाक्याभास
फलतः उसका प्रयोग समझना चाहिए। वह निग्रहस्थान इसलिए होता है कि
'पर्वत अग्निमान् है क्योंकि जलवान् है' इस प्रकार हेतुवाक्याभास का प्रयोग
वादी या प्रतिवादी द्वारा किये जाने पर प्रतिपक्षी जल हेतु में स्वरूपसिद्धि नामक

दोष बतलाते हुए जब 'क्योंकि जलवान् है' इस हेतु वाक्य को हेतु-वाक्याभास सिद्ध कर देगा और वह वादी या प्रतिवादी उसका किसी प्रकार से खंडन नहीं कर पायेगा तो अगत्या उसें पराजय स्वीकार करना ही होगा ।

दीपिका

ननु करतलानलसंयोगे सत्यपि, प्रतिबन्धके सति दाहानुत्पत्त्या शक्तिः पदार्थान्तरमिति चेन्न प्रतिबन्धकाभावस्य कार्यमात्रं प्रति कारणत्वेन शक्तेरनुपयोगात् । कारणत्वस्यैव शक्तिपदार्थत्वात् । ननु भस्मादिना कांस्यादौ शुद्धिदर्शनादाद्ये शक्तिरंगीकार्येति चेन्न भस्मादिसंयोग-समानकालीनास्पृश्यस्पर्शप्रतियोगिकयावदभावसहितभस्मादिसंयोगध्वंसस्य शुद्धिपदार्थत्वात् । स्वत्वमपि न पदार्थान्तरं यथेष्ट-विनियोग योग्यत्वस्य स्वत्वपदार्थत्वात् । तदवच्छेदकं च प्रतिग्रहादिलब्धत्वमेवेति ।

अनुवाद

हाथ का अग्नि के साथ संयोग होने पर भी प्रतिबंधक रहने पर दाह की अनुत्पत्ति यतः देखी जाती है अतः शक्ति नामक पदार्थान्तर मान्य है ऐसी शंका नहीं की जा सकती । क्योंकि प्रतिबंधकों का अभाव कार्य के प्रति कारण होने के कारण शक्ति मानने का कोई उपयोग नहीं । भस्म आदि से कांसे आदि की शुद्धि होती है यह देखे जाने के कारण आधेय भूत शक्ति अंगीकर्तव्य है यह भी नहीं कहा जा सकता । क्योंकि भस्म आदि के संयोग के नाश का समकालिक, सभी अस्पृश्यस्पर्शों के अभावों से युक्त, भस्मादि के संयोग का ध्वंस ही है शुद्धि । स्वत्व भी पदार्थान्तर नहीं । क्योंकि अपनी इच्छा के अनुसार उपयोग में लाने की योग्यता ही है स्वत्व । उस योग्यता का नियामक होगा प्रतिग्रह श्रम आदि के द्वारा लब्ध होना ।

विवरण

न्यायाभिमत सोलह प्रमाण आदि पदार्थों को लेकर द्रव्यगुण आदि सात पदार्थों के अतिरिक्त पदार्थ के अस्तित्व की शंका नहीं उठायी जा सकती है इसे सिद्ध कर डालने के अनंतर भी युक्त्यन्तर के आधार पर सात से अतिरिक्त पदार्थ मनाये जा सकते हैं ऐसा अभिप्राय रखने वाले कर्ममीमांसकों की ओर से यह शंका उठायी जा सकती है कि प्रत्येक वस्तु में कुछ न कुछ कर दिखलाने की शक्ति देखी जाती है । जैसे आग में जलाने की शक्ति । और उससे अन्य किसी वस्तु में ऐसी भी शक्ति देखी जाती है जो उस शक्ति को भी बाधा पहुँचाती है नष्ट कर डालती है । जैसे चन्द्रकांत मणि में यह शक्ति देखी जाती है कि आग

के पास उसे रख देने पर आग हाथ या लकड़ी आदि को जला नहीं सकती। अतः अग्निगत शक्ति को नष्ट करने वाली एक शक्ति चन्द्रकान्तमणि में भी माननी होगी। प्रत्येक वस्तु में जब कि इस प्रकार उत्पादक या नाशक शक्ति मान्य होगी तो धर्मी और धर्म की भिन्नता के कारण सातों पदार्थों में धर्म रूप से विद्यमान शक्ति को धर्मीभूत सात पदार्थ नहीं माना जा सकता। अतः शक्ति को उक्त द्रव्य आदि सात पदार्थों से अतिरिक्त एक स्वतंत्र पदार्थ अवश्य मानना चाहिए। इस कर्म-मीमांसक मत का खंडन किये बिना पदार्थ गत सप्तता स्थिर नहीं कही जा सकती। इसलिए दीपिका में 'ननु करतलानल संयोग' इत्यादि ग्रंथ के द्वारा प्रश्न उठाकर इस शंका का खंडन किया गया है। खंडन पक्ष की ओर से कहा यह गया है कि स्वीकृत सात पदार्थों के बीच आपस में यथासंभव धर्म धर्मीभाव मानने में कोई बाधा है नहीं। गुणकर्म द्रव्य के, और सामान्य द्रव्य गुण कर्म के धर्म होते ही हैं। ऐसी परिस्थिति में, सर्वत्र कारण-गत प्रतिबंधकाभाव को ही शक्ति मान लेने से यदि अनुपपत्ति और आपत्ति का निवारण हो सकता है तो व्यर्थ शक्ति नामक अतिरिक्त पदार्थ, जिसकी संख्या धर्मी की असंख्यता के कारण सीमातीत होगी और उतने शक्ति के प्रागभाव और ध्वंस भी मानने होंगे। इससे कहीं अच्छा यह है कि शक्ति को कारणगत प्रतिबंधकाभाव मान लिया जाय।

कुछ मीमांसक लोगों ने यह कहकर शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ मानने का प्रयत्न किया है कि शक्तिवादी के मत में सर्वत्र कारणता का अवच्छेदक अर्थात् नियामक शक्ति ही हो जाने के कारण कार्य-कारण-भाव के आकार में महान् लाघव होता है। क्योंकि शक्ति न मानते हुए पदार्थों को अपने-अपने कार्य के प्रति कारण मानने वाले नैयायिक तथा वैशेषिकों को जहां कारण वस्तुओं की असंख्यता के कारण असंख्य कार्यकारणभाव मानना पड़ता है वहां शक्तिवादी अनुकूलेकशक्तिमान् के रूप में प्रत्येक कार्य के प्रति एक ही कार्य-कारण-भाव मान सकता है। परंतु यह उनका कथन भी सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर इसलिए निस्सार निकलता है कि प्रत्येक कारण में जब कि शक्ति अलग-अलग ही माननी होगी, तब एक शक्ति-मान् ही कहना असंभव हो जायेगा। भिन्न-भिन्न वस्तुओं में अलग-अलग शक्ति न मानने पर सबसे सबकी उत्पत्ति आपन्न होगी। अतः प्रत्येक वस्तु में शक्ति को अलग-अलग मानना ही होगा।

दूसरी बात यह कि 'अनुकूलैकशक्तिमान् के रूप में' इस कथन के अंदर अनुकूल पद सर्वथा साकांक्ष होने के कारण अनुकूल का अर्थ अवश्य अपने-अपने कार्य के लिए अनुकूल यह करना ही होगा। ऐसी परिस्थिति में असंख्य विभिन्न कार्य और असंख्य विभिन्न कारणों के आधार पर अगत्या कार्य-कारण-भाव भी असंख्य

मानना अनिवार्य हो उठेगा। जिसके फलस्वरूप शक्ति-वादी को भी असंख्य कार्य-कारण-भाव मानना ही होगा। इसके अतिरिक्त खंडन पक्ष में नवीन एक युक्ति यह भी ध्यान देने योग्य है कि शक्तिवादी को सर्वमान्य सांसारिक तत्तत् वस्तुओं की तरह मान्य शक्ति को भी अवश्य किंचित्कर मानना ही होगा। क्योंकि अकिंचित्कर कोई वस्तु हो ही नहीं सकती, यह उन्हें भी कहना ही होगा।

इसीलिए तो वे सब में शक्ति मानते हैं ? परंतु शक्ति को भी किंचित्कर मान लेने पर प्रश्न यह उठेगा कि मान्य शक्ति के ऊपर भी शक्ति मानी जायेगी या नहीं। नहीं मानने पर शक्ति-रहित शक्ति के समान अन्य वस्तुओं को भी शक्ति-रहित होने पर भी स्वत्व-कार्य-कर क्यों न मान लिया जाय। क्यों शक्ति मानी जाय ? और यदि शक्ति के ऊपर भी शक्ति मानी जाय तो फिर उस द्वितीय शक्ति के ऊपर भी तृतीय की मान्यता एवं इसी प्रकार आगे-आगे भी मान्यता अनिवार्य हो जाने के कारण वह अनवस्था सर पर आ गिरेगी जिसका निराकरण किसी प्रकार हो नहीं पायेगा। अतः शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ नहीं माना जा सकता। शक्ति खंडन इस प्रकार इसके अनंतर उपस्थापित आधेय-शक्ति के स्वीकार पक्ष में भी लागू होगा।

कुछ लोग अन्य प्रकार से शक्ति को मान्य ठहराने के लिए प्रयास करते पाये जाते हैं। वे कहते हैं कि कांसे को राख से मलने पर जिस प्रकार उसकी शुद्धि होती है अन्य वस्तु की शुद्धि राख के मलने पर उस प्रकार होती नहीं। यह बात तभी औचित्य प्राप्त कर पायेगी जबकि कांसे में प्राप्त होने वाली शुद्धि को शक्तिभूत मानें। अतः उस आगन्तुक शुद्धि को शक्ति मानने के कारण शक्ति की अतिरिक्त पदार्थता का खंडन नहीं किया जा सकता। अतः इसका उत्थान भी कर दीपिका-कार ने इसका खंडन किया है 'ननु भस्मादिना' से आरंभ कर 'शुद्धिपदार्थत्वात्' यहां तक के ग्रंथ द्वारा। खंडन का सरल अभिप्राय यह है कि कांसे में प्राप्त होने वाली उक्त शुद्धि आधेय शक्ति नहीं किंतु भस्म के संयोग का ध्वंसात्मक अभाव स्वरूप होता है। कांसे में राख मलना है राख का संयोग उसके अनंतर पानी से धो डालने पर कांसा शुद्ध हो जाता है पवित्र हो जाता है अतः भलीभांति उस शुद्धि को राख के संयोग का ध्वंस कहा जा सकता है।

इस प्रकार पवित्र हुए कांसे में फिर किसी अस्पृश्य वस्तु के लग जाने पर शुद्धि रह नहीं पाती। अतः कैसे शुद्धि को राख के संयोग का ध्वंस मान लिया जाय ? और ऐसा न मानने पर फिर उस शुद्धि को आधेय-शक्ति अर्थात् आधान-योग्य शक्ति कैसे न माना जाय ? इस प्रकार की आशंका शक्तिवादी की ओर से फिर की जा सकती, इसलिए दीपिकाकार ने भस्म-संयोग-ध्वंस को शुद्ध पदार्थ होने के लिए सभी अस्पृश्यवस्तुओं के स्पर्श के अभाव से सहित भी होना चाहिए

यह कहा है। जहां राख मल कर धो डालने के बाद किसी अस्पृश्य का स्पर्श हो जाता है वहां का राख के संयोग का ध्वंस अस्पृश्य-स्पर्शाभाव-सहित होता नहीं। इसलिए राख के संयोग का ध्वंस विद्यमान होने पर शुद्धि रहती नहीं। अतः शुद्धि को आधेय-शक्ति नहीं कहा जा सकता। जिसके आधार पर शक्ति नामक अतिरिक्त पदार्थ को मान्यता अनिवार्य हो पड़े। शक्ति मानने वाले को जो अनवस्था पहले दिखलायी गयी है उसे शक्ति-साधक प्रत्येक युक्ति के खंडन में लगाया जा सकता है।

कुछ लोग द्रव्य आदि सात से अतिरिक्त पदार्थ की आशंका यह कहकर प्रस्तुत करते हैं कि जो व्यक्ति जिस वस्तु को किसी प्रकार प्राप्त करता है उस व्यक्ति का स्वत्व-उस प्राप्त होने वाली वस्तु में उसके प्राप्ति-काल से लेकर उस वस्तु के विनाश के अव्यवहित पूर्व क्षण तक के लिए या तब तक के लिए जब तक कि वह दूसरे के हाथ न चली जाय हो उठता है यह निर्विवाद है। इस स्वत्व को प्राप्त द्रव्य-स्वरूप इसलिए नहीं माना जा सकता कि स्वत्व का आधार भूत द्रव्य पहले से विद्यमान रहता है किंतु स्वत्व उस द्रव्य की प्राप्ति से पहले उसमें रहता नहीं। उस स्वत्व को रूप रस आदि गुणों में अन्तर्मुक्त इसलिए नहीं माना जा सकता कि उसमें रूप आदि प्रत्येक गुण का वैधर्म्य पाया जाता है, साधर्म्य नहीं। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि रूप आदि इंद्रिय-ग्राह्य होते हैं स्वत्व इंद्रिय-ग्राह्य, होता नहीं। अतीन्द्रिय गुण इसलिए उसे नहीं माना जा सकता कि तथाविध गुरुत्व अदृष्ट और भावना से भी उसमें वैलक्षण्य पाया जाता है। और उसे स्वीकृत या अतिरिक्त गुण स्वरूप मानने में यह भी बाधा है कि जिस व्यक्ति का जिस गुण-युक्त द्रव्य पर स्वत्व होता है अनायास उस द्रव्य में विद्यमान उस गुण पर भी स्वत्व हो जाता है जिससे यह सिद्ध होता है कि स्वत्व गुण पर भी रहता है परंतु गुण में गुण कभी रहता नहीं। स्वत्व को कर्म इसलिए नहीं माना जा सकता है कि वह स्पन्दनात्मक नहीं चलनात्मक नहीं। सामान्य उसे इसलिए नहीं कहा जा सकता कि स्वत्व, गोत्वघटत्व आदि की तरह नित्य नहीं। विशेष उसे इसलिए नहीं कहा जा सकता कि वह निद्रव्यमात्र वृत्ती नहीं। उसे समवाय इसलिए नहीं कहा जा सकता कि वह संबंध-स्वरूप नहीं। अभाव उसे इसलिए नहीं माना जा सकता कि उसकी प्रतीति निषेधमुख नहीं होती, 'नहीं' के रूप नहीं होती है। अतः स्वत्व को सात पदार्थों से अतिरिक्त पदार्थ ही मानना उचित है। स्वत्व कुछ भी नहीं है यह इसलिए नहीं कहा जा सकता कि किसी भी वस्तु में स्वत्व होने से पूर्व उसका उपभोग जहां अपराध माना जाता है वहां ही उसके हो जाने पर वस्तु का उपयोग अपराध के

सर्वथा विपरीत न्याय माना जाता है, उचित माना जाता है। ऐसे स्वत्व को भला आकाश-कुसुम के समान शून्य कैसे माना जा सकता ?

दीपिकाकार ने स्वत्व के संबंध में इसके विरुद्ध संक्षेप में यह कहा है कि उचित उपायों से होने वाली प्राप्ति के द्वारा सीमित होने वाली—अपनी इच्छा के अनुसार अपने उपयोग में लाये जाने की क्षमता ही है स्वत्व। कहने का तात्पर्य यह कि कोई भी वस्तु किसी की तभी हो सकती है जबकि वह उसके पास सही उपाय से अर्थात् लोक या शास्त्र के द्वारा प्राप्ति के लिए निर्धारित उपाय से ही आवे और साथ ही उस व्यक्ति की इच्छा के अनुसार उसके उपयोग में आने की क्षमता उस वस्तु में हो जाय। किसी के द्वारा दिये गये किसी भी पदार्थ में प्राप्ति कर्ता व्यक्ति का स्वत्व यही होता है कि वह उसकी प्राप्ति दान, श्रम आदि वैध उपाय से करता है तथा वह अपनी इच्छा के अनुसार उस प्राप्त वस्तु को अपने उपयोग में ला सकता है। यहाँ यदि स्वत्व की परिभाषा इतनी ही की जाय कि उचित उपाय के द्वारा होने वाली प्राप्ति ही है वस्तु का स्वत्व तो आपत्ति यह होगी की न्यास के रूप में अर्थात् धरोहर के रूप में रखी हुई वस्तु में भी उस व्यक्ति का स्वत्व आपन्न हो उठेगा जिसके पास वह रखा रहेगा। क्योंकि किसी के हित के लिए अपने पास कुछ समय तक उसकी वस्तु अपने पास रखना अवैध नहीं वैध ही है। क्योंकि उस रखने को अवैध मानने पर चोरी से ग्रहण कर अपने पास रखने वाले के समान हितार्थ अपने पास रखने वाले को भी अपराधी मानना होगा, दंड का अधिकारी मानना होगा, जैसा कि होता नहीं। प्राप्त वस्तु में स्वत्व होने के लिए प्राप्ति कर्ता की इच्छा के अनुसार उपयोग में आने की क्षमता भी उस वस्तु में होनी चाहिए। यह कहने पर उक्त आपत्ति इसलिए वारित हो जाती है कि लोक या शास्त्र में न्यास भूत वस्तु का अपनी इच्छा के अनुसार उपयोग, विहित नहीं स्वीकृत होने के कारण वह न्यासभूत वस्तु यथेष्ट विनियोग योग्य नहीं होती। अपनी इच्छा के अनुसार उपयोग योग्य नहीं होती। अतः उसमें उस रक्षक व्यक्ति का स्वत्व आपन्न हो पाता नहीं। यदि स्वत्व की परिभाषा इतनी ही की जाय कि यथेष्ट विनियोग-योग्यता ही है स्वत्व अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार उपयोग में लाये जाने की क्षमता ही है स्वत्व, तब आपत्ति यह होगी कि चोरी की गयी वस्तुएँ भी चोर का स्वत्व मान्य हो उठेगा। क्योंकि चोर उस चोरी की गयी वस्तु का उपयोग अपनी इच्छा के अनुसार करता ही है। अत. वैध उपाय से होने वाली प्राप्ति के साथ होने वाली अपनी इच्छा के अनुसार उपयोग में लाये जाने की क्षमता को ही स्वत्व मानना होगा। कुछ और गहराई में पैठ कर इस क्षमता का विश्लेषण किया जाय तो फलितार्थ यही मानना होगा कि अपनी इच्छा के अनुसार किये

जाने वाले वस्तु के उपयोग में होने वाला दंडप्रापकता का अभाव ही है वस्तु का स्वत्व। सरल अभिप्राय यह कि वस्तु के स्वेच्छानुसार किये जाने वाले उपयोग में होने वाला दंड प्रयोगजकता का अभाव अर्थात् अपराधत्व का अभाव ही है वस्तुगत स्वत्व। इस प्रकार गंभीर विवेचन के अनन्तर यह अस्पष्ट नहीं रह जाता है कि स्वत्व सात पदार्थ से अतिरिक्त पदार्थ नहीं, किंतु अभाव पदार्थ है। अतः उसे लेकर पूर्व विहित पदार्थ विभाजन को असंगत नहीं ठहराया जा सकता। उक्त प्रकार शंका नहीं उठायी जा सकती।

दीपिका

अथ विधिर्निरूप्यते। प्रयत्न-जनक-चिकीर्षाजनक-ज्ञान-विषयो विधिः। तत्प्रतिपादको लिङादिर्वा। कृत्यसाध्ये प्रवृत्त्यदर्शनात् कृतिसाध्यताज्ञानं प्रवर्त्तकम्। न च विषभक्षणादौ प्रवृत्तिप्रसंगः, इष्टसाधनतालिंगक-कृति-साध्यताज्ञानस्य काम्यस्थले, विहितकालशुचिजीवित्व-निमित्तक-कार्यता-ज्ञानस्य नित्यस्थले, निमित्त-निमित्तककार्यता-ज्ञानस्य नैमित्तिकस्थले प्रवर्त्तकत्वात्। न चाननुगमः। स्वविशेषण-वत्ताप्रतिसन्धानजन्यत्वस्यानुगतत्वात् इति। तन्न, लाघवेन कृतिसाध्येष्ट-साधनताज्ञानस्यैव चिकीर्षा-द्वारा प्रयत्नजनकत्वात् न च नित्य-नैमित्तिक-स्थले इष्टसाधनत्वाभावाद-प्रवृत्तिप्रसंगः। तत्रापि प्रत्यवायपरिहारस्य पापक्षयस्य च फलत्वकल्पनात्। तस्मात् कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमेव लिङाद्यर्थः।

अनुवाद

अब विधि का निरूपण किया जाता है। प्रयत्न जनक जो चिकीर्षा उसका जनक जो ज्ञान, उसका विषय होने वाली वस्तु है विधि। एवं उस ज्ञान विषय वस्तु का प्रतिपादक भी कहलाता है विधि। नहीं किये जाने योग्य कार्य के संबंध में प्रवृत्ति देखी जाती नहीं। अतः कृतिसाध्यता का ज्ञान होता है प्रवर्तक। यह नहीं कहा जा सकता कि विषभक्षण आदि में भी प्रवृत्ति होने लगेगी। क्योंकि काम्यस्थलों में इष्ट-साध्यता-ज्ञान-मूलक कार्यता-ज्ञान, नित्य-स्थलों में विहित-काल-शुचि-जीवित्व-निमित्तक-कार्यता-ज्ञान और नैमित्तिक-स्थलों में निमित्त-निमित्तक कार्यता-ज्ञान प्रवर्तक है। तब अनुगम नहीं होगा, यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कार्यता ज्ञान में स्वविशेषण वत्ता प्रतिसंधानजन्यत्व अनुगत ही होगा। किंतु ऐसा मानना इसलिए उचित नहीं कि लाघववश चिकीर्षा के द्वारा कृति-साध्यता-सहित इष्ट-साधनता ज्ञान को ही प्रवर्त्तकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि नित्य और नैमित्तिक स्थलों में इष्टसाधनता के अभाव के कारण प्रवृत्ति नहीं हो पायेगी। क्योंकि वहां भी प्रत्यवाय की अनुत्पत्ति एवं पापक्षय में

फलत्व की कल्पना की जा सकती है। इसलिए लिंङ लोट् एवं तव्य प्रत्यय का अर्थ कृतिसाध्यता और इष्ट-साधनता ही है।

विवरण

अव्यवहित-पूर्व किये गये स्वत्व के विचार के अंदर प्राप्ति की वैधता अपेक्षित बतलायी गयी है। वैध शब्द का अर्थ होता है विधि का विषय, तथा विधि-प्रतिपाद्य। अतः अध्येताओं को यह जिज्ञासा हो उठना स्वाभाविक है कि विधि क्या है ? इसलिए दीपिकाकार ने यह कहा है कि 'अब मैं विधि का निरूपण करता हूँ। लट लिट् लुट् आदि दशलंकारात्मक आख्यात प्रत्यय के अंदर आने वाले लिङ् के दो प्रभेद माने गये हैं। एक विधि लिङ् और दूसरा आशीर्लिङ् विधि लिङ् का अर्थ है विधान को बतलाने वाला लिङ् प्रत्यय और आशीर्लिङ् आशीर्वाद को बतलाने वाला लिङ् प्रत्यय। जैसे 'यजेत' यहाँ का लिङ्-प्रत्यय है विधिलिंङ् और 'शुभं भूयात्' यहाँ का लिङ् है आशीर्लिङ्। इसलिए विधि शब्द 'यजेत' इत्यादि विधायक पदों के अंदर आने वाले लिङ् का भी बोधक होता है और उस लिङ् के द्वारा प्रतिपादित होने वाली विधानात्मक वस्तु का भी। इसीलिए दीपिका में विधि शब्द के दो अर्थ बतलाये गये हैं। यजेत इत्यादि प्रयोग स्थलों में लिङ् के अर्थ-भूत विधि का परिचय दिया गया है 'प्रयत्नजनक-चिकीर्षाजनक' इत्यादि कथन के द्वारा। इस कथन का तात्पर्य यह है कि विधि-लिङ् घटित 'यजेत' आदि आख्यात पदों का प्रयोग होता है लोगों को योग आदि क्रियाओं में प्रवृत्त कराने के लिए। अतः न्याय तथा वैशेषिक का इस विषय में सिद्धांत यह है कि जिस चिकीर्षा से प्रयत्न उत्पन्न होता है। वह चिकीर्षा जिसके ज्ञान से उत्पन्न होती है वही होता है विधिलिङ् लोट् और तव्य प्रत्यय का अर्थ। इसलिए वही है विधि।

कथन का सारांश यह है प्रत्येक प्रवृत्ति शील व्यक्ति, प्रत्येक प्रवृत्ति-स्थल में पहले उद्देश्य-भूत फल के उपाय-भूत क्रिया को उस फल का साधक, तथा कृति-साध्य अर्थात् अपने द्वारा कर्तव्य, फलतः संपादन योग्य समझता है, उसके अव्यवहित उत्तर उस व्यक्ति को उस उपाय-भूत क्रिया को करने की इच्छा होती है जिसे एक शब्द में चिकीर्षा कहा जाता है। तदनन्तर वह व्यक्ति उस उपाय भूत क्रिया के लिए प्रयत्न-शील होता है और तदनन्तर अपनी चेष्टा से उस उपाय-भूत क्रिया का संपादन करता है जिससे वह अपेक्षित फल को प्राप्त करता है, यही वास्तविक स्थिति है। किसी भी प्रवृत्ति-स्थल में इसे अनायास भलीभाँति समझा जा सकता है। इसके अनुसार 'प्रयत्नजनक-चिकीर्षाजनक-ज्ञान-विषय' अर्थात् प्रयत्न के प्रति कारण होने वाली चिकीर्षा जिसके ज्ञान से उत्पन्न होती

है वह होता है करने-योग्य-होना-स्वरूप कृतिसाध्यत्व और अपेक्षित-फल का साधक-होना-स्वरूप इष्ट-साधनत्व। अतः वही विधि है, विधि लिङ् एवं उसके पर्यायभूत लोट् एवं तव्य प्रत्यय का अर्थ है।

इसीलिए 'पढ़ो' 'खाओ' 'सोओ' आदि लौकिक तथा 'यजेत' आदि वैदिक सभी उपदेश-वाक्य-प्रयोग-स्थलों में श्रोता व्यक्ति पढ़ना, खाना, योग करना; आदि अभीष्ट-फल-साधक-क्रियाओं को उपदेश्य श्रोता अपना कृतिसाध्य अर्थात् करने योग्य एवं इष्ट-साधन अर्थात् ज्ञान, तृप्ति, स्वास्थ्य, स्वर्ग-प्राप्ति आदि फल का साधक, समझ कर उसे करना चाहता है और फिर तदनुरूप प्रयत्न करके अर्थात् आंतरिक तदुन्मुखता प्राप्त करके उस क्रिया का संपादन करता है, जो कि शरीर-गत होने के कारण चेष्टात्मक होती है, और उससे उक्त ज्ञान तृप्ति आदि फल प्राप्त होता है। फलितार्थ यह है कि न्याय वैशेषिक सिद्धांत में कृतिसाध्यत्व तथा इष्टसाधनत्व ये दोनों ही विधि-प्रत्यय के अर्थ हैं अतः विधि कहलाने के अधिकारी हैं। किन्तु मीमांसा के सिद्धांत में इष्ट-साधनत्व को विधि प्रत्यय का अर्थ माना जाता नहीं। अतः वह विधि नहीं हो पाता।

क्योंकि उस सिद्धांत में फलार्थी को उस फल के उपाय भूत-क्रिया में प्रवृत्ति, केवल कृति-साध्यताज्ञान से मानी जाती है। यह इसलिए कि संध्या-वंदन आदि नित्य-क्रियाओं का कोई फल उस सिद्धांत में माना जाता नहीं। और 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इत्यादि विधि-वाक्य के अनुसार धर्म-निष्ठा-शील व्यक्ति को संध्यावन्दन आदि में प्रवृत्ति होती ही है। यदि इष्टसाधनता-ज्ञान को भी प्रवर्तक माना जायगा तो उक्त संध्यावन्दन आदि नित्य क्रियाओं में प्रवृत्ति नहीं हो पायेगी। इसलिए केवल कृतिसाध्यताज्ञान को प्रवर्त्तक मानना चाहिए। इसलिए कृति-साध्यत्व मात्र को ही प्रवर्तक-ज्ञान की विषमता होने के कारण उसे ही विधि लिङ् आदि विधायक प्रत्यय का अर्थ और इसीलिए विधि मानना चाहिए यह है मीमांसा का कथन। अतः दीपिकाकर ने इसका खंडन करने के लिए 'कृत्यसाध्ये प्रवृत्यदर्शनात्' यहाँ से लेकर 'अनुगतत्वात्' यहाँ तक मीमांसा-सिद्धांत को तदनुकूल ऊहापोह के साथ उपस्थित किया है। केवल कृतिसाध्यताज्ञान को प्रवृत्ति के प्रति हेतु मानने पर सबको विषभक्षण में प्रवृत्ति की आपत्ति हो सकती है, क्योंकि विषभक्षण करने की क्षमता का ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को अपने में सुलभ हो सकता है। तदनुसार विषभक्षण में कृति-साध्यता का ज्ञान सबको हो सकता है।

अतः मीमांसा की ओर से इस प्रश्न को उठाकर उत्तर यह उपस्थित किया गया है कि केवल कार्यता-ज्ञान अर्थात् कृति-साध्यता के ज्ञान को मैं प्रवर्त्तक नहीं

मानता, किंतु, इष्ट-साधनता-ज्ञान लिङ्गक कृति-साध्यता-ज्ञान को प्रवर्त्तक मानता हूँ। विषभक्षण में केवल कृति-साध्यता-ज्ञान होने पर भी, इष्ट-साधनता-लिङ्गक कृति-साध्यता-ज्ञान संभव नहीं। 'विषभक्षण इष्ट फल का साधक होने के कारण कर्तव्य है' ऐसा ज्ञान हो सकता नहीं, क्योंकि मरणात्मक अनिष्ट का साधक होने के कारण इष्ट साधनता की संभावना वहाँ न होने के कारण इष्ट-साधनता मूलककृतिसाध्यता का ज्ञान वहाँ होगा नहीं। इसलिए विषभक्षण में प्रवृत्ति की आपत्ति नहीं दी जा सकती।

परंतु ऐसा कहने पर मीमांसा-सिद्धांत में संध्यावन्दन आदि नित्य कर्मों में प्रवृत्ति की अनुपपत्ति फिर कही जा सकती है। क्योंकि संध्यावन्दन आदि में केवल कृति-साध्यता-ज्ञान संभव होने पर भी वह इष्ट-साधनता-लिङ्गक कृति-साध्यता-ज्ञान हो यह संभव नहीं जिसे विषभक्षण में प्रवृत्ति-निवारणार्थ प्रवर्तक माना गया है। अतः इस प्रश्न को उठाकर मीमांसा की ओर यह उत्तर दिया गया है कि कर्म तीन तरह के हैं काम्य, नित्य और नैमित्तिक। इनके अंदर काम्य यागयज्ञ आदि कर्मों में होने वाली प्रवृत्ति के प्रति कारण मान्य है इष्ट-साधनता-लिङ्गक कृति-साध्यता-ज्ञान। संध्यावन्दन आदि नित्यकर्मों में होने वाली प्रवृत्ति के प्रति कारण मान्य है विहित-काल-शुचिवित्वलिंगक कृति-साध्यता-ज्ञान न कि इष्ट-साधनता-लिंगक कृति-साध्यता-ज्ञान। इष्टसाधनता-लिंगक कृति-साध्यता-ज्ञान संध्यावन्दन आदि में न होने पर भी 'संध्यावन्दन के लिए उचित होने वाला काल आ गया है, मैं पवित्र भी हूँ और उसके करने में समर्थ भी हूँ 'अतः संध्यावन्दन मेरा कर्तव्य है' इस प्रकार विहित-काल-शुचि-जीवित्व-लिंगक कृति-साध्यता-ज्ञानं स्वरूप वहां के लिए निर्धारित प्रवर्त्तक वहां हो पाने के कारण संध्यावन्दन-आदि नित्य-कृत्यों में प्रवृत्ति की अनुपपत्ति होगी नहीं। परंतु ऐसा कहने पर पर्व-विशेष की प्राप्ति आदि स्वरूप निमित्त के आने पर ही कर्तव्य, ग्रहण-स्नान श्राद्ध, नामकरण-संस्कार, कृष्णजन्माष्टमी, रामनवमी, आदि प्रयुक्त विशिष्ट-पूजन आदि, अन्य सभी दिनों में भी कर्तव्य रूप में आपन्न हो उठेंगे।

क्योंकि प्रातःकाल आदि स्वरूप विहितकाल स्वगत शुचिता एवं सामर्थ्य आदि अन्य दिनों में अपने में ज्ञात होने के कारण तल्लिगक कृति-साध्यता-ज्ञान अन्य दिनों में भी सुलभ होगा जिसे कि प्रवर्तक माना गया है। अतः मीमांसकों की ओर से उक्त प्रकार नैमित्तिक कर्मों में होने वाली प्रवृत्ति का कारण शास्त्र-वर्णित निमित्त-प्राप्ति-ज्ञानाधीन कृति-साध्यता-ज्ञान को बतलाया गया है। ऐसा मानने पर अन्यदा नैत्तिककर्मों में प्रवृत्ति इसलिए आपन्न नहीं हो सकती कि अभ्रान्त व्यक्ति को अन्यदा निमित्त का ज्ञान होगा नहीं कि तज्जन्य कार्यता-ज्ञान यज्ञ आदि काम्य कर्म में हो सकेगा। अतः प्रवृत्ति होगी। नित्य कर्मस्थलों में 'मैं

शुचि हूँ समर्थ हूँ तथा प्राप्त-विहित काल हूँ' इस प्रकार अपने में विशेषणवत्ता का ज्ञान हो सकने के कारण तज्जन्य कार्यता-ज्ञान होकर प्रवृत्ति हो जायेगी। नैमित्तिक कार्यस्थल में' मैं अमुक-निमित्तवान् हूँ इस प्रकार निमित्तात्मक-विशेषण-वत्ता का ज्ञान अपने में हो सकने के कारण तज्जन्य कार्यताज्ञान ग्रहण-स्नान श्राद्ध आदि में होकर उनमें प्रवृत्ति होगी। इसलिए आपत्ति या अनुपत्ति भी नहीं होगी और तीनों प्रवर्तक कारणों का उल्लेख 'स्वविशेषणवत्ता-प्रतिसंध्यान-जन्य कार्यता-ज्ञान' इस एक शब्द से ही होगा इसलिए उक्त अननुगम दोष भी नहीं दिया जा पायेगा, यह मीमांसकों का आशय समझना चाहिए।

दीपिकाकार ने इस प्रकार मीमांसक पक्ष को पुष्टरूप में उपस्थित करके अपनी ओर से उसका खंडन 'तत्र लाघवेन कृति-साध्येष्ट-साधनता-ज्ञानस्यैव चिकीर्षाद्वारा प्रवृत्ति-जनकत्वात्' इस कथन के द्वारा इस प्रकार किया गया है कि प्रवृत्ति के प्रति अनुगत रूप से जिस स्वविशेषणवत्ता-प्रतिसंधानजन्य-कार्यता-ज्ञान को प्रवर्तक मीमांसा पक्ष से माना गया है वह भी नैयायिक वैशेषिकाभिमत 'कृतिसाध्यता एवं इष्टसाधनता-ज्ञान' से कहीं अधिक गौरव ग्रस्त है। खास कर उक्त मीमांसकाभिमत प्रवर्तक के कारण-शरीर के अंदर आने वाले विशेषणत्व जन्यत्व आदि का गुरु-शरीर निर्वचन उपस्थित करने पर तो वह और गौरवाक्रांत हो जायेगा। इसलिए प्रवृत्ति-मात्र के प्रति कृतिसाध्यता तथा इष्ट-साधनता के ज्ञान को ही कारण मानना चाहिए।

ऐसा कहने पर मीमांसक संध्यावन्दन आदि नित्यकर्मों में प्रवृत्ति की अनुपपत्ति दिखला सकते हैं। क्योंकि नित्य कर्म का वे कोई फल मानते नहीं। उनका नित्य-कर्म के संबंध में कहना यह है कि जिसके न करने से तो पाप लगे, किंतु करने से कोई फल मिले नहीं, वही कर्म कहलाता है नित्य-कर्म। संध्यावन्दन आदि ऐसे ही हैं। इसलिए उनमें इष्ट-साधनता हो नहीं सकती। इसलिए दीपिकाकार ने इसका उत्तर यह कहकर दिया है कि जब नित्य-कर्म के न करने पर पाप लगता है तब पाप का अभाव ही नित्य ही नित्य-कर्म का फल हो गया। अतः उसमें इष्ट-साधनता हो जाने के कारण उस इष्ट-साधनता से सहित कृति-साध्यता स्वरूप कार्यता के ज्ञान से वहां भी प्रवृत्ति हो जायेगी। अनुपत्ति नहीं दी जा सकती।

दीपिका

ननु ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत इत्यत्र लिङा स्वर्गसाधनम् अपूर्वं कार्यं प्रतीयते। यागस्याशुतरविनाशिनः कालान्तरभाविस्वर्गसाधनत्वायोगात् तद्योग्यस्थापि-कार्यमपूर्वमेव लिङर्थः। कार्यं कृति साध्यम्। कृतेः

सविषयत्वात् विषयाकांक्षायां यागो विषयतयाऽन्वेति। कस्य कार्यमिति नियोज्याकांक्षायां स्वर्ग-काम-पदं नियोज्यपरतयाऽन्वेति। कार्यबोद्धा नियोज्यः। तेन ज्योतिष्टोमनामकयाग-विषयकं स्वर्गकामस्य कार्यमिति वाक्यार्थः सम्पद्यते। वैदिकलिङ्त्वात् 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादिति नित्यवाक्येऽप्यपूर्वमेव वाच्यं कल्प्यते। 'आरोग्य-कामो भेषजपानं कुर्यात्' इत्यादौ लौकिकलिङः क्रियाकार्ये लक्षणेति चेन्न। यागस्याप्ययोग्यता-निश्चयाभावेन इष्ट-साधनतया प्रतीत्यनन्तरं तन्निर्वाहार्थमवान्तर-व्यापारतयाऽपूर्वकल्पनात्।

अनुवाद

'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' यहां लिङ् से स्वर्ग का साधनभूत अपूर्वात्मक कार्य प्रतीत होता है। क्योंकि शीघ्रविनाश-शील याग स्वतः कालातंर में मिलने वाले स्वर्ग का साधक बन सकता नहीं। अतः उसके योग्य अपूर्वात्मक स्थायी कार्य ही लिङ् आदि का अर्थ हो सकता है। कार्य का अर्थ है कृति साध्य। कृति नियमतः सविषयक होती है इसलिए विषय की आकांक्षा होने पर याग विषयरूप से अन्वित होता है। किसका कार्य होगा ? इस प्रकार नियोज्य की आकांक्षा होने पर स्वर्ग-काम पद नियोज्यार्थक होकर अन्वित होता है। कार्य को अपना समझने-वाला होता है नियोज्य। इसलिए 'ज्योतिष्टोमनामक याग स्वर्ग-कामव्यक्ति का कार्य है' यह वाक्यार्थ सम्पन्न होता है। वैदिक लिङ् होने के कारण 'यावज्जी-वमग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि नित्यविधिवाक्य-स्थल में भी लिङ् का वाच्य अपूर्व ही है, यह अनुमान किया जाता है। 'आरोग्य-कामोषभेषजपानं कुर्यात्' इत्यादि लौकिक-स्थल में क्रिया-कार्य में लक्षणा होगी। इत्यादि बातें नहीं कही जा सकती हैं। क्योंकि अयोग्यता निश्चयात्मक बाघ के अभाव से इष्टसाधन रूप में याग की प्रतीति होने के अनतंर इष्ट-साधनता के निर्वाह के लिए मध्यवर्ती व्यापार रूप में अपूर्व की कल्पना होती है।

विवरण

मीमांसकों के अंदर भी लिङ्र्थ के संबंध में मतैक्य नहीं है महामीमांसक भट्ट कुमारिल का संप्रदाय जहां पर पूर्वोक्त कथन के अनुसार कृतिसाध्यता स्वरूप कार्यता को लिङ् का अर्थ मानते हैं इसलिए उस संप्रदाय में कृति-साध्यत्व ही विधि होता है, वहां गुरु प्रभाकर का संप्रदाय वैसा न मानकर अपूर्व को अर्थात् याग आदि वेद विहित क्रियाओं के करने से प्राप्त होने वाले पुण्य को विधि लिङ् का अर्थ मानते हैं अतः गुरु प्रभाकर के मत में वह पुण्यात्मक अपूर्व ही विध्यर्थ माना जाता है।

ऐसा मानने का कारण वे लोग यह बतलाते हैं कि कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' अर्थात् स्वर्ग का इच्छुक व्यक्ति ज्योतिष्टोमनामक याग करे इस विधि वाक्य के अनुसार याग में प्रवृत्त इसलिए नहीं हो सकता कि वह ऐहिक स्वस्थ जीवन में किये जाने वाले याग और मरने के अनतंर मिलने वाले स्वर्ग इन दोनों के बीच विद्यमान महान् कालिक दूरी को देखते हुए याग को अति परवर्ती स्वर्ग का साधक नहीं समझ सकता। और वैसा न समझने पर याग में कर्तव्यता स्वरूप लिङ्र्थ कार्यता का निर्णय नहीं कर सकता। इसलिए यागगत कृतिसाध्यतात्मक कार्यता को विधिलिङ् का अर्थ न मानकर कृति-विषय याग के द्वारा संपाद्य अदृष्ट पुण्य को लिङ्र्थ मानना उचित होगा। ऐसा मानने पर उक्त ज्योतिष्टोमेन यजेत आदि विधि वाक्य से याग में प्रवृत्ति होने में बाधा इसलिए नहीं होगी कि स्वर्गार्थी व्यक्ति को याग जनित पुण्य को स्वर्ग प्राप्ति के अव्यवहित पूर्व काल तक विद्यमान समझ सकने के कारण उस पुण्यार्जन के लिए स्वर्गजनक याग में भली भांति प्रवृत्ति हो पायेगी, उक्त स्वर्ग कामोज्योतिष्टोमेन यजेत आदि वेदवाक्य, विधायक अर्थात् प्रवर्तक हो सकने के कारण अब सचमुच विधि-वाक्य कहलाने का अधिकारी भी बन पायेगा। अतः कृति साध्यत्व को विधि न मानकर अदृष्ट को अर्थात् पुण्य को विधिलिङ् का अर्थ, अतएव विधि, मानना चाहिए।

परंतु प्रकृत न्याय वैशेषिक दृष्टिकोण में याग और स्वर्ग आदि, कारण तथा कार्य के बीच पुण्यात्मक अदृष्ट की मान्यता अपेक्षित होने पर भी उस अपेक्षित पुण्यात्मक अदृष्ट को विधिलिङ् का अर्थ मानने की आवश्यकता नहीं है, अतः प्रभाकर सम्मत अदृष्ट लिङ्र्थवाद भी खंडनीय है। इसलिए दीपिकाकार ने भट्ट-मत-सिद्ध लिङ्र्थ वाद का खंडन कर, प्रभाकर-सम्मत लिङ्र्थ वाद को भी खंडनार्थ उपस्थित किया है 'ननु ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत इत्यत्र लिङ्' इत्यादि से आरंभ कर 'लौकिक लिङ्ः क्रिया कार्य लक्षणा इत्यनन कथन के द्वारा। इसके बीच प्रभाकर पक्ष पर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि अदृष्ट को लिङ्र्थ मानने पर ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्यों की बोध प्रक्रिया का होगी? कैसा वाक्यार्थ बोध होगा? अतः उक्त विधि वाक्य के प्रत्येक पद का अर्थ बतलाते हुए प्रभाकर सम्मत वाक्यार्थ बोध बतलाया गया है 'कार्यं कृतिसाध्यम्' यहां से प्रारंभ कर' तेन् ज्योतिष्टोमनामक यागविषयकं स्वर्ग कामस्य कार्यमिति वाक्यार्थः संपद्यते।' यहां तक के ग्रंथ द्वारा। प्रभाकर पक्ष की उक्ति के रूप में यह कहा गया है कि—कार्य का अर्थ होता है कृतिसाध्य, कृति नियमतः सविषयक होती है इसलिए विषय की आकांक्षा होने पर उसकी पूर्ति याग के द्वारा होगी। फलतः साक्षात् कृति का विषय होगा याग, परंतु उस याग से पुण्यात्मक वह अपूर्व अनायास

निष्पन्न होगा जो कि स्वर्गात्मक फल के साधक रूप में अपेक्षित होगा, अतः कृति-साध्ययाग-निष्पाद्य-स्वर्ग के साधक रूप में वह भी कृतिसाध्य अर्थात् कार्य माना जायेगा। याग एवं तज्जन्य अपूर्व किसका कार्य होगा ? क्योंकि प्रत्येक कार्य किसी न किसी कर्ता का ही कार्य होता है यह जिज्ञासा उपस्थित होने पर स्वर्ग-काम व्यक्ति नियोज्य रूप में अर्थात् कर्तृत्वेन क्रिया में योजनीय रूप में संबद्ध होगा। नियोज्य वह व्यक्ति होता है जो कि याग एवं तज्जन्य अपूर्व को अपना कार्य समझता है।

इसलिए पूरे 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' इस विधि वाक्य का अर्थ यह है कि ज्योतिष्टोमनामक-याग-जन्य-अपूर्व स्वर्गकाम व्यक्ति का कृति साध्य है। काम्य-विधि-वाक्य के समान नित्यविधि-वाक्य स्थल में भी इस मत में पण्ड अपूर्व को लिङर्थ माना गया है। पण्ड का अर्थ है नपुंसक, फलतः निष्फल। इस प्रकार अपने मत को प्रभाकर-पक्षियों द्वारा विशद रूप में उपस्थापित होने पर एक प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि वैदिक-विधि-वाक्य-स्थल में इस प्रकार कथन संगत होने पर भी लौकिक-विधि-वाक्य-स्थल में यह प्रक्रिया कैसे संगत होगी ? क्योंकि वहां तो अपूर्व की संभावना रहेगी नहीं। किसी भी लौकिक क्रिया के करने पर तो पुण्य की उत्पत्ति होती नहीं। अतः इस प्रश्न को मन में रख कर प्रभाकर पक्षियों की ओर से यह उत्तर दिया गया है कि 'आरोग्य कामो भेषजपानं कुर्यात्' अर्थात् आरोग्य-काम व्यक्ति-भेषज-पान करे इत्यादि लौकिक-वाक्यस्थल में भेषज-पानात्मक-क्रिया-स्वरूप कार्य में लिङ् की लक्षणा करके भेषज पान की ही कार्यता समझी जायेगी। अतः वहां अदृष्टात्मक कार्य के न होने पर भी कोई बाधा उपस्थित होगी नहीं।

इस प्रकार लिङर्थ के संबंध में प्रभाकर सम्मत मतवाद को उपस्थित करके दीपिकाकार ने उसका खंडन 'इतिचेन्न यागस्थाप्य योग्यतानिश्चयाभावेन' इत्यादि कथन के द्वारा किया है। इस खंडन-ग्रंथ का अभिप्राय यह है कि जहां तक याग और स्वर्ग आदि फलों के बीच अदृष्ट की मान्यता का प्रश्न है उसमें तो न्याय-वैशेषिक को भी किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति है नहीं। इसीलिए आचार्य उदयन ने भी कहा है—

'चिरध्वस्तं फलायाऽलं न कर्माऽतिशयं बिना। परंतु उस अदृष्ट को विधि-वाक्य-घटक लिङ् का अर्थ मानने का कोई प्रयोजन नहीं। इसलिए विधि-वाक्यार्थ-बोध के अंदर अदृष्ट को विषय नहीं बनाया जा सकता। रही बात प्रवृत्ति की तो सो स्वर्ग-काम व्यक्ति अदृष्ट की मान्यता के बिना वेदोक्त याग-गत कारणता की अनुपपत्ति देखकर अर्थापत्यागक अनुमान से अदृष्ट की कल्पना करके याग में प्रवृत्त हो जायेगा। अतः प्रभाकर-सम्मत उक्त विध्यर्थवाद भी स्वीकरणीय नहीं। कृतिसाध्यतासहित इष्टसाधनता को ही विध्यर्थ मानना चाहिए।

दीपिका

कीर्तिनादिना नाशश्रुतेर्यागध्वंसो न व्यापारः। लोकव्युत्पत्तिबलात् क्रियायामेव कृतिसाध्येष्टसाधनत्वं लिङा बोध्यत इति लिङ्त्वेन रूपेण विध्यर्थकत्वम्। आख्यातत्वेन प्रयत्नार्थकत्वम्। पचतीत्यस्य पाकं करोतीति विवरणदर्शनात्, किं करोतीति प्रश्ने पचतीत्युत्तराच्चाख्यातस्य प्रयत्नार्थकत्व निश्चयात्। रथो गच्छतीत्यादावनुकूलव्यापारे लक्षणा। देवदत्तः पचति तण्डुलान्, देवदत्तेन पच्यते तण्डुलः इत्यतः कर्तृकर्मणोर्नाख्यातार्थत्वम्। किन्तु तद्गतैकत्वादीनामेव। तयोराक्षेपादेव लाभः। प्रजयतीत्यादौ धातोरेव प्रकर्षे शक्तिः। उपसर्गाणां द्योतकत्वेन न तत्र शक्तिरस्ति।

अनुवाद

कीर्तन आदि के द्वारा नाश श्रवण के कारण यागध्वंस को व्यापार नहीं माना जा सकता। लोकसिद्ध बोध के आधार पर लिङ् के द्वारा क्रिया में ही कृतिसाध्यत्व तथा इष्टसाधनत्व की प्रतीति होती है, इसलिए लिङ् स्वगत लिङ्त्व-धर्म-युक्त रूप में विध्यर्थक होता है और स्वगत आख्यातत्व धर्मयुक्त रूप में प्रयत्नार्थक। क्योंकि 'पचति' इसकी व्याख्या 'पाकं करोति' अर्थात् पाक कर रहा है इस प्रकार की जाती है। एवं किं करोति ? इस प्रश्न का उत्तर 'पचति' कह कर दिया जाता है।

इससे आख्यात प्रयत्नार्थक है यह मत निश्चित है। 'रथोगच्छति' इत्यादि वाक्य-प्रयोग-स्थलों में अनुकूल व्यापार अर्थ में आख्यात की लक्षणा समझनी चाहिए। 'देवदतः पचति तण्डुलान्' एवं 'देवदत्तेन पच्यते तण्डुलः' इत्यादि वाक्य-प्रयोग-स्थलों में आख्यात का अर्थ कर्ता एवं कर्म नहीं। किंतु तद्गत एकत्व आदि ही ज्ञातव्य हैं। कर्ता और कर्म का लाभ आक्षेप से ही होता है। प्रजयति इत्यादि प्रयोगस्थल में प्रकर्ष भी धातु का ही अर्थ होता है। क्योंकि उपसर्ग द्योतक होते हैं वाचक नहीं। इसलिए उपसर्ग में शक्ति मान्य नहीं।

विवरण

कदाचित् किसी की ओर से यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि अर्थापत्ति प्रमाण से दूर पूर्ववर्ती याग और उससे दूर उत्तरवर्ती स्वर्ग के बीच कोई व्यापार भले ही निश्चित रूप से सिद्ध हो पाये परंतु वह व्याप्रार अदृष्ट-नामक गुण होता है यह नहीं हो सकता। क्योंकि याग के ध्वंस को भी याग का व्यापार मानकर अनुपपत्ति का निवारण किया जा सकता है, अतः दीपिकाकार

ने याग और स्वर्ग के बीच याग का ध्वंस व्यापार नहीं माना जा सकता, इसे इस युक्ति से स्थिर किया है कि शास्त्रों में यह स्पष्ट वर्णन पाया जाता है कि धार्मिक व्यक्ति यदि अपने धर्म की बखान करता फिरता है तो उसका यागादिकर्म से उपार्जित धर्म नष्ट हो जाता है इसलिए स्वर्ग फल मिलता नहीं। यदि याग और स्वर्ग के बीच व्यापार रूप में धर्म माना ही न जाय तो उसकी बखान से होने वाले उसके नाश की बात कैसे संगत हो पायेगी ? ध्वंस का ध्वंस तो होता नहीं कि याग ध्वंस के ध्वंस की बात और स्वर्ग न मिलने की बात याग-ध्वंसात्मक व्यापार को लेकर संगत की जा सके।

अतः याग-ध्वंस को व्यापार न मानकर धर्मात्मक अदृष्ट को ही याग और स्वर्ग के बीच व्यापार मानना होगा। समस्त आख्यात प्रत्यय का अर्थ जब कि प्रयत्न है तब आख्यात के अंतर्गत होने वाले लिङ् प्रत्यय का अर्थ कैसे विधि को अर्थात् कृति-साध्यत्व और इष्ट-साधनत्व को माना जाय ? यह प्रश्न उठाया जा सकता है, अतः उसके निराकरणार्थ दीपिकाकार ने 'लोक-व्युत्पत्तिबलात्' यहां से लेकर 'प्रयत्नार्थकत्व निश्चयात्' यहां तक की पंक्तियां लिखी हैं। इसका आशय यह है कि 'पचति' इसके अंदर आने वाले 'ति' का विवरण यतः 'करोति' इस प्रकार प्रयत्नार्थक 'कथ्य' धातु का प्रयोग करके किया जाता है, और 'किं करोति' इस प्रकार प्रश्न का उत्तर यतः 'पाकं करोति' इस प्रकार दिया जाता है अतः आख्यात प्रत्यय का अर्थ प्रयत्न है यह भी निर्विवाद है और लिङ् दशलकारात्मक आख्यात के अंदर ही एक है यह भी निर्विवाद है परंतु लिङ् में जब कि व्यापक धर्म आख्यातत्व और व्याप्य धर्म लिङ्त्व दोनों विद्यमान हैं तो आख्यात होने के नाते उसका अर्थ प्रयत्न हो और लिङ् होने के नाते उसका अर्थ कृति-साध्येष्ट-साधनत्व रूप विधि हो इसमें कोई असामंजस्य नहीं बतलाया जा सकता। अतः लिङ् का अर्थ विधि निश्चित है। आख्यात का अर्थ प्रयत्न होता है इसके विरुद्ध कुछ लोग यह कहते हैं कि आख्यात का अर्थ प्रयत्न मानने पर 'रथोगच्छति' इस वाक्य से वाक्यार्थ बोध नहीं हो पायेगा। क्योंकि जड़ होने के कारण रथ में प्रयत्न संभव नहीं। प्रयत्न तो चेतन आत्मा का गुण है। इसलिए आख्यात का अर्थ प्रयत्न न मानकर व्यापार मानना चाहिए। अतः इस मतवाद का खंडन दीपिकाकार ने यह कह कर किया है कि रथोगच्छति ऐसे वाक्य स्थलों में आख्यात की व्यापार में लक्षणा मान कर बोध कर लिया जायगा, किंतु अन्य अनेक वाक्य-प्रयोग के अनुरोध से आख्यात का अर्थ प्रयत्न ही मानना चाहिए। जो लोग आख्यात का अर्थ कर्ता कर्म आदि मानते हैं उन वैयाकरणों के मतवाद का खंडन यह कह कर किया गया है कि कर्ता कर्म आदि अर्थ तो अर्थापत्यात्मक अनुमान प्रमाण से ही उपलब्ध हो जाते हैं अतः आख्यात को तदर्थक मानना

उचित नहीं । हां प्रयत्न के समान कर्तृ कर्म गत संख्या को भी आख्यात का अर्थ मानना उचित है । एक शब्द के अनेक अर्थ होते ही हैं इसलिए आख्यात प्रयत्नार्थक के समान संख्यार्थक भी होता है । यहां प्रसंगवश यह भी बतला दिया गया है कि प्र आदि उपसर्गों को वाचक नहीं द्योतक ही मानना चाहिए । प्रकर्ष आदि भी धातु के ही अर्थ होते हैं—'प्र' आदि उपसर्ग के नहीं ।

दीपिका

पदार्थतत्त्वज्ञानस्य परमं प्रयोजनं मोक्षः । तथाहि 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः 'इत्यादि श्रुत्या श्रवणादीनामात्मसाक्षात्कारहेतुत्वबोधनात् । श्रुत्या देहादिबिलक्षात्मज्ञाने सत्यप्यसम्भावना निवृत्ते नुक्तानुसन्धानरूपमननसाध्यत्वात् मननोपयोगिपदार्थनिरूपण-द्वारा शास्त्रस्यापि मोक्षोपयोगित्वम् । तदनन्तरं श्रुत्युपदिष्टयोगविधिना निदिध्यासने कृते तदनन्तरं देहादिविलक्षणात्मसाक्षात्कारे सति देहादावहमित्यभिमानरूपमिथ्याज्ञाननाशे सति दोषाभावात् प्रवृत्त्यभावे धर्माधर्मयोरभावात् जन्माभावे पूर्व-धर्मा-धर्मयोरनुभवेन नाशे चरमदुःखध्वंसलक्षणो मोक्षो जायते । ज्ञानमेव मोक्षसाधनम् । मिथ्याज्ञाननिवृत्ते ज्ञानमात्र-साध्यत्वात् । "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति साधनान्तरनिषेधाच्च । ननु तत्प्राप्तिहेतुर्विज्ञानं कर्मचोक्तं महामुने । इति कर्मणोऽपि मोक्षसाधनत्व-स्मरणात् ज्ञानकर्मणोः समुच्चय इति चेन्न । नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम् । ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन च पाचयेत् । अभ्यासात् पक्व-विज्ञानः कैवल्यं लभतेनरः ॥ इत्यादिना कर्मणो ज्ञान-साधनत्वप्रतिपादनात् । ज्ञानद्वारैव कर्ममोक्षसाधनं न साक्षात् । तस्मात् पदार्थतत्त्वज्ञानस्य मोक्षः प्रयोजनमिति सर्वं रमणीयम् ।

इति श्रीमदन्नम्भट्टेन कृता स्वकृततर्कसंग्रहस्य दीपिका ।
समाप्ता ।

अनुवाद

पदार्थ तत्त्व ज्ञान का परम प्रयोजन है मोक्ष । यथा—'आत्मा वारेद्रष्टव्यः श्रोत व्यो मंत को निदिध्यासितव्यः' इस श्रुति के द्वारा श्रवण मनन आदि आत्म-साक्षात्कार के प्रति कारण हैं, यह ज्ञान होने के कारण, यह स्पष्ट रूप से प्रतीति होता है कि—श्रवण से आत्मा, देहइंद्रिय आदि से विलक्षण है यह ज्ञान होने पर भी, उसके संबंध में होने वाली असंभावना की निवृत्ति मनन से ही हो सकती

है अतः शास्त्र भी मननोपयोगी पदार्थों के निरूपण द्वारा मोक्ष का उपयोगी होता है। मनन के अनंतर वेदवर्णित योग विधान के अनुसार निदिध्यासन करने पर आत्मा का देह आदि से अतिरिक्त रूप में वह साक्षात्कार उत्पन्न निर्मित्त-प्राप्ति-ज्ञानाधीन कृति-साध्यता-ज्ञान स्वरूप प्रवर्तक जुट पायेगा।

इस प्रकार प्रवृत्ति की अनुपपत्ति एवं आपत्ति का वारण मीमांसकों की ओर से किये जाने पर भी उन्हें यह दोष दिया जा सकता है कि इस प्रकार तीन प्रकार के कर्मों में होने वाली प्रवृत्तियों के प्रति तीन प्रकार ये कारण मान्य हो पड़ने के कारण अननुगम दोष होगा अर्थात् सब प्रवृत्ति के प्रति एकरूप से कार्य-कारण-भाव मीमांसा-सिद्धांत में संभव नहीं हो पायेगा। अतः इस दोष के निराकरणार्थ मीमांसकों की ओर से यह उपाय उपस्थित किया गया है कि सब प्रवृत्ति के प्रति एक रूप से कारण कहेंगे 'स्वविशेषणवत्ता-प्रतिसंधान-जन्य कार्यता-ज्ञान को। इसलिए कार्य-कारण-भावगत अनेकता भी आपन्न होगी नहीं। इसका अर्थ यह विवक्षित है कि अपने में होने वाला जो विशेषणवत्ता का अर्थात् विशेषण-युक्तता का प्रतिसंधान अर्थात् ज्ञान, तज्जन्य अर्थात् उससे होने वाला जो कर्म में कार्यता का अर्थात् कृतिसाध्यता का ज्ञान वह है प्रवर्तक।

काम्य कर्मस्थलों में 'मैं अमुक फल चाहता हूँ' इस प्रकार फल-कामनात्मक विशेषण-युक्तता का ज्ञान अपने में हो सकने के कारण होता है जिसके फलस्वरूप देह इंद्रिय आदि में होते रहने वाले आत्मत्वाभिमान की निवृत्ति हो जाने पर दोष का अभाव हो जाने के कारण नवीन धर्मा धर्मात्मक प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है।

तदनन्तर उसे जन्म का अभाव और पूर्व कृत धर्माधर्म का फलानुभव द्वारा नाश हो जाने पर चरमदुख ध्वंस स्वरूप मोक्ष होता है। मोक्ष का साधक ज्ञान ही है। क्योंकि मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति तत्त्वज्ञान से ही हो सकती है और 'तमेव-वित्वा ति मृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यते नाय' इस श्रुति के अनुसार मोक्ष के प्रतिकारणान्तर का निषेध भी पाया जाता है। यहां यह आशंका उचित नहीं कि 'तत्प्राप्ति हेतुर्विज्ञानं कर्मचोक्तं महामुने' इस स्मृति-वाक्य के अनुसार कर्म भी मोक्ष का साधक है यह प्राप्त होने के कारण ज्ञान और कर्म दोनों मोक्ष का कारण मानना उचित है क्योंकि—'नित्यनैमितिकैरेव कुर्वाणोदुरितक्षयम्। ज्ञानं चविमलीकुर्वन्नध्यासेनचपाचयेत्। अभ्यासात्मकविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः' इस स्मृति वाक्य द्वारा कर्म को ज्ञान का ही कारण बतलाया गया है। अतः कर्म ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष का साधक होता है, साक्षात् भाव से नहीं। इसलिए पदार्थतत्व-ज्ञान का फल मोक्ष है। ऐसा मानने पर पूर्ण सामंजस्य प्राप्त होता है।

॥ इति ॥

लखनऊ-विश्वविद्यालय-प्राच्यविभाग-प्रधान-वेदान्त-वागीश साहित्यालंकार आनन्द झा न्यायाचार्य-कृत-तर्कसंग्रहदीपिकानुवाद समाप्त।

विवरण

तर्क संग्रह आदि के अध्ययन का फल क्या है यह जिज्ञासा अनायास उठ सकती है। इसलिए यहां अंत में यह कहा गया है कि पदार्थ तत्त्व ज्ञान का परम प्रयोजन मोक्ष है। यहां 'परम' इस विशेषण को प्रयोजन के साथ जोड़कर यह बतलाया गया है कि द्रव्य आदि पदार्थों का तात्त्विक ज्ञान केवल मोक्ष के लिए ही नहीं सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन के लिए भी नितांत अपेक्षित है। क्योंकि इस जीवन काल में जो भी प्रवृत्ति होती है वह भी इन द्रव्य गुण कर्म आदि पदार्थों से अवश्य संबंध रखने वाली होती है।

प्रवृत्ति नियमतः सुख के साधन एवं दुखाभाव के साधन में ही हुआ करती है, और वे साधन प्रायः द्रव्य गुण कर्म आदि पदार्थों के अन्तर्गत ही हुआ करते हैं। जबकि संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं दिखलायी जा सकती जो कि इन सात पदार्थों से बाहर चली जा सके, तब वे सुख या दुखाभाव के साधन भी कैसे इन द्रव्य आदि सात पदार्थों के बाहर जा सकते? जिन्हीं के लिए प्रत्येक व्यक्ति इसलिए चेष्टा शील हुआ करता कि वह मुख्य रूप से अपेक्षित होने वाला सुख एवं दुख का अभाव अपने साधनभूत उन उपयोग-योग्य खाद्य लत्ते कपड़े आवास स्त्री पति पुत्र आदि अपेक्षित सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति एवं विष, सांप काटे, रोग कीटाणु आदि अनपेक्षित सांसारिक वस्तुओं की अप्राप्ति के अधीन ही हुआ करते हैं। अतः सारे वांछनीय, द्रव्य गुण आदि उक्त सात पदार्थ के ही अंतर्गत हैं। जीवन गत प्रत्येक प्रवृत्ति की सफलता उस यथार्थ ज्ञान के ही ऊपर आश्रित होती है जो कि प्रवृत्ति-विषय बनने वाले उक्त उपयोग योग्य सांसारिक वस्तुओं को ही विषय बनाकर उदित होता है।

इसे समझने के लिए उदाहरण की कमी नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रत्येक सफल एवं विफल प्रवृत्ति को लेकर इस बात को भली भांति समझ सकता है कि किसी भी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए होने वाली उसकी प्रवृत्ति भी सफल होती है। जब कि वह उस वस्तु को सही रूप में समझ कर ही उसकी ओर प्रवृत्तिशील होता है। चांदी चाहने वाला व्यक्ति-चांदी को ही चांदी समझ कर यदि उसे पाने के लिए उसकी ओर अग्रसर होता है तभी वह चांदी पाता है, उधर अग्रसर-होना-स्वरूप उसकी प्रवृत्ति सफल होती है। जब कभी वह भूल कर-बैठता है सूर्य की किरणों से चमकते हुए सीप को चांदी समझ बैठता है और चांदी पाने की इच्छा से उस सीप की ओर प्रवृत्त हो उठता है तो उसकी वह

अग्रसरता-स्वरूप प्रवृत्ति अवश्य निष्फल हो उठती है, सफल नहीं होती है, वह चांदी नहीं पाता है। इसीलिए यह सिद्धांत अकाट्य है कि प्रवृत्ति की सफलता के लिए अभीष्ट वस्तु का यथार्थ ज्ञान नितांत आवश्यक है, और प्रवृत्तियों की सफलता ही होती जीवन की सफलता और जनजीवनों की उसी सामूहिक सफलता का नाम होता है सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन।

इसलिए यह मानना सर्वथा अनिवार्य है कि सामाजिक सुव्यवस्था के लिए उक्त द्रव्य आदि सात पदार्थों का तात्त्विक ज्ञान, यथार्थ ज्ञान, नितांत आवश्यक है, पदार्थों का तत्त्व ज्ञान होने पर लौकिक जीवन सफल होता है।

दीपिका में प्रयोजन के साथ 'परम' यह विशेषण जोड़ने से यह बात प्राप्त होती है यह मेरा कथन इसलिए संगत है कि दीपिकाकार का अभिप्राय यदि केवल इतना ही होता कि द्रव्य आदि सात पदार्थों का विवेचन इसलिए किया गया है कि इन पदार्थों के तात्विक ज्ञान से उक्त आत्यन्तिक दुखनिवृत्ति-स्वरूप मोक्ष मिलता है तो वे अवश्य इतना ही कहते हैं कि 'पदार्थ तत्व ज्ञानस्य प्रयोजनं मोक्षः।' परंतु ऐसा न कहकर जब कि उन्होंने ऐसा कहा है कि 'पदार्थतत्वज्ञानस्य परमं प्रयोजनं मोक्षः' तो उनके इस कथन के फलितार्थरूप में यह स्पष्ट प्रतिभात होता है कि मोक्ष तो पदार्थ-तत्त्वज्ञान का परम अर्थात् चरम फलतः सर्वातिशायी प्रयोजन है किंतु उससे पूर्व मानवों के ऐहिक जीवन की सफलता भी उसका अपरम अर्थात् अचरम फलतः अवान्तर प्रयोजन है।

अब यहाँ अनायास प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि द्रव्य आदि पदार्थों के ज्ञान से मोक्ष कैसे मिल सकता है? इसलिए दीपिकाकार ने मोक्ष के प्रति सात पदार्थों के अंदर प्रथम-पदार्थ रूप में उपदिष्ट द्रव्य के अंदर आने वाले आत्म-पदार्थ के ज्ञान की अपेक्षा बतलाते हुए भूमिका के रूप में 'तथाहि आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यादि लिखा है। उन्होंने इसके द्वारा यह बतलाया है कि 'तमेवविदित्वा तिमृत्युमेतिनान्यः पन्था विद्यते नाय' इस श्रुति वाक्य के अनुसार जिसका अर्थ यह है कि अतिमृत्यु स्वरूप मोक्ष को कोई तभी प्राप्त कर सकता है जब कि वह उस आत्मा को सही रूप में जान ले, क्योंकि मोक्ष के लिए और कोई मार्ग है नहीं, आत्मा का साक्षात्कार मोक्ष का एक मात्र साधन है यह निर्विवाद है, और वह आत्मसाक्षात्कार कैसे मिल सकता है? इसके संबंध में श्रुति के अंदर यह बतलाया गया है कि—

'आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्योमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' अर्थात् आत्मा को देखने के लिए आत्म-संबद्ध श्रुतियों का श्रवण अर्थात् तात्पर्यार्थ का निर्धारण और मनन अर्थात् उसके संबंध में युक्तियों का अनुसंधान तथा निदिध्यासन अर्थात्

अविच्छिन्न तैलबिंदु धारा के समान निरंतरभाव से किया जाने वाला चिंतन ये तीनों अपेक्षित होते हैं।

इसके अनुसार जब कि आत्मा के साक्षात्कार से ही मोक्ष मिलना निश्चित है और आत्मा भी उक्त सात पदार्थों के ही अंतर्गत है तब पदार्थ तत्त्व ज्ञान के बिना मोक्ष हो सकता है यह नहीं कहा जा सकता। अतः पदार्थ-तत्त्व-ज्ञान को मोक्ष का साधन मानना होगा।

इस संदर्भ में कुछ लोग यह प्रश्न उठा सकते हैं कि जब आप्तवाक्यात्मक शब्द को एक स्वतंत्र प्रमाण माना गया है और श्रुति को अर्थात् वेद को न्याय-सिद्धांत में परमेश्वरोक्त रूप में विशेष महत्त्व प्राप्त है तब उक्त श्रुति तात्पर्य-निर्णयात्मक श्रवण से ही आत्म साक्षात्कार क्यों नहीं हो जायेगा? और यदि हो जायेगा तो मनन और निदिध्यासन की अपेक्षा क्यों होगी मोक्षार्थी को? साथ ही दूसरा प्रश्न यह भी मन में उठ खड़ा होता है कि मुक्ति को जीवन्मुक्ति परममुक्ति इन प्रभेदों में दो प्रकार माना जाता है, जिनके अंदर मुख्य मुक्ति वह परम-मुक्ति होती है जो कि आत्मज्ञानी व्यक्ति को शरीरपात होने पर अर्थात् मृत्यु होने पर ही प्राप्त होती है। परंतु जब कि आत्मसाक्षात्कार को मोक्ष का साधन माना जाता है तब आत्मसाक्षात्कार होते ही शरीर-पात होकर परम-मुक्ति ही क्यों नहीं मिल जाती है? और यदि वैसा माना जाय कि हाँ आत्म-साक्षात्कार होते ही शरीर-पात हो जाता है और परम-मुक्ति ही मिल जाती है, तब जीवन्मुक्ति को बिल्कुल स्थान नहीं मिल पाता। ऐसी परिस्थिति में जीवन्मुक्ति का अस्तित्व कैसे माना जाय? इन दो प्रश्नों के अंदर प्रथम का उत्तर दीपिकाकार ने 'श्रुत्या देहात्मविलक्षणात्मविज्ञानात्' इत्यादि के द्वारा दिया है। यहाँ उन्होंने यह बतलाया है कि महावाक्यों के श्रवण एवं तात्पर्याव धारण करने पर आत्मा को देह इंद्रिय आदि से अतिरिक्त समझ जाने पर भी आत्मा की शरिरादि विलक्षणता के संबंध में उठने वाली असंभावना की निवृत्ति हुए बिना देहादि से अतिरिक्त रूप में आत्मा का साक्षात्कारात्मक अर्थात् प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता नहीं। इसलिए श्रवण के अनंतर मनन और निदिध्यासन की अपेक्षा रह जाती है। मनन करने पर असंभावना की निवृत्ति होती है।

मुमुक्ष व्यक्ति श्रवण और मनन के अनन्तर जब श्रुति में वर्णित योग-विधान के अनुसार निदिध्यासन कर लेता है तब उसे आत्मा के देहादि-विलक्षण वास्तविक स्वरूप का स्पष्ट साक्षात्कारात्मक ज्ञान हो पाता है। संभव है कि कुछ लोगों के मन में यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि प्रकृत न्याय-वैशेषिक-शास्त्र का मोक्ष में कोई उपयोग है या नहीं? यदि उपयोग है नहीं तो पहले यह कैसे

कहा गया है कि पदार्थ-तत्त्व-ज्ञान का परम-प्रयोजन है मोक्ष। क्योंकि सात पदार्थों का तत्त्वज्ञान न्याय वैशेषिक शास्त्र से ही हो सकने के कारण पदार्थ-तत्त्व ज्ञान के द्वारा शास्त्र को भी मोक्षोपयोगी मानना ही होगा। और यदि कहा जाय कि हाँ शास्त्र मोक्षोपयोगी है तो उसे मोक्ष के प्रति सर्ववादि सम्मत रूप में कारण रूप में स्वीकृत श्रवण मनन और निदिध्यासन के बीच किसी के साथ सम्बद्ध होना चाहिए जिसके संबंध में अभी तक कुछ कहा नहीं गया है। अत: दीपिकाकार ने इस प्रश्न की निवृत्ति के लिए यहाँ यह कहा है कि 'मननोपयोगिपदार्थ-निरूपण-द्वारा शास्त्रस्यापि मोक्षोपयोगित्वम्।'

इस कथन का तात्पर्य यह है आत्मा शरीर नहीं है, इंद्रिय नहीं है मन नहीं है इत्यादि निर्णय रूप में अपेक्षित होने वाले देहादि विलक्षणता के निर्णयार्थ युक्ति का आश्रयण करते हुए यह बतलाना आवश्यक होगा कि आत्मा को क्यों नहीं देह ही माना जाय ? क्यों न इंद्रिय या मन आदि स्वरूप ही माना जाय ? इसलिए आत्मा अभौतिक है किंतु शरीर एवं इंद्रियां भौतिक हैं। मन अभौतिक होने पर भी व्यापक नहीं और आत्मा व्यापक है इत्यादि युक्तियों के उद्भावनार्थ बीच में उठने वाले प्रश्नों के निराकरणार्थ, समस्त सांसारिक पदार्थों का स्वरूप निर्णय, एवं निर्णय के लिए अपेक्षित होने वाली विचार-पद्धति का निर्णय अवश्य अपेक्षित माना जायेगा। इसलिए द्रव्यादि सात पदार्थों के रूप में किए गये वर्गीकरण के द्वारा समग्र सांसारिक पदार्थों का ज्ञान वैशेषिक-शास्त्र कराता है और प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन आदि के रूप में वर्गीकरण के द्वारा वास्तविक विचार-पद्धति का स्वरूप निर्णय करता है न्याय-शास्त्र।

अत: आत्मा की देहादि विलक्षणता के संबंध में युक्ति के अनुसंधानात्मक उस मनन के लिए जो कि मोक्ष के लिए असंभावना निवृत्त्यर्थनितांत अपेक्षित माना गया है, न्याय और वैशेषिक-शास्त्र दोनों की नितांत आवश्यकता है। इस तर्क-संग्रह को न्याय और वैशेषिक दोनों मतों का आश्रयण करके इसीलिए 'अन्नं भट्ट' ने बनाया है। इसलिए न्याय-वैशेषिकाभिमत पदार्थ स्वरूप के और विचार पद्धति के ख्यापन द्वारा यह तर्क संग्रहात्मक एक मिलित न्याय वैशेषिक शास्त्र भी मोक्षोपयोगी-मनन के लिए उपयोगी है।

बीच में अनेक अवांतर उपयोगी विचार को प्रस्तुत किये जाने पर भी वह प्रश्न अभी नहीं पूर्ण रूप से हल हो पाया है कि श्रवण मनन और निदिध्यासन द्वारा देह आदि से अतिरिक्त आत्मा का साक्षात्कार हो जाने पर तुरंत देह पात क्यों नहीं हो जाता है और परम-मुक्ति क्यों नहीं तुरंत हो जाती है ? आत्मज्ञानी व्यक्ति क्यों जीता रहता है ? जीवंमुक्ति क्यों होती है ? अत: महर्षि गौतम

के 'दुःखजन्मप्रवृत्ति-दोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इस सूत्र द्वारा उक्त पद्धति अपनाकर उक्त प्रश्न के समाधानार्थ दीपिकाकार ने 'तदनन्तर देहादिविलक्षणात्मसाक्षात्कारे सति' यहां से लेकर 'चरम दुःखध्वंस-लक्षणो मोक्षो जायते' यहां तक कहा है।

तात्पर्य यह है कि आत्म-साक्षात्कार होते ही मोक्ष इसलिए नहीं हो सकता कि तब तक संसारात्मक बन्ध के वे कारण नहीं निवृत्त हो गये होते हैं जिनके कारण वह मुमुक्षु व्यक्ति अनादिकाल से बंधा आता रहता है। आत्मा के साक्षात्कार होने पर सर्वप्रथम उस आत्म मिथ्याज्ञान का अभाव होता है जो कि जीवों के बंधन का मूल कारण होता है। आत्ममिथ्याज्ञान के नष्ट हो जाने पर उसी के अधीन होने एवं पनपने वाले राग द्वेष एवं मोह स्वरूप दोषों का अभाव हो जाता है। दोषों का अभाव हो जाने पर उस मुमुक्षु व्यक्ति की पापपुण्य-प्रद प्रवृत्तियां रुक जाती हैं। वह वैसा काम तब बिल्कुल नहीं करता जिनसे पाप या पुण्य स्वरूप गुण आत्मा में उत्पन्न हों। वैसी प्रवृत्तियों का अर्थात् कर्मों का अभाव हो जाने पर नये पाप पुण्य उत्पन्न नहीं होते। और पूर्वार्जित पाप और पुण्यों का नाश तज्जनित सुख दुःखानुभव के कारण हो जाता है। अतः सर्वथा धर्म और अधर्म से रहित हो उठने के कारण नवीन जन्म मिलता नहीं। अतः आगामी काल में भी दुःख नहीं हो पाता और पूर्ववर्ती सारे दुःख आत्यन्तिक रूप से नष्ट हो जाते हैं। दुखों का वह आत्यन्तिक नाश ही है मोक्ष यह बात पहले बतलायी जा चुकी है।

ऐसी परिस्थिति प्राप्ति के अनंतर ही कोई भी मुमुक्षु व्यक्ति पूर्णरूप से मुक्त हो पाता है उससे पूर्व नहीं। इसलिए श्रवण मनन और निदिध्यासन से आत्मसाक्षात्कार के होने पर भी तुरंत परम-मुक्ति नहीं हो पाती। सुतरां आत्मसाक्षात्कार होने से लेकर परम-मुक्ति की प्राप्ति से अव्यवहित पूर्व शरीर पातात्मक मृत्यु होने तक होने वाली मुमुक्षु व्यक्ति की परिस्थिति को जीवंमुक्ति माना जाता है। अतः परम मुक्ति की मान्यता के समान जीवन्मुक्ति की भी मान्यता अक्षुण्ण है।

संभव है यहां कुछ लोगों के मन में इस प्रकार का प्रश्न उठ खड़ा हो कि यह परिस्थिति इसलिए ही होती है कि आत्मसाक्षात्कार होने के अव्यवहित पर-क्षण में ही शरीरपात सर्वत्र नहीं माना जाता है, मृत्यु नहीं मान ली जाती है। यदि ऐसा मान लिया जाय कि आत्मसाक्षात्कार के होते ही मृत्यु हो जाती है तो फिर उसी समय परम मुक्ति प्राप्त हो सकती है जीवन्मुक्ति की मान्यता को फिर आवश्यक कैसे बतलाया जा सकता? इसके संबंध में ज्ञातव्य यह है कि जीवन्मु-

क्तिवादी दार्शनिकों ने इसके उत्तर में अन्यत्र अनेक स्थानों में यह कहा है कि क्रियमाण-कर्म के अतिरिक्त कर्म दो प्रकार के होते हैं। संचित और प्रारब्ध। इन दोनों के बीच संचित कर्म वह कहलाता है जो कि पूर्ववर्ती जमांतरों के अंदर प्राणियों द्वारा किया गया रहता है, और आपस में मिले हुए होने के कारण आत्मा में संचित रहता है, पुंजभाव-प्राप्त होता है। और प्रारब्ध कर्म वह कहलाता है जो कि उक्त-प्रकार संचित कर्मों के अंदर उग्रवीर्य होने के कारण वर्तमान जन्म का निष्पादक होता है।

इसीलिए योगदर्शन में महर्षि पतंजलि ने अपने 'विपाको जात्यायुर्भोगाः' इस सूत्र के द्वारा यह कहा है कि कर्म के अर्थात् प्रारब्ध कर्म के फल तीन होते हैं जन्मान्तर, आयु, और भोग। अर्थात् सुखदुःखों का अनुभव। संचित और प्रारब्ध इन दोनों के स्वभावों में महान अंतर यह होता है कि उक्त-प्रकार संचित-कर्म एक ही साथ आत्मसाक्षात्कारात्मक ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं जैसा कि भगवान् कृष्ण ने गीता में 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मशात् कुरुतेर्जुन' इस वाक्य के द्वारा अर्जुन को उपदेश दिया है। परंतु 'मा मुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटि शतैरपि' इस स्मार्त-वचन के अनुसार प्रारब्ध-कर्म आत्मसाक्षात्कार से नष्ट होता नहीं। उसका नाश भोग से ही होता है, उसके फलभूत सुख-दुख-साक्षात्कार के अर्थात्' मैं सुखी हूँ। 'मैं दुखी हूँ' इस अनुभव के अनन्तर ही हो पाता है। यह अनुभव जन्मान्तरीय शरीर और उसके जीवन-काल के बिना हो सकता नहीं। इसलिए वही प्रारब्धकर्म जो कि आगे चल कर उक्त-प्रकार सुख दुःखानुभव-स्वरूप भोग का उत्पादन करने वाला होता है, तदनुकूल जन्मान्तर-शरीर एवं जीवन काल भी उस कर्मी व्यक्ति को देता है जिस पर वह आश्रित होता है।

इस प्रकार जब कि प्रारब्ध कर्म अंतिम सुख दुःखोपभोग कराये बिना नष्ट नहीं हो सकता है और तब तक मुमुक्षु व्यक्ति के उस अंतिम शरीर का रहना भी आवश्यक होता है तब मुमुक्षु व्यक्ति के अंतिम शरीरगत जीवन काल के आदि या मध्य में ही जहां श्रवण मनन तथा निदिध्यासन से आत्मा का साक्षात्कार हो जायेगा वहां यह मानना ही होगा कि आत्म-साक्षात्कार होते ही मुमुक्षुव्यक्ति का शरीर पात नहीं होगा, उनकी मृत्यु नहीं हो जायेगी। किंतु जीते रहने पर भी उनके जीवन-धारणानुकूल चलने वाले सहजकर्म, आगे भोग-प्रद पाप पुण्यों को नहीं उत्पन्न कर पायेंगे अतः वे भी नवीन पुण्य-पाप-मुक्त उसी प्रकार हो जायेंगे जिस प्रकार परममुक्त नवीन-पाप-पुण्यों से मुक्त होते हैं। इस प्रकार जीवन और नवीन पुण्य-पाप-मुक्ति की समकालीनता के आधार पर उन्हें जीवन्मुक्त मानना उचित है।

अब किसी को यदि यह जिज्ञासा उदित हो कि जब गीता में 'ज्ञानानिः सर्व कर्माणि भस्मशात् कुरुते तथा' यहां पर कर्मपद के साथ सर्वपद लगा हुआ है तब क्यों न प्रारब्धकर्म का भी नाश आत्मसाक्षात्कार से मान लिया जाय, और ऐसा मान लेने पर फिर साक्षात्कार होते ही शरीर-पात संभव हो उठने के कारण जीवन्मुक्ति की मान्यता हट जाती है। तो ऐसा मानने में बाधा यह है कि ऐसा मानने पर 'माभुक्तं वीयते कर्म' यह उक्त स्मार्तवचन बाधित हो उठेगा। जैसा होना इसलिए उचित नहीं कि गीतावाक्यों की गणना भी स्मार्तवचनों में ही है। दोनों वचनों का प्रामाण्य समान है, दोनों की मान्यता समान है। इसलिए ऐसा सामंजस्य का मार्ग निकालना ही होगा जिससे 'दोनों में प्राप्त विरोध हटकर दोनों का प्रामाण्य समान रूप से अक्षुण्य रह सके। वह मार्ग यही हो सकता है कि अतीत कर्मों को प्रारब्ध और सञ्चित रूप में विभक्त करके प्रारब्ध को भोग-नाश्य और संचितों को आत्मसाक्षात्कार-नाश्य मान लिया जाय।

उक्त गीता वाक्य में सुना जाने वाला सर्व पद भी इसलिए असंगत नहीं हो पायेगा कि संचित के अंदर अनेक पूर्वजन्मान्तरीय असंख्य कर्म समाविष्ट रहते ही हैं और उनके अंदर एक भी ऐसा कर्म नहीं जो कि आत्मसाक्षात्कार से नष्ट न हो। उन नाश्यों की अशेषता विवक्षित होने के कारण अशेषतावाची सर्वशब्द का प्रयोग औचित्य को प्राप्त करता ही है। 'माभुक्तं क्षीयते कर्म' यहां पर कर्म पद एक वचनान्त रूप में प्रयुक्त होने के कारण उसकी एक मात्रता व्यक्त होती है जो कि प्रारब्ध के ग्रहण पक्ष में अनुकूल जंचती है। क्योंकि प्रारब्धकर्म एक ही माना जाता है वह संचित के समान समुदायात्मक होता नहीं।

दूसरी युक्ति यहां ध्यान देने योग्य यह है कि जन्म आयु और भोग ये तीनों ही जब कि पांतजलि योग-दर्शन गत उक्त सूत्र के अनुसार एक ही प्रारब्ध कर्म के फल होते हैं तब यह मानना आवश्यक होगा कि वह प्रारब्ध कर्म भोग आयु और तदंतर्गत आत्मसाक्षात्कार इन सबके पहले ही जन्मसंपादनार्थ क्रियाशील हो उठा रहता है। इसलिए धनुष पर छोड़ने के लिए चढ़ाया हुआ बाण छुटकर क्रियाशील हो जाने पर जैसे बीच में रुकता नहीं अपने वेग के अनुरूप गन्तव्य-स्थान पर पहुँच कर ही क्रिया-मुक्त होता है, तैसे जन्मान्तर देने के लिए पहले ही फलोन्मुख हो उठने वाला प्रारब्ध-कर्म बीच में होने वाले आत्मसाक्षात्कार से विरत न होकर, नष्ट न होकर, अंतिम सुखदुखोपभोग स्वरूप फल दिये बिना उपरत नहीं हो सकता, नष्ट नहीं हो सकता ऐसा मानना ही उचित माना जायेगा। अतः जीवन्मुक्ति मान्य है।

संभव है कुछ लोग यहां पर प्रश्न उपस्थित करें कि—कर्म कहते हैं क्रिया को और प्रत्येक क्रिया होता है शीघ्र नष्ट होने वाली। जहां क्रिया की दीर्घता

प्रतीत होती है वहां क्रिया का संतान ही माना जाता है। ऐसी परिस्थिति में प्रारब्ध कर्म को कैसे अतिपरवर्ती भोगकाल तक स्थायी माना जा रहा है ? तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है संचित एवं प्रारब्ध। यद्यपि पापपुण्यात्मक अदृष्ट-गुण किंतु उन्हें कर्म औपचारित रूप से इसलिए कहा जाता है कि वे दुराचरण एवं सदाचरण स्वरूप क्रिया से ही उत्पन्न होते हैं। गुण की अनेक काल स्थापिता में कोई विवाद है नहीं।

मोक्ष के प्रति कारण केवल ज्ञान है या केवल कर्म है, या ज्ञानकर्म-समुच्चय है अर्थात् समुचित रूप में ज्ञान और कर्म दोनों ही मोक्ष के प्रति कारण हैं इसके संबंध में दार्शनिकों के बीच महान् मतभेद पाया जाता है। अतः लोगों को यह संदेह होना स्वाभाविक है कि न्याय-वैशेषिक-सिद्धांत में मोक्ष के प्रति कारण कौन हैं और क्यों वही कारण हैं ? इसलिए दीपिका में यहाँ इसका भी विवेचन किया गया है और निर्णयात्मक रूप में यह कहा गया है कि मोक्ष के प्रति कारण आत्मसाक्षात्कारात्मक ज्ञान ही है।

क्योंकि मोक्ष का साधन उसे ही मानना उचित होगा, जो कि बंधन का निवर्तक हो। जब कि पहले किये गये विचार से यह स्थिर हो चुका है कि शरीर इंद्रिय आदि अनात्मा को आत्मा समझ बैठना स्वरूप मिथ्या ज्ञान अर्थात् भ्रमात्मक ज्ञान के कारण ही आत्मा बद्ध होता है, सांसारिक कहलाता है, तब उस मिथ्याज्ञान की निवृत्ति जिस तत्त्व ज्ञान से होती है उस आत्मतत्व-ज्ञान को ही मोक्ष का कारण मानना उचित है। इसलिए 'तमेवविदितत्वाऽति मृत्युमेति' इस श्रुतिवाक्य में भी आत्मवेदनात्मक ज्ञान को ही मोक्ष का साधन बतलाया गया है। अब यहाँ प्रश्न यह उठ सकता है कि न्याय के प्रवर्त्तक महर्षि अक्षपाद-गौतम और वैशेषिक के प्रवर्तक महर्षि-कणाद तथा यहाँ अभी उक्त श्रुतिवाक्य इन तीनों में प्रकृत विषय पर कैसे मतैक्य बतलाया जा सकता ? क्योंकि महर्षि गौतम ने जहां प्रमाण प्रमेय संशय आदि सोलह पदार्थों के तत्वज्ञान से मोक्ष बतलाया है वहां महर्षि कणाद ने द्रव्य गुण कर्म आदि पदार्थों के तत्त्व ज्ञान से, और 'तमेव विदित्वा' इस श्रुति में केवल आत्मज्ञान से ? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि वैशेषिक-सिद्धांत में आत्मा द्रव्य गुण आदि पदार्थ के अंदर आठवां द्रव्य रूप में परिगणित है और न्याय-सिद्धान्त में प्रमाण प्रमेय आदि पदार्थों के अंदर प्रथम प्रमेय रूप में।

इस प्रकार आत्मतत्त्वज्ञान मोक्ष का साधन है यह निर्विवाद रूप में तीनों के लिए मान्य है। रही बात यह कि महर्षि कणाद ने पृथिवी जल आदि अनात्मद्रव्य एवं गुण कर्म आदि अनात्मपदार्थों के तत्व-ज्ञान को और महर्षि

गौतम ने अनात्मा शरीर इंद्रिय आदि प्रमेय तथा प्रमाण संशय आदि अनात्म पदार्थों के ज्ञान को क्यों मोक्ष का साधन कहा है ? तो इसका कारण यह है कि महर्षि कणाद एवं गौतम दोनों को यह मान्य है कि शरीर इंद्रिय आदि उन अनात्म वस्तुओं को सही रूप में समझे बिना कभी कोई आत्मा को उनसे अतिरिक्त रूप में नहीं समझ सकता ।

जब तक उस रस्सी को जिसे द्रष्टा सांप समझता है रस्सी नहीं समझ लिया जाता है तब तक उस रस्सी में किया जाने वाल 'यह सांप है' यह भ्रम-ज्ञान कटता नहीं । अतः उस शरीर इंद्रिय आदि अनात्मवस्तुओं का ज्ञान भी आवश्यक है जिसे कि आत्मा समझा जाता रहता है । इसलिए महर्षि गौतम ने शरीर इंद्रिय आदि को प्रमेय के अंदर ज्ञातव्य रूप में और महर्षि कणाद ने पृथिवी जल तेज आदि द्रव्यों के अंतर्गत रूप में ज्ञातव्य बतलाया है । महर्षि कणाद ने अन्य पृथिवी जल आदि द्रव्य और गुण आदि को ज्ञातव्य उन शरीर इंद्रिय आदि को सही रूप में अभ्रांत रूप में समझने के लिए बतलाया है क्योंकि जब तक किसी वस्तु के उपादान आदि कारण एवं गुण क्रिया आदि धर्मात्मक स्वभाव की विभिन्नता का परिचय नहीं मिलता तब तक उस वस्तु को सही रूप में समझा जा पाता नहीं । यह युक्ति-संगत बात महर्षि गौतम के लिए भी असमान्य नहीं । महर्षि गौतम ने जो आत्मा शरीर आदि प्रमेयों से अतिरिक्त प्रमाण संशय प्रयोजन आदि अन्य पदार्थों का विवेचन किया है, उन्हें ज्ञातव्य ठहराया है, इसका कारण यह है कि आत्मा तथा अनात्मा शरीर आदि पदार्थों का अपेक्षित तात्विक ज्ञान वादजल्प आदि कथा के बिना संभव नहीं और वे कथाएं प्रमाण संशय प्रयोजन आदि के यथार्थ ज्ञान के बिना संभव नहीं । जब कि आत्मा के स्वरूप के संबंध में दार्शनिकों के अंदर मतैक्य नहीं तब वादजल्प आदि कथा के बिना आत्मा के स्वरूप का निर्णय संभव नहीं यह महर्षि कणाद को भी अमान्य नहीं । अतः ज्ञातव्य वस्तुओं के संबंध में कोई मतभेद प्राप्त होता नहीं । ।।इति।।

—लखनऊ विश्वविद्यालय-प्राच्य विभाग-प्रधान, वेदान्त वागीश-साहित्यालंकार-आनन्द झा, न्यायाचार्य रचित तर्क संग्रह दीपिका-विवरण समाप्तः ।

